भारतीय शिक्षा
तथा
आधुनिक विचारधाराएँ

विद्यावती मलैया

राजकमल प्रकाशन

मूल्य ५.५०

प्रथम संस्करण, सितंबर १९६१

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५७४

विषय-सूची

भाग १

भारतीय-शिक्षा

भाग २

आधुनिक विचारधाराएँ

अध्याय १

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा

अर्थ

सामान्यतः पूर्व-प्राथमिक बालक से अभिप्राय १८ महीने या २ वर्ष से ६ वर्ष की आयुवाले बालक से रहता है। इस दृष्टि से पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के अन्तर्गत नर्सरी तथा किंडरगार्टन, दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त करनेवाले बालकों का समावेश हो जाता है। नर्सरी शालाओं में छोटे बालक तथा किंडरगार्टन शालाओं में ४ या ५ वर्ष तक की आयु के बालक भरती होते हैं। परन्तु आजकल यह अन्तर कम होता जा रहा है, क्योंकि किंडरगार्टन शालाओं में २ से ३ वर्ष की आयुवाले बालक भरती होने लगे हैं। साथ ही नर्सरी शालाओं में भी ५ वर्ष तक की आयु के बालक-बालिकाएँ रहने लगी हैं। अतः अब प्राथमिक शिक्षा की आयु के पूर्व के बालकों की शिक्षा को पूर्व-प्राथमिक शिक्षा कहना ही उचित होगा। भारत में तो इन दोनों प्रकार की शालाओं का अभी आरम्भ ना ही है। भारतीय परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि यहाँ बहुत छोटे बच्चों की शालाओं की अलग से आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो प्राइमरी शालाओं में ही बच्चों की कक्षाएँ जोड़ने से काम चल सकता है। इससे एक तो शिक्षा का व्यय कम हो जायेगा तथा छोटे बच्चों को अपने बड़े भाई-बहनों से अलग पढ़ने भी न जाना पड़ेगा। वे उन्हीं के साथ तथा देख-रेख में शिक्षा पा सकते हैं। हमारे देश में गाँवों की संख्या भी बहुत अधिक है। अनेक गाँव इतने छोटे हैं कि अलग से छोटे बच्चों की शाला के लिए काफी संख्या में बच्चे भी नहीं मिल सकते। कई गाँवों को मिलाकर छोटे बच्चों की शाला स्थापित करने में भी बड़ी कठिनाई है, क्योंकि छोटे बच्चे पैदल चलकर शाला नहीं जा सकते। अतः पूर्व-प्राथमिक शालाएँ शहरों में तो अलग से स्थापित की जा सकती हैं पर गाँवों में इन्हें अलग से स्थापित न करके प्राथमिक या बुनियादी शालाओं में बच्चों की

कक्षाएँ जोड़कर चलाना ही अधिक उपयुक्त होगा। इन कक्षाओं में तीन या इससे अधिक आयु से लेकर ६ वर्ष तक के बच्चे भरती किये जा सकते हैं।

आवश्यकता

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को यूरोप, इंग्लैंड तथा अमेरिका में तो बहुत ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। रूस में किंडरगार्टन, क्रेश तथा नर्सरी शालाओं की बहुत अच्छी तथा प्रचुर व्यवस्था है। पर भारत में अभी इसे इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता है। इधर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद ही इसे उपयोगी तथा आवश्यक माना जाने लगा है। वास्तव में यह भारतीय जनता का दुर्भाग्य है कि बालक की सबसे महत्त्वपूर्ण आयु, जिसमें सरलता से छाप अंकित की जा सकती है, प्रायः अज्ञान के कारण उपेक्षित रह जाती है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का संसार के सभ्य देशों में प्रसार होने के निम्न कारण हैं :

१. इस आयु के बालकों की संख्या का अधिक होना।
२. एक बालकवाले कुटुम्बों की संख्या में वृद्धि।
३. कुटुम्बों में माँ का प्रमुख होकर काम में अधिक व्यस्त रहना।
४. माँ का दिन के अधिक समय तक घर के बाहर काम पर रहना।
५. मनोवैज्ञानिक तथा शरीर-विज्ञानवेत्ताओं की खोजों से इस आयु का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण निरूपित होना।
६. नर्सरी तथा किंडरगार्टन शालाओं की अच्छी व्यवस्था से समाज को इनके महत्त्व तथा उपयोगिता का ज्ञान होना। इससे समाज सभी बालकों को इससे लाभान्वित करने की बात सोचने लगा।

महत्त्व

संसार के सभ्य देशों में भी पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का महत्त्व बहुत देर से मान्य किया गया। इसी लिए इसका इतिहास २०० या ३०० वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। वैसे तो १६वीं शताब्दी में ही कमीनियस ने बच्चों की शाला की उपयोगिता बतलाई थी। पर इसकी प्रगति पिछले १०० वर्षों में ही अधिक हुई है।

व्यक्ति के जीवन में, उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से, आरम्भ के ६

वर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्रथम ६ वर्ष न केवल उसके शारीरिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हैं वरन् उसके मानसिक, संवेगात्मक तथा भावात्मक विकास की दृष्टि से भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। शरीर-विज्ञान-शास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिकों के शोध-कार्यों से भी इन तथ्यों की सफलता का प्रतिपादन होता है। ब्रेकनरिज तथा विन्सेंट ने इसी लिए लिखा है कि बच्चे प्रथम पाँच वर्षों में अपने शेष सम्पूर्ण जीवन की अपेक्षा अधिक सीखते हैं। गेसेल (Gesell) का भी कथन है कि व्यक्ति के विकास के अपूर्व, अनोखे तथा महत्त्वपूर्ण पक्ष उसके जीवन के प्रथम पाँच वर्षों में केन्द्रित रहते हैं। जरसील्ड महोदय तथा उनके साथी भी मानते हैं कि छः वर्ष की आयु तक बालक मानव के जीवनकाल में होनेवाले अधिकांश महत्त्वपूर्ण अनुभवों से परिचित हो जाता है। मानव-विकास-सम्बन्धी प्रयोगों तथा शोध-कार्यों से भी यह सिद्ध हो चुका है कि बालक के प्रथम पाँच या छः वर्ष उसके व्यक्तित्व के विकास में बड़े प्रभावशाली तथा महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसके कारण ही वह सुसमंजित (adjusted) या विघटित (असमंजित) जीवन व्यतीत करता है।

संसार के प्रायः सभी विद्वान् इस मत से सहमत हैं। इसी लिए इस आयु के बालकों की उचित शिक्षा-व्यवस्था की ओर अब अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास

वैसे तो प्लेटो ने सामुदायिक नर्सरी की स्थापना बालकों के उचित विकास के लिए उपयोगी बतलाई थी तथा आदर्श राज्य के लिए इसे आवश्यक माना था पर कमीनियस (१५९२-१६७०) ही छोटे बच्चों की शाला खोलने के विचार का प्रारम्भकर्ता समझा जाता है। कमीनियस के बाद लाक (१६३२-१७०४) ने बालकों की आदतें डालने के लिए प्रारम्भ से ही उपयुक्त प्रशिक्षण को महत्त्वपूर्ण बतलाया। रूसो (१७१२-१७७८) ने बालक की स्वतन्त्रता तथा उन्मुक्त क्रिया-कलाप को महत्त्वपूर्ण माना तथा पेस्टालाजी (१७४६-१८२७) ने शिक्षण-विधि में सुधार किया।

सबसे प्रथम नर्सरी स्कूल १७६९ में ओवरलीन ने फ्रांस के वास्जेस

(Walbach) नगर में खोला। इसके लगभग ४७ वर्ष बाद स्काटलैंड में नर्सरी शाला खोली गई। फ्रोबेल (१७८२-१८५२) ने किंडरगार्टन शालाएँ खोलीं तथा इसके बाद तो यूरोप, इंग्लैंड तथा अमेरिका में, १९वीं सदी के अन्तिम चरण में, नर्सरी तथा किंडरगार्टन शालाओं का प्रचलन हुआ। रूस में श्रमिक समाज अधिक होने तथा अधिक संख्या में महिलाओं के बाहर काम पर जाने के कारण किंडरगार्टन, क्रेश तथा नर्सरी शालाओं का बहुत अधिक विकास हुआ है।

प्रारम्भ में नर्सरी तथा किंडरगार्टन शालाएँ समाज के उच्च वर्ग के बच्चों के लिए ही खोली जाती थीं तथा यह समझा जाता था कि ये शालाएँ उच्चवर्ग के बच्चों के लिए ही हैं। अमेरिका में तो सन् १९३३ तक यह विचार प्रचलित रहा। वहाँ १९३३ में फेडेरल इमरजेन्सी रिलीफ एडमिनिस्ट्रेशन ने समाज के निम्न-वर्ग के लोगों के लिए भी नर्सरी शालाएँ खोलने के नियम बनाये। द्वितीय महायुद्ध में नर्सरी तथा किंडरगार्टन शालाओं की संख्या अधिक बढ़ी। और जब मांटेसरी शालाएँ भी खुलीं तो संसार के अनेक देशों में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा में एक कड़ी और जुड़ गई। परन्तु मांटेसरी शालाएँ महँगी होने के कारण इनका प्रचार धनी देशों में ही अधिक हुआ।

भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का इतिहास बहुत अर्वाचीन है। प्राचीन तथा मध्यकाल में कुटुम्ब तथा मन्दिर या मस्जिद आदि ही इस जिम्मेदारी को पूर्ण करते थे। आज भी अनेक कारणों से भारतीय कुटुम्ब ही इस शिक्षा की जिम्मेदारी वहन कर रहा है। भारत में सन् १९५०-५१ तक पूर्व-प्राथमिक शालाओं की संख्या, जिनमें पूर्व-बुनियादी शालाएँ भी सम्मिलित हैं, २७ ही थीं। सन् १९५१-५२ में यह संख्या ३३ हो गई। पूर्व-प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी बहुत नगण्य थी। ऐसी प्रशिक्षण संस्थाएँ बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और मैसूर में ही थीं। मांटेसरी विधि का ४ महीने का प्रशिक्षण मांटेसरी इण्टरनेशनल असोसियेशन की ओर से हैदराबाद में होता था। इसके बाद पूर्व-प्राथमिक तथा पूर्व-बुनियादी शालाओं की अच्छी प्रगति हुई। सन् १९५३-५४ में इनकी संख्या ४२६ हो गई। इनमें से ११ प्रतिशत शालाएँ सरकारी, ३·१ प्रतिशत गैर-सरकारी स्वायत्त संस्थाओं की, तथा शेष ८५·९ प्रतिशत शालाएँ सहायता प्राप्त निजी संस्थाओं द्वारा चलाई जाती थीं। इन सभी में छात्रों

की कुल छात्रसंख्या ४२,७५१ (२२,९१९ बालक तथा १९,८३२ बालिकाएँ) थी। इन शालाओं पर कुल व्यय १६,८९,३०० रुपये था।

सन् १९५३ में केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की सिफारिशों के आधार पर बच्चों की शिक्षा की एक अखिल भारतीय समिति का गठन किया। इस समिति की प्रथम बैठक २८ तथा २९ अप्रैल सन् १९५३ को दिल्ली में हुई। इसकी सिफारिशें केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के समक्ष अगली बैठक में रखी गईं।

सन् १९५४-५५ में पूर्व-प्राथमिक शालाओं की संख्या ५१३ हो गई तथा ५५-५६ में बढ़कर ६३०। पुराने मध्यप्रदेश में भी जबलपुर तथा नागपुर में महिलाओं के लिए पूर्व-प्राथमिक मांटेसरी प्रशिक्षण संस्थाएँ अक्तूबर १९५४-५५ में खोली गईं। सन् १९५३-५४ में पुराने मध्यप्रदेश के पचमढ़ी में मांटेसरी अध्यापन मन्दिर पूर्व-प्राथमिक शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण के लिए खोला गया था। इसके साथ-साथ बम्बई तथा मद्रास में भी एक-दो प्रशिक्षण संस्थाओं का विकास हुआ। पर सामान्यतः स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन न हुआ।

भारत में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकास के बाधक कारण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के विकसित न हो सकने का सबसे बड़ा बाधक कारण अंग्रेजी शासन की इस ओर उपेक्षा रहा है। अंग्रेजी शासन की उपेक्षापूर्ण नीति के साथ-साथ भारतीय जनता की गरीबी भी इसका दूसरा कारण रहा है। गरीबी के कारण जनता अपने बड़े बच्चों को ही शालाओं में नहीं भेज सकती थी तो छोटे बच्चों को भेजने का प्रश्न कहाँ उठता था!

इसका तीसरा कारण भारतीय जनता का अज्ञान तथा अशिक्षित होना भी था। अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण वे बालक के जीवन के इन प्रथम छः वर्षों के महत्त्व से परिचित न थे तथा बालकों की शिक्षा के प्रति उन्हें कोई रुचि न थी।

भारतीय पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का चौथा बाधक कारण भारत के गाँवों की अधिकता है। गाँव संख्या में अधिक होने के साथ-साथ इतने छोटे हैं कि स्वतन्त्र शाला इनमें चल ही नहीं सकती है।

इसका पाँचवाँ कारण भारतीय माँ का अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक

लाड़-प्यार भी है। इस लाड़-प्यार के कारण वे यह सहन नहीं कर सकतीं कि उनके इस उत्तरदायित्व को कोई और वहन करे। इतना ही नहीं, वे ऐसा मानती हैं कि उनसे अधिक अच्छी तरह अन्य कोई इस कार्य को कर नहीं सकता।

छठवाँ कारण पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का महँगा होना है। प्राथमिक-शिक्षा से भी अधिक खर्चीली पूर्व-प्राथमिक शिक्षा अभी तक रही है। अतः इसे केवल उच्च-वर्ग के बच्चों के योग्य ही समझा गया है। अब भी यदि इसे, पूर्व-बुनियादी के समान, सस्ता नहीं किया जायेगा तो भारत में माटेसरी, किंडरगार्टन आदि विधियों का प्रचार देश के उच्च वर्ग तक ही सीमित रहेगा।

पूर्व-प्राथमिक शिक्षा-प्रसार के उपाय

१. इसे सस्ता बनाया जाये। सस्ता बनाने के लिए इसे माटेसरी या किंडरगार्टन विधियों के पदचरणों पर चलाने की अपेक्षा पूर्व-बुनियादी के ढाँचे में ढाला जाये।

२. जनता को शिक्षित करके बालक के प्रथम पाँच या छः वर्षों के महत्व को समझाया जाये।

३. गाँवों में तथा आस-पास के आवागमन के साधनों को सुधारकर गाँवों के जीवन को सरल, मधुर तथा उन्नत बनाया जाये। इससे पूर्व-प्राथमिक शालाओं की शिक्षिकाएँ गाँवों में रहना पसन्द करेंगी।

४. पूर्व-प्राथमिक शिक्षिकाओं को गाँवों में रहने के लिए आवास आदि की सुविधाएँ दी जायें। उनका वेतन तथा सेवा की शर्तें भी आकर्षक बनाई जायें।

५. स्वायत्त शासन संस्थाओं को बाल-मन्दिर खोलने के लिए प्रेरित किया जाये।

६. बाल-मन्दिरों को प्राथमिक शाला तथा गाँव के शिशु-कल्याण-केन्द्र से संलग्न किया जाये। ये तीनों प्रायः एक ही जगह स्थापित होना चाहिए। ऐसा करने से खर्च भी कम पड़ेगा।

७. प्रशिक्षण के लिए शहरों की अपेक्षा गाँवों की पढ़ी-लिखी महिलाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाये, जिससे वे जाकर अपने गाँवों में बाल-मन्दिरों का कार्य कर सकें।

८. पहिले शहरों तथा बाद में गाँवों में इसका अधिक प्रसार किया जाये।
९. महिलाओं की शिक्षा की सुविधा-व्यवस्था अच्छी तथा अधिक की जाये। इससे उनकी दशा सुधरेगी। महिलाओं की दशा सुधारना पूर्व-प्राथमिक शिक्षा-विकास के लिए आवश्यक है।
१०. पूर्व-प्राथमिक शिक्षा पूर्ण निःशुल्क हो।
११. लिखने पढ़ने की ओर अधिक ध्यान न देकर सामाजिक अनुभव, भोजन करने, सोने, स्वच्छ हवा में घूमने-खेलने आदि की स्वस्थ आदतों के विकास की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

मध्यप्रदेश में पूर्व-प्राथमिक शिक्षा

मध्यप्रदेश में छः वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं को सामाजिक शिक्षा तथा खेल-कूद के माध्यम से उपयोगी और स्वस्थ आदतों के निर्माण के लिए पूर्व-प्राथमिक शालाओं की स्थापना को प्रोत्साहित किया जा रहा है।

सन् १९५६ तक राज्य में केवल ९६ पूर्व प्राथमिक शालायें थीं। अब इनकी संख्या १६९ हो गई है। इस शिक्षा के प्रसार के लिए कम शुल्क लेने की व्यवस्था भी की गई है। राज्य में इस शिक्षा के लिए महिलायें ही उपयुक्त समझी गई हैं। अतः इन्हीं को शिक्षिका का कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इनके उचित प्रशिक्षण के लिए जबलपुर में एक शासकीय पूर्व-प्राथमिक माँटेसरी प्रशिक्षण संस्था सन् १९५५-५६ से चल रही है। इसके सिवाय इन्दौर में भी एक अशासकीय प्रशिक्षण संस्था बाल-निकेतन चल रही है।

राज्य की पूर्व-प्राथमिक शालाओं का निरीक्षण तथा निर्देशन सहायक जिला शाला निरीक्षिकाओं द्वारा होता है। राज्य की विभिन्न इकाइयों की पूर्व-प्राथमिक शालाओं में जो विभिन्न पाठ्यक्रम चल रहे थे उनका एकीकरण १९६०-६१ सत्र से किया जा रहा है। इसी प्रकार पूर्व-प्राथमिक प्रशिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रम के एकीकरण का सुझाव देने के लिए एक विशेषज्ञ समिति गठित की गई थी। इसने स्वीकृत पाठ्यक्रम तैयार कर लिया है। परीक्षा-प्रणाली का एकीकरण भी हो गया है।

राज्य ने निजी प्रयासों से पूर्व-प्राथमिक शिक्षा का विकास करने की नीति

अपनाई है। इस हेतु आर्थिक अनुदान देने के नियम भी बनाये गए हैं, जिनकी प्रमुख बातें निम्न हैं :

१. प्रशिक्षित शिक्षिकाओं पर किये गए व्यय का ९० प्रतिशत तथा अप्रशिक्षित शिक्षिकाओं पर किये गए व्यय का ३३ प्रतिशत;
२. आकस्मिक व्यय के हेतु प्रत्येक शाला के लिए दो सौ रुपए; और
३. शाला के लिए उपकरण आदि पर किये गए व्यय का ७५ प्रतिशत शासन की ओर से अनुदान के रूप में दिया जाता है।

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक शिक्षा से साधारणतः शिक्षा-काल के प्रथम ५, ६ या ७ वर्षों की शिक्षा का तात्पर्य ही समझा जाता है। विभिन्न देशों में आवश्यकता, तथा सुविधानुसार इसकी अवधि भिन्न-भिन्न रहती है। एक ही देश में विभिन्न समयों में प्राथमिक शिक्षा की अवधि भी भिन्न-भिन्न रहती है। इस अवधि में बालक-बालिका को प्रारम्भिक आवश्यक ज्ञान देने की व्यवस्था रहती है।

प्राचीन भारत में प्राथमिक शिक्षा

भारत की प्राथमिक शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वैदिक-साहित्य के अतिरिक्त सूत्र-ग्रन्थों आदि में भी ब्राह्मण विद्यालयों का ही उल्लेख मिलता है। भारतीय समाज-संगठन का आधार मनु की समाज व्यवस्था ही है, जिसके अनुसार वर्णों की व्यवस्था की गई थी। इसमें वैश्यों के लिए व्यापार, नाप-जोख आदि कार्य निश्चित किये गए थे। इन कर्त्तव्यों का ज्ञान विधिवत शिक्षा द्वारा दिया जाता था या कुटुम्ब में ही, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। पर 'के' महोदय ने अपनी पुस्तक 'Indian Education in Ancient and Later Times' में लिखा है कि "मनु के बहुत पूर्व भी भारत में लिखना-पढ़ना प्रचलित था।" भारत में लिखना तो प्रागैतिहासिक काल से प्रचलित रहा है, क्योंकि प्राचीनतम मिट्टी के बर्तनों आदि पर ब्राह्मी लिपि की लिखावट मिलती है। मोहन-जो-दड़ो से भी लिपियुक्त सामग्री मिली है। ईसा पूर्व ४५० के लगभग की एक बौद्ध मुद्रा से भी बालकों के खेलों का विवरण पाया गया है। इनमें एक खेल "अक्खरिका" है जो बालू या साथी की पीठ पर अक्षरों को बनाकर पहिचानने की विधि द्वारा खेला जाता था। इससे यह पता चलता है कि उस काल में भी लिखना-पढ़ना भारत में प्रचलित था। भारत का अन्य देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल

से रहा है। हिसाब-किताब तथा लिखना-पढ़ना व्यापार का आवश्यक अंग है। मेगास्थनीज आदि विदेशी यात्रियों के विवरण से भी यह पता चलता है कि भारत में बहुत प्राचीन काल में भी लिखने-पढ़ने की शिक्षा व्यवस्था रही है। पर यह शिक्षा किस विधि से दी जाती थी इसके सम्बन्ध में स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। हो सकता है कि यह शिक्षा व्यापार से सम्बद्ध होकर अनौपचारिक रूप से दी जाती रही हो या इसके लिए व्यापारियों द्वारा अलग से प्राथमिक शालाएँ स्थापित की गई हों।

ब्राह्मण-शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा को स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त न थी, क्योंकि यह उच्च धार्मिक शिक्षा से ही संलग्न रही है। साथ ही ब्राह्मण-शिक्षा मौखिक ही रहती थी। अतः ब्राह्मण उच्च धार्मिक शिक्षा से संलग्न प्राथमिक शिक्षा भी मौखिक ही रही होगी। इस काल में प्राथमिक-शिक्षा के रूप में वैदिक मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण, स्वर, मात्रा सधि आदि मौखिक उच्चारण के विभिन्न अवयवों का समुचित ज्ञान कराया जाता था।

वैसे तो ईसा के १००० वर्ष पूर्व ही भारत में लेखन-कला का प्रचार हो चुका था, पर चूँकि वैदिक मंत्र ईश्वरीय वाक्य कहे जाते थे, अतः इनके लिपिबद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया। फलस्वरूप ब्राह्मण-काल में वेदमंत्रों, व्याकरण, छन्द आदि की शिक्षा मौखिक ही रही।

उपनिषद काल में व्यक्तिवाद का प्रभाव अधिक रहा। अतः प्राथमिक शिक्षा का इस काल में समुचित विकास हुआ। छान्दोग्य उपनिषद में एक राजा के कथन का उल्लेख है, "मेरे राज्य में कोई भी निरक्षर नहीं है।" इससे पता चलता है कि उपनिषद-काल में प्राथमिक शिक्षा का समुचित प्रसार रहा होगा।

डा० अल्तेकर के अनुसार तो सूत्र काल में ८० प्रतिशत भारतीय साक्षर रहे होंगे। सूत्र-काल में वैश्य, ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य किया गया था। इसके परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा का बहुत अधिक प्रसार इस काल में अवश्य हुआ होगा।

बौद्ध-काल में प्राथमिक शिक्षा का विकास और भी अधिक हुआ, क्योंकि इस काल में लोकतन्त्रात्मक भावनाओं का प्राबल्य रहा। बौद्धधर्म बोलचाल की

भाषा तथा सद्‌जनों के विकास को प्रश्रय देता था। अतः स्वाभाविक ही था कि इस काल के विहार और मठ शिक्षा-केन्द्रों में परिणत हों। अशोक के शिला-लेखों से पता चलता है कि ईसा पूर्व तीसरी सदी में जनता काफी संख्या में शिक्षित रही होगी। मौर्य-काल में देश में शान्ति तथा उन्नति रही। अतः शिक्षा की ओर जनता का ध्यान भी अवश्य जाना चाहिए। व्यापार आदि से भी शिक्षा को प्रश्रय मिला होगा। डा० अल्तेकर महोदय का कथन है कि भारत में ईसापूर्व दूसरी सदी में प्राथमिक शिक्षा ने स्वतन्त्र रूप ले लिया था तथा अक्षर-ज्ञान की शिक्षा बालकों को दी जाती थी।

पर जैसा कि डा० अल्तेकर महोदय ने कहा है पाँचवीं सदी के लगभग उपनयन संस्कार की अनिवार्यता न रही तथा स्त्रियों पर अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध लगाने लगे। शूद्रों को तो खुले रूप से शिक्षा-प्राप्ति की स्वतन्त्रता रही ही नहीं थी। अतः इस काल में भारत में प्राथमिक शिक्षा का ह्रास होने लगा। डा० अल्तेकर महोदय के अनुसार इस काल में साक्षरता लगभग ४० प्रतिशत रही होगी जब कि सूत्र-काल में यह लगभग ८० प्रतिशत थी।

भारतीय प्राथमिक शिक्षा का यह ह्रास-क्रम चलता ही रहा तथा ८०० से १२०० ई० की अवधि में तो इसकी दशा बहुत ही शोचनीय हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि बारहवीं सदी के अन्त में भारत में केवल १० प्रतिशत से अधिक प्राथमिक शिक्षा का प्रचार न रहा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में प्राथमिक शिक्षा की स्वतन्त्र सत्ता उपनिषद्-काल में ही स्थापित हुई होगी। बौद्ध-काल में इसमें सांसारिक तथा भौतिक विषयों का समावेश होने लगा था। वैदिक-काल में प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप व्यावहारिक तथा धार्मिक ही रहा होगा। पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सन् ४०० तक शिक्षा की व्यवस्था राज्य की ओर से नहीं की जाती थी। वैयक्तिक रूप से ही शिक्षक शिक्षा दिया करते थे तथा समाज इन शिक्षकों का भरण-पोषण करता था। पाँचवीं सदी के बाद कुछ शासकीय संस्थाएँ अवश्य स्थापित हुईं पर इनमें उच्च शिक्षा की व्यवस्था ही अधिक होती थी। कहीं-कहीं धनी-मानी व्यक्ति भी पाठशालाएँ स्थापित करते थे। कहीं-कहीं छात्र आदि के खर्च में भी कर लगाने की व्यवस्था भी थी। इन प्राचीन पाठशालाओं

में गाँव के पुरोहित ही शिक्षक का काम करते थे। ये प्राथमिक शालाएँ बहुधा मन्दिर आदि से संलग्न होती थीं। इन शिक्षकों के निर्वाह के लिए मन्दिर से संलग्न जमीन आदि की आमदनी का उपयोग भी किया जाता था। श्री जान मथाई ने अपनी पुस्तक 'Village Government in British India' में लिखा है कि "इन ग्रामीण शालाओं का इतिहास ग्राम-समुदाय से संलग्न है तथा इन पाठशालाओं का उद्भव उतना ही प्राचीन है, जितना कि ग्राम-समुदाय का।" पर अनेक विद्वानों का विचार है कि प्राथमिक शालाओं का विकास ग्राम-समुदाय के विकास के बाद में हुआ। भारतीय ग्राम-समुदाय के विकास के विभिन्न कारण हैं पर यह तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि भारतीय प्राथमिक शालाएँ, अधिकांशतः निजी तथा गैर-सरकारी होती थीं, इनके खर्च आदि की व्यवस्था समाज करता था तथा ये लोकतन्त्रात्मक होती थीं; साथ ही ये व्यावसायिक ही अधिक होती थीं, धार्मिक कम।

मध्यकाल में भारतीय प्राथमिक शिक्षा

मध्यकाल में भारतीय प्राथमिक शिक्षा का स्वरूप प्राचीन काल के समान ही रहा। हाँ, भारत में मुसलमानों के आ जाने से मुसलमान बच्चे मस्जिदों से संलग्न मकतबों में पढ़ने जाते थे तथा हिन्दू बच्चे मन्दिरों से संलग्न पाठशालाओं में शिक्षा प्राप्त करते थे। इस काल में भारतीय शिक्षा सम्राट् तथा राजाओं की व्यक्तिगत विशेषताओं से पूर्णतः प्रभावित रही तथा राज्य की ओर से आर्थिक सहायता पर निर्भर करती थी। जमींदार तथा धनी व्यक्ति भी शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता देते थे। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस काल में सर्वसाधारण की प्राथमिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। फलस्वरूप शिक्षित व्यक्तियों की संख्या दिन-पर-दिन घटती जाती थी।

मध्यकाल में संसार के प्रायः सभी देशों में धर्म तथा चर्च या मन्दिर का प्रभाव कम होने लगा था। मशीनों का आविष्कार होने लगा था। फलतः भौतिक दृष्टिकोण शिक्षा में भी आने लगा था। भारतीय शिक्षा में भी इस भौतिक शिक्षा के महत्त्व के कारण लौकिक विषयों की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। पाठ्यक्रम में जीवनोपयोगी नये-नये विषयों का समावेश होने लगा था। प्राथमिक शिक्षा में मानीटोरियल विधि का भी उपयोग होने लगा था

क्योंकि कक्षा में बालकों की संख्या बहुत होने लगी थी तथा लौकिक विषयों के ज्ञान पर अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण गुरु-शिष्य सम्पर्क धार्मिक शिक्षा के समान इतना अधिक तथा घनिष्ठ होना आवश्यक नहीं था। देश में राजनैतिक तथा धार्मिक हलचल के कारण शिक्षालयों की व्यवस्था भी गड़बड़ाने लगी थी जिससे अनुशासन की समस्याएँ उपस्थित होने लगीं। फलस्वरूप मार-पीट को अधिक प्रोत्साहन दिया जाने लगा। पर फिर भी यह कहा जा सकता है कि शिक्षा सर्वथा निष्प्राण नहीं हुई थी, उसमें जीवन था जो राजनैतिक, धार्मिक, तथा आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप भी शिक्षा-व्यवस्था को प्रायः ज्यों-का-त्यों रखे था। इसलिए 'के' महोदय ने लिखा है कि "संसार के बहुत कम राष्ट्रों ने, तथा पश्चिम के तो किसी भी राष्ट्र ने, ऐसी शिक्षा-व्यवस्था का विकास नहीं किया था जैसी कि भारतीय शिक्षा-व्यवस्था थी और जिसका इतना लम्बा इतिहास हो तथा जो इतने लम्बे समय तक, इतने कम परिवर्तनों के साथ जीवित रहे। इतनी लम्बी सदियों के जीवन से यह प्रतीत होता है कि इस शिक्षा में कुछ मूल्यवान तत्त्व अवश्य थे तथा वे उस समाज की आवश्यकताओं के उपयुक्त थे जिसने उनका विकास किया था।"

अंग्रेजी शासन-काल में भारतीय प्राथमिक शिक्षा

मुगल-काल से ही यूरोपियों का आगमन भारत में व्यापार के लिए होने लगा था। १६वीं तथा १७वीं शताब्दी में फ्रांसीसियों, पुर्तगालियों, डचों, इंग्लैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा डेन लोगों ने अपनी कम्पनियों में कार्य करनेवाले कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए शालाएँ स्थापित की थीं। इनके साथ-साथ मिशनरियों ने भी भारतीयों के बच्चों के लिए प्राथमिक शालाएँ खोलीं।

यूरोपीय कम्पनियों तथा मिशनरियों के प्रयत्न

इन मिशनरियों की प्रेरणा से इंग्लैंड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने, जो धीरे-धीरे अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही थी, भारतीयों की शिक्षा के लिए शालाएँ खोलीं। सन् १७८४ में तंजौर के रेज़ीडेन्ट सालीवार ने उच्च जाति के बच्चों की शिक्षा के लिए एक योजना प्रस्तुत की। इसे सन् १७८७ में कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने मंजूर किया तथा अंग्रेजी, गणित, तामिल, हिन्दी और ईसाई मत की शिक्षा के लिए १०० पौण्ड प्रति शाला प्रति वर्ष व्यय के लिए

मंजूर किया। इस काल में कुछ निजी प्रयत्नों के अतिरिक्त अन्य जो भी प्रयत्न किये गए वे उच्च शिक्षा की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण थे।

१८१३ का एक्ट

इसके बाद भारतीय शिक्षा के इतिहास में १८१३ का एक्ट ही महत्त्वपूर्ण है, जिसके अनुसार कम्पनी को भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व वहन करने तथा उनकी शिक्षा पर एक लाख रुपये व्यय करने का आदेश दिया गया। पर सन् १८२३ तक इस दिशा में कोई कार्य न हो सका क्योंकि एक लाख रुपयों की धनराशि को व्यय करने के लिए जो लोक शिक्षा-समिति बनी थी उसमें दो दल हो गये। एक दल प्राच्य शिक्षा को प्रोत्साहन देना चाहता था तथा दूसरा दल पाश्चात्य शिक्षा को।

१८३० का नीति-पत्र

१८३० में कम्पनी के संचालकों ने गवर्नर जनरल के नाम एक नीति-पत्र भेजा। इसके अनुसार भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा देना तथा पाश्चात्य विज्ञान का ज्ञान देना हितकर माना गया। इसके अनुसार परिमित भारतीयों को शिक्षा देने का सुझाव भी था। इसका फल यह हुआ कि सार्वजनिक शिक्षा का प्रश्न टलता ही गया।

लार्ड मैकाले की अल्पाधार नीति

एक लाख रुपयों के व्यय के झगड़े का निपटारा करने तथा जाँच करके उस धन-राशि का उचित व्यय करने के हेतु सुझाव देने के लिए लार्ड मैकाले को इस लोक शिक्षा-समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् १८३५ में इस विवाद को शान्त करने के लिए लार्ड मैकाले ने एक नई शिक्षा नीति का श्रीगणेश किया। इस नीति के फलस्वरूप पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के प्रसार तथा परिमित संख्या में भारतीयों को शिक्षित करने की अल्पाधार की नीति को मान्य किया गया। भारतीयों ने इसका विरोध किया पर कोई लाभ न हुआ तथा प्राथमिक शिक्षा की कोई विशेष प्रगति न हो सकी। लेकिन अंग्रेजी शिक्षा का विकास अवश्य हुआ क्योंकि १८३७ में अंग्रेजी राज्य-भाषा घोषित की गई तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को अच्छी नौकरियाँ दी गईं। इस प्रकार अल्पाधार की नीति के आधार पर सन् १८५४ तक शिक्षा का कार्य चलता रहा। १८५४ तक के इस काल को हम प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा का काल कह सकते हैं।

इस काल में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार न हो सकने के निम्न कारण थे

१९वीं सदी के प्रथम ५० वर्षों में प्राथमिक शिक्षा का विकास न होने के कारण

१. कम्पनी का ध्यान अंग्रेजी की शिक्षा को प्रोत्साहन देने की ओर ही रहा।
२. स्थानीय देशी शालाओं की उपेक्षा की गई।
३. अल्पाधार की नीति के कारण समाज के कुछ उच्च वर्ग के लोगों को ही शिक्षित करना श्रेयस्कर समझा गया।
४. जनता की आर्थिक दशा गिरती ही गई तथा उसके सुधार के कोई प्रयत्न न किये गए। फलतः जनता प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करने में असमर्थ रही।
५. देश की आय का केवल ०·८८ प्रतिशत ही शिक्षा पर व्यय किया जाता था। इतना ही नहीं, इसका अधिकांश भाग उच्च माध्यमिक शिक्षा पर व्यय हो जाता था।
६. अंग्रेजी शासन ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए केन्द्रीकरण करना अधिक उपयोगी समझा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण शिक्षा के रूप में प्राथमिक शिक्षा उपेक्षित ही रह गई।

इन सब कारणों का परिणाम यह हुआ कि भारत, जो शिक्षा के क्षेत्र में अग्र राष्ट्रों की अपेक्षा आगे समझा जाता था, धीरे धीरे पिछड़ता गया तथा कालान्तर में वह एक पिछड़ा हुआ देश ही माना जाने लगा। इस नीति का दुष्परिणाम भारत आज भी भोग रहा है।

१८५४ के वुड शिक्षा महाविधान में भी, जो कि उस काल का एक महत्वपूर्ण प्रपत्र कहलाता है, इस बात का उल्लेख किया गया कि अभी तक

१८५४ का वुड शिक्षा-महाविधान

भारतीयों की उपयोगी तथा व्यावहारिक शिक्षा की उपेक्षा ही की गई है तथा इस ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इस महाविधान में शिक्षा-विभाग की स्थापना, क्रमवार राजकीय विद्यालयों की स्थापना, आर्थिक अनुदान की व्यवस्था आदि के द्वारा प्राथमिक शिक्षा के विकास के प्रयत्न किये जाने के उल्लेख थे। शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करने की

	१८८१–८२	१९०२	१९१०–११
प्राथमिक शालाओं की संख्या	८२,९१६	९३,६०४	१,१८,२६२
बालक-बालिकाओं की संख्या	२०,६१,५४१	३०,७६,६७१	४८,०६,७३६

इस प्रकार हम देखते हैं कि १८८१-८२ से १९०२ तक के बीच से १९०२ से १९१०-११ तक की अवधि के बीच प्राथमिक शालाओं की संख्या प्रायः दुगुनी हो गई।

प्राथमिक शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए लार्ड कर्जन ने शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था, पाठ्यक्रम में सुधार करके कृषि, वस्तुपाठ, किंडरगार्टन प्रणाली का उपयोग, शारीरिक शिक्षा आदि जोड़ने तथा आर्थिक अनुदान परीक्षा-फल के आधार पर देने की प्रथा को बन्द करने तथा इसके लिए एक सुदृढ़ तथा उपयोगी संगठन बनाने सम्बन्धी कार्य किये।

लार्ड कर्जन के सुधारों के फलस्वरूप १९०५ से १९१२ तक की अवधि में प्राथमिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई। पर इसके बाद सरकारी नीति प्राथमिक शिक्षा के स्तर को सुधारने की ओर ही केन्द्रित हो गई।

१९०२ से १९२१-२२ तक

इसका परिणाम यह हुआ कि प्राथमिक शिक्षा की परिमाणात्मक प्रगति बहुत ही मन्द हो गई। इस अवधि में बड़ौदा में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू की गई तथा श्री गोखले और अन्य भारतीय नेताओं ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के अनुकरणीय प्रयत्न किये। श्री गोखले का सन् १९१० में केन्द्रीय विधान सभा में अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव तथा १९११ में पुनः उसका दुहराना और इसके लिए जो विचार उन्होंने व्यक्त किये वे तो देश के प्राथमिक तथा अनिवार्य शिक्षा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखे जाने योग्य हैं।

श्री गोखले तथा अन्य भारतीय नेताओं के अत्यधिक दबाव डालने के फलस्वरूप १९१३ का प्रस्ताव पास किया गया, जिसके अनुसार प्राथमिक शिक्षा के स्तर को सुधारने के प्रयत्न ही अधिक किये गए हालाँकि प्रस्ताव में यह कहा गया था कि "भारत सरकार की यह आकांक्षा तथा आशा है कि निकट भविष्य में सार्वजनिक प्राथमिक शालाओं की संख्या १,००,००० से बढ़कर १,९१,००० हो जायेगी तथा इन शालाओं में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या ४२,५०,०००

में बढ़कर दुगुनी हो जायेगी।" पर यह आकांक्षा फलीभूत न हो सकी। यह अनुभव किया गया कि इस प्रस्ताव के अनुसार बम्बई, पंजाब, यू. पी. मध्यप्रान्त, आसाम, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में प्राथमिक शिक्षा बोर्डों के हाथ में सौंप दी गई। इस कार्यकाल में अनेक प्रान्तों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून भी पास किये गए। पर फिर भी बीसवीं सदी के प्रथम चरण में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति बहुत ही कम हुई। संख्या तथा स्तर-सुधार दोनों ही दृष्टियों से शिक्षकों के वेतन तथा पाठ्यक्रम में भी सुधार इस काल में न किया जा सका। हाँ, प्राथमिक शालाओं के लिए भवन-निर्माण तथा अन्य सामान दिये जाने के सम्बन्ध में कुछ प्रगति अवश्य हुई। गतिहीनता तथा व्यर्थता के आँकड़े भी प्रायः वैसे ही रहे।

भारत में इस काल में निम्न तीन कानून उत्तरदायी शासन के विकास के हेतु पास किये गए:

१९२१ से १९४७ तक
(१) १९१९ का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट
(२) १९३५ का गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट
(३) इण्डियन इण्डिपेंडेंस एक्ट १९४७

प्रथम कानून ने भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना की, द्वितीय ने प्रान्तीय शासन में पूर्ण स्वशासन दिया तथा तृतीय ने भारत को पूर्ण स्वतंत्रता दी।

१९१९ के एक्ट के अनुसार प्रान्तों में दोहरा शासन प्रारम्भ हुआ। शिक्षा तथा कुछ अन्य विषय प्रान्तीय मंत्रियों को सौंपे गए। इससे प्राथमिक शिक्षा तथा अनिवार्य शिक्षा को नया आरम्भ मिला, पर शिक्षा-विभाग में पुराने आई. ई. एस. लोगों के कारण शिक्षा-प्रसार में बड़ी अड़चनें आती थीं। हालाँकि १९२४ में आई. ई. एस. सेवा के अन्तर्गत भर्ती बन्द हो गई थी, पर फिर भी अनेक पुराने अफसर थे जो संख्यात्मक वृद्धि के स्थान पर स्तर-सुधार को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे तथा प्रान्तीय मंत्रियों के मत के अनुसार कार्य न होने देते थे। साथ ही-साथ अर्थ विभाग अंग्रेजों के हाथ में था, जिससे आवश्यक धन भी शिक्षा योजनाओं को न मिल पाता था। इन सब अड़चनों तथा कठिनाइयों के होते हुए भी प्राथमिक शिक्षा का अच्छा विकास हुआ, जिसका पता निम्न आँकड़ों से चल सकता है:

	१९२१-२२	१९२६-२७
प्राथमिक शालाएँ	१,५५,०१७	१,८४,८२९
बालकों की संख्या	×	८०,१७,९२३

हार्टाग समिति

सन् १९२८ में भारतीय विकास आयोग ने शिक्षा-व्यवस्था के पुनःसंगठन के सुझाव देने के लिए एक सहायक-समिति की स्थापना की। इस सहायक समिति के अध्यक्ष सर फिलिप हार्टाग थे, अतः इसे हार्टाग समिति कहते हैं। इस समिति ने अपना प्रतिवेदन सन् १९२९ में ही दे दिया। इस समिति ने प्राथमिक शिक्षा के दोषों तथा कठिनाइयों को बतलाया, साथ ही उन्हें दूर करने के उपाय भी सुझाये।

प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में कठिनाइयाँ

प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में निम्नलिखित कठिनाइयाँ थीं :

१. भारतीय जनता का ग्रामवासी होना।
२. भारतीय जनता का निरक्षर तथा रूढ़िवादी होना।
३. जनसंख्या के घनत्व की कमी, यातायात के साधनों का अभाव, प्राकृतिक कठिनाइयाँ आदि।
४. ऐसे क्षेत्रों की अधिकता जहाँ के निवासी अत्यन्त पिछड़े हैं।
५. धर्म, जाति तथा भाषा आदि की विभिन्नताएँ।

समिति ने निष्कर्ष निकाला कि इन कठिनाइयों के होते हुए भी प्राथमिक शिक्षा का विकास हुआ है, पर इसमें अनेक दोष हैं। इसमें व्यर्थता तो प्राथमिक शिक्षास्तर पर बहुत ही अधिक है। इस व्यर्थता के निम्न कारण हैं :

१. प्राथमिक शिक्षा का गतिहीन तथा निष्फल होना।
२. प्राथमिक शिक्षा-प्राप्त बालकों का पुनः निरक्षर हो जाना।
३. प्रौढ़-शिक्षा का अभाव।
४. प्राथमिक शालाओं का अनियमित तथा अमनोवैज्ञानिक वितरण।
५. एक शिक्षकीय शालाओं की अधिकता।
६. पाठ्यक्रम का अनुपयोगी तथा संकुचित होना।
७. शिक्षण का प्रभावहीन होना।
८. निरीक्षकों की कमी।

इस समिति ने प्राथमिक शिक्षा के सुधार के लिए निम्न सुझाव दिये :

सुधार के सुझाव

१. प्राथमिक शालाओं का छिटपुट विस्तार न करके उनको संस्थित किया जाये।

२. प्राथमिक शिक्षा कम-से-कम ४ वर्ष की हो।

३. प्राथमिक शिक्षा का स्तर उच्च किया जाये। इसके लिए शिक्षक-प्रशिक्षण को उन्नत बनाया जाये। समय-समय पर अल्पकालिक शिक्षक-प्रशिक्षण आयोजित किया जाये। साथ-ही-साथ शिक्षकों का पद आकर्षक बनाया जाये जिससे योग्य व्यक्ति आकृष्ट हों।

४. प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार किये जायें।

५. शाला लगाने के समय तथा छुट्टियों को स्थानीय आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुकूल बनाया जावे।

६. प्राथमिक शाला की सब से निचली कक्षा पर सब से अधिक ध्यान दिया जाये तथा प्राथमिक शालाओं में व्यर्थता तथा गतिहीनता की संख्या कम की जाये।

७. प्राथमिक शालाओं को ग्रामोत्थान का केन्द्र बनाया जावे।

८. प्राथमिक शिक्षा का सारा अधिकार स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को न दिया जाये। निरीक्षण तथा प्रशासन के आवश्यक अधिकार सरकार स्वयं अपने पास रखे।

९. निरीक्षकों की संख्या बढ़ाई जाये।

१०. अनिवार्य शिक्षा के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की जावे तथा इसे लागू करने में शीघ्रता न की जाये।

इस प्रकार हार्टाग समिति ने प्राथमिक शिक्षा के संगठन, संयोजन तथा स्तर-सुधार पर ही अधिक बल दिया। सरकारी कर्मचारियों को तो ये सुझाव अच्छे लगे, पर भारतीयों ने इसका विरोध किया। अनिवार्य शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा की परिमाणात्मक प्रगति की माँग पुनः बलवती हो उठी। इसी समय विश्वव्यापी मन्दी से भी सम्पूर्ण देश प्रभावित रहा। फलतः प्राथमिक शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही, जिसका पता निम्न आँकड़ों से चलता है :

	१९२६-२७	१९३६-३७
प्राथमिक शालाएँ	१,८४,८२९	१,९२,२४४

इसी प्रकार छात्रों की संख्या में भी बहुत कम वृद्धि हुई।

सन् १९३७ से १९४७ के बीच भी प्राथमिक शिक्षा की बहुत कम प्रगति हुई। सन् १९३७ में १९३५ का भारतीय विधान लागू हुआ। फलस्वरूप प्रान्तों को आन्तरिक शासन में स्वतन्त्रता मिली। देश के सात प्रान्तों में कांग्रेस के मंत्रिमण्डल भी बने। कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने प्राथमिक शिक्षा के सुधार तथा उसे अनिवार्य बनाने के प्रयत्न किये। पर चूँकि अनिवार्य शिक्षा निजी साधनों पर ही आधारित थी तथा निजी साधन तथा प्रयत्न प्राथमिक शिक्षा के प्रसार की अन्तिम सीमा स्पर्श कर रहे थे अतः सरकारी सहायता के अभाव में इस दिशा में कोई विशेष विकास न हो सका। केवल कुछ सीमित क्षेत्रों में ही प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जा सकी।

इस अवधि में, हार्टाग समिति की सिफारिशों के अनुसार स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं से प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी अनेक अधिकार सरकार ने वापिस ले लिये। इसमें बम्बई अग्रणी रहा।

इस अवधि में प्राथमिक शिक्षकों के वेतन में अवश्य सुधार हुआ। द्वितीय महायुद्ध के कारण शिक्षकों की दशा बड़ी शोचनीय हो गई थी। कई स्थानों में तो वेतन-वृद्धि तथा मँहगाई के लिए हड़ताल आदि का सहारा भी लिया गया। सन् १९४९ में बम्बई प्रान्त में यह हड़ताल लगभग ४५ दिनों तक चली। फलस्वरूप लगभग सभी प्रान्तों में प्राथमिक शिक्षकों का वेतन बढ़ा तथा मँहगाई भत्ता भी दिया जाने लगा। पर जिस अनुपात में मँहगाई बढ़ी थी उस अनुपात में वेतन-वृद्धि नहीं हुई।

इस काल में प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्तों तथा विधियों में सुधार के हेतु अनेक नये प्रयोग तथा प्रयत्न किये गए, जिनमें महात्मा गांधी जी की बुनियादी शिक्षा-योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार से चर्चा की गई है।

मध्यप्रान्त में "विद्या मन्दिर योजना" तथा बम्बई में "स्व-सञ्चालित स्कूलों की योजना" भी इसी दिशा में किये गए प्रयोग थे।

युद्ध के बाद भारत सरकार ने देश की शिक्षा के पुनर्निर्माण के लिए सर जान सार्जेंट की अध्यक्षता में एक समिति गठित की। इस समिति का प्रतिवेदन १९४४ में प्रकाशित हुआ। सार्जेंट रिपोर्ट भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में इतने वृहद रूप में बनाई गई प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रतिवेदन है। इसने बुनियादी शिक्षा को कुछ सुधारों के साथ मान्य किया। इसमें प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने तथा उद्योग और क्रिया के माध्यम से शिक्षा देने के सिद्धान्तों को मान्य किया गया। केवल स्वावलम्बन के सिद्धान्त को इसमें मान्यता नहीं दी गई है। इसके अनुसार प्राथमिक शिक्षा ६ से १४ वर्ष के बालकों को अनिवार्य रूप से दी जायेगी तथा इसके दो भाग होंगे :

६ से ११ वर्ष तक जूनियर बेसिक
११ से १४ वर्ष तक सीनियर बेसिक

सार्जेंट रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में २०० करोड़ रुपये का व्यय तथा ४० वर्ष की अवधि लगने का अनुमान लगाया गया था। आज के मूल्यों के अनुसार तो यह व्यय लगभग चौगुने से भी अधिक होगा। ४० वर्ष की अवधि भी बहुत अधिक होती है; जिसे बाद में, भारतीय संविधान ने, संविधान लागू होने से १० वर्ष कर दिया गया।

स्वतन्त्र भारत में प्राथमिक शिक्षा (१९४७ से वर्तमान तक)

१५ अगस्त १९४७ भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित किया जायेगा, क्योंकि इस दिनांक को लगभग २०० वर्षों की गुलामी तथा पराधीनता के बाद भारत पूर्ण स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सार्जेंट रिपोर्ट में अनेक परिवर्तन किये गए।

सन् १९४८ में जनवरी में भारत सरकार ने सभी राज्यों के शिक्षा-मंत्रियों, विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों तथा चुने हुए शिक्षा-शास्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया। इसमें राज्य के सभी बालकों के लिए बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था-सम्बन्धी निर्णय किया गया। खेर समिति ने भी, जो १९४७ में गठित हुई थी, अनिवार्य बुनियादी शिक्षा का सुझाव दिया। खेर समिति ने १६ वर्ष की अवधि में बुनियादी शिक्षा को अनिवार्य बनाने का सुझाव दिया। इसके लिए १६ वर्ष की अवधि को तीन चरणों में विभाजित किया गया। पहला तथा दूसरा चरण

५-५ वर्ष का तथा तीसरा चरण ६ वर्ष का रखा गया। इस समिति ने यह भी सिफारिश की कि राज्य इसके लिए ७० प्रतिशत व्यय तथा केन्द्र ३० प्रतिशत व्यय का भार-वहन करे। इस समिति ने अनुमान लगाया कि अनिवार्य बुनियादी शिक्षा में लगभग ३६६ करोड़ रुपये व्यय होंगे।

इस प्रकार राष्ट्र ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में स्वीकार किया तथा इसे अनिवार्य करने के सक्रिय प्रयास किये गए।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में प्राथमिक शिक्षा को निम्न दो उद्देश्यों के लिए केन्द्रीय सहायता देना निश्चित किया गया :

१. चुने हुए क्षेत्रों में बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए चालक परियोजना (**pilot project**) प्रचलित करना।
२. वर्तमान प्राथमिक शालाओं को इस रूप में विकसित करना कि अन्ततः ये बुनियादी शालाओं में परिवर्तित की जा सकें।

इस योजना में बुनियादी शिक्षा को सभी के लिए शीघ्र-से-शीघ्र सुलभ करने का उद्देश्य भी था। बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए यह आवश्यक था कि शिक्षण-विधियों आदि में भी समुचित उन्नति की जाये। इस हेतु प्रत्येक 'अ' तथा 'ब' श्रेणी के राज्य में बुनियादी शालाओं के सघन क्षेत्र योजना के अन्तर्गत समूह स्थापित किये गए। 'स' श्रेणी के लिए ऐसा समूह दिल्ली में स्थापित किये जाने का सुझाव था। इस क्षेत्र में पूर्व-बुनियादी, बुनियादी, उत्तर-बुनियादी, शिक्षक-प्रशिक्षण विद्यालय तथा कालेज स्थापित किये जाने की योजना थी। इससे यह आशा की जाती थी कि इस क्षेत्र-विशेष में बुनियादी शिक्षा के साथ-साथ जन-समुदाय में भी स्वावलम्बन तथा सहयोग की भावनाओं का विकास होगा एवं आसपास की गैर-बुनियादी शालाएँ इनसे लाभान्वित होंगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ६ से ११ वर्ष के ६२ प्रतिशत, ११ से १४ वर्ष के २३ प्रतिशत बालकों को शिक्षा देने का लक्ष्य रखा गया। इसके लिए ५३,००० नये जूनियर प्राइमरी तथा ३,५०० (मिडिल) सीनियर स्कूल खोलने की व्यवस्था की गई। इसके साथ-साथ प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने, महिला शिक्षकों को अधिक संख्या में प्रशिक्षित करने, शाला भवनों का निर्माण, अपव्यय स्थिरता को कम करने आदि पर बल देने का प्राव-

धान भी है। साथ-ही-साथ प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का लक्ष्य भी रखा गया। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की वृद्धि के लिए मितव्ययता—सस्ते भवन-निर्माण, सहशिक्षा, दुहरी पाली आदि के द्वारा—करने का विचार भी मान्य किया गया।

सरकारी साधनों से अधिकतम लाभ उठाने के लिए इन साधनों को सामुदायिक प्रयासों द्वारा विस्तृत करने तथा सामुदायिक संस्थाओं को शिक्षा उपकर लगाने का अधिकार देने की व्यवस्था भी है।

तृतीय योजना काल में ६ से ११ वर्ष के देश के लगभग ७० प्रतिशत बच्चों को अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराने के हेतु शिक्षा पर किये जाने वाले खर्च का लगभग ५१ प्रतिशत व्यय प्राथमिक शिक्षा पर ही किये जाने का प्रावधान रखा गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्राथमिक शिक्षा का प्रसार समुचित हुआ है तथा इसे अनिवार्य करने की दिशा में भी ठोस कदम उठाये जा रहे हैं। प्राथमिक शिक्षा तथा अनिवार्य शिक्षा के विकास में बाधक कारणों तथा उन्हें दूर करने के उपायों का विस्तृत विवेचन अनिवार्य शिक्षा के अध्याय में किया गया है अतः इस पर यहाँ विचार नहीं किया जा रहा है।

मध्यप्रदेश में प्राथमिक शिक्षा

सन् १९५८ के पूर्व महाकोशल क्षेत्र में प्राथमिक शिक्षा की अवधि ४ वर्ष की थी। राज्य के अन्य क्षेत्रों में यह अवधि ५ वर्ष की थी। अतः राज्य के प्राथमिक शिक्षा-स्तर की एकरूपता के लिए महाकोशल क्षेत्र की प्राथमिक शालाओं में भी सन् १९५८ से ५वीं कक्षा जोड़ दी गई। इस प्रकार सारे राज्य में प्राथमिक शिक्षा की अवधि पाँच वर्ष हो गई।

अवधि

सन् १९५६ में राज्य पुनर्गठन के पूर्व राज्य के चारों क्षेत्रों में विभिन्न पाठ्यक्रम चलते थे। सन् १९५८-५९ सत्र से सम्पूर्ण राज्य की प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक शालाओं में एकीकृत नया पाठ्यक्रम लागू किया गया। यह पाठ्यक्रम हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के अन्तर्गत पाठ्यक्रम से मेल खाता हुआ बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों

पाठ्यक्रम

पर आधारित है। यह पाठ्यक्रम अन्तरिम काल के लिए ही है। इससे आगे चलकर गैरबुनियादी शालाओं का बुनियादी में परिवर्तन सरल हो जायेगा। इस पाठ्यक्रम में शिक्षा की सुसबद्ध योजना की गई है। इसमें कक्षा १ से ८ तक बुनियादी शिक्षा के कार्यक्रमों को विशेषरूप से स्थान दिया गया है तथा आशा व्यक्त की गई है कि यह पाठ्यक्रम क्रियाओं के आधार पर पूर्ण किया जायेगा। पाठ्यक्रम में शिक्षकों के मार्गदर्शन के हेतु आवश्यक निर्देश तथा गैर-बुनियादी शालाओं में बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी ऐसे कार्य-कलाप भी दिये गए हैं जो बिना किसी कठिनाई तथा विस्तृत साधन-व्यवस्था के एकदम प्रारम्भ किये जा सकते हैं। राज्य में २३ राष्ट्रीयकृत पुस्तकें भी प्रचलित हैं।

शालाओं तथा विद्यार्थियों की संख्या

नवीन मध्यप्रदेश राज्य के निर्माण के समय सम्पूर्ण राज्य में प्राथमिक शालाओं की संख्या लगभग २१,५५९ थी। प्राथमिक शिक्षा को प्राथमिकता देने के कारण इसकी जो प्रगति हुई उसका पता निम्न आकड़ों से लगता है :

क्रमांक	शाला	१९५५-५६	१९५६-५७	५७-५८	५९-६०
१	प्राथमिक शालाएँ (बुनियादी)	१,१११	१,६४१	१,८३१	×
२	प्राथमिक शालाएँ (गैर-बुनियादी)	१९,८३६	२१,१२१	२३,७१७	×
		२०,९४७	२२,७६२	२५,५४८,	२९,६१५

इसी प्रकार प्राथमिक शालाओं में बालकों की भी अधिक वृद्धि हुई है। जिसका पता निम्न आकड़ों से लगता है :

क्रमांक	शाला	१९५५-५६	५६-५७	५७-५८	५९-६०
१	बुनियादी प्राथमिक शालाओं में	८६,५३२	१,३८,८९३	१,५७,८००	
२	गैर बुनियादी प्राथमिक शालाओं में	९,९६,९९९	११,६२४८३	१२,४२,४८८	
		१०,८२,५३१	१३,०१,३७६	१३,७०,२८८	१७,६३,३५८

इस प्रकार बालक-बालिकाओं की संख्या सन् १९५६ की संख्या में लगभग ७० प्रतिशत अधिक है।

प्राथमिक शिक्षकों का वेतन-मान तथा अन्य व्यवस्थाएँ

राज्य के एकीकरण के समय राज्य के विभिन्न क्षेत्रों के प्राथमिक शिक्षकों के वेतन-मान में भिन्नता थी। अब विभिन्न श्रेणियों का अध्ययन करके शिक्षकों की अर्हता (योग्यता) के आधार पर एकीकृत वेतन-मान स्वीकार किया गया है। राज्य में १ अप्रैल १९५८ से प्राथमिक शिक्षकों का वेतन-मान निम्न प्रकार है :

१. मिडिल शिक्षा-प्राप्त प्रशिक्षित—रु० ४५–२½–६० अर्हता रोध ५-१००
२. मिडिल शिक्षा-प्राप्त अप्रशिक्षित—रु० ४०-१-५०-२-७०
३. मैट्रिक पास प्रशिक्षित—रु० ५०-२½-६० अर्हता रोध ४-१००-५-१२५
४ मैट्रिक पास अप्रशिक्षित—रु० ४५-२½-६० अर्हता रोध ५-१००

इसके साथ-साथ शिक्षकों को मँहगाई भत्ता भी मिलता है। १९५९ में शासकीय तथा स्थानीय निकायों द्वारा संचालित प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों को ५) अतिरिक्त भत्ता भी स्वीकृत किया गया है।

प्राथमिक शिक्षकों की नियुक्ति के लिए भी आवश्यक नियम बनाये गए हैं जिससे उनका चुनाव योग्यता तथा अनुभव के आधार पर किया जा सके।

राज्य में प्राथमिक शिक्षकों की संख्या-वृद्धि भी हुई है जिसके आंकड़े निम्न हैं :

क्रमांक शाखा	१९५५-५६	५६-५७	५७-५८
१. बुनियादी प्राथमिक शिक्षक	३,८९९	४,३३६	४,८२६
२. गैर-बुनियादी प्राथमिक शिक्षक	३८,२४२	४०,१६३	४२,०८५
योग	४१,१४१	४४,४९९	४६,९११

इसके साथ-साथ ६०-६१ में वर्तमान प्राथमिक शालाओं में ८०० अतिरिक्त शिक्षक नियुक्त करने के लिए एक ५ लाख रुपयों का प्रावधान है। १९६०-६१ में बेकारी निवारण योजना के अन्तर्गत भारत सरकार की सहायता से १८५० शिक्षकों तथा २७ सहायक जिला शाला निरीक्षकों की नियुक्ति की जावेगी।

राज्य में यह अनुभव किया जा रहा है कि महिला शिक्षकों को गाँवों में स्थान न मिलने के कारण वे गाँवों में नौकरी करना या स्थानान्तर कराना स्वीकार नहीं करती हैं। अतः इनके लिए ग्रामीण क्षेत्रों में भारत सरकार की सहायता से १,०९४ गृहों के बनाने की योजना १९६०-६१ तक पूर्ण होने की आशा है। एक ही गाँव में दो निवासगृह बनाने की योजना है जिससे दोनों शिक्षिकाएँ पास-पास रह सकें।

बालक-शिक्षक-अनुपात

सन् १९५७ में योजना आयोग के शिक्षाविद् अपनी पूना की बैठक में इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्राथमिक शिक्षा के द्रुत विस्तार के लिए शिक्षक-विद्यार्थी-अनुपात बढ़ाना आवश्यक होगा। उन्होंने शिक्षक-विद्यार्थी-अनुपात १ : ५० रखा था। अर्थात् एक शिक्षक पीछे ५० बालक। संसार के अन्य उत्तम देशों में भी एक शिक्षक के पीछे ६० या ७० तक बालकों का अनुपात स्वीकार किया गया था। अतः भारत में तो यह स्वीकार किया ही जा सकता है। पर राज्य में स्थान आदि के अभाव के कारण शिक्षक-विद्यार्थी-अनुपात १ : ४५ रखा गया है, पर २ कक्षाओं से अधिक वाली शाला में एक अतिरिक्त शिक्षक देने की सुविधा रखी गई है।

प्रशासन

भोपाल तथा विन्ध्यप्रदेश क्षेत्रों की अधिकांश प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक शालाएँ सरकार के अन्तर्गत हैं। मध्यभारत क्षेत्र में सरकार के अन्तर्गत शालाओं की संख्या भी अधिक है, पर स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं तथा निजी प्रयासों से भी शालाएँ चलाई जाती हैं। महाकोशल क्षेत्र में सरकारी प्राथमिक शालाएँ कम तथा स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं, मिशन, निजी संस्थाओं द्वारा ही अधिकांश प्राथमिक शालाएँ चलाई जाती हैं। इसके लिए, संस्थाओं को सरकारी आर्थिक सहायता या अनुदान दिया जाता है।

सरकार ने प्राथमिक शालाओं के निरीक्षण, परीक्षण, पाठ्यक्रम तथा पुस्तकों की मंजूरी, शिक्षकों का प्रशिक्षण आदि अधिकार अपने हाथ में रखा है। निरीक्षण के लिए सहायक जिला शाला निरीक्षक तथा निरीक्षिकाएँ नियुक्त की जाती

हैं। इनके पास लगभग ५० या ५५ शालाएँ होती हैं। शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के लिए राज्य में समय-समय पर शिक्षा-संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता है।

अनिवार्य तथा बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी विवेचन इसी पुस्तक के अन्य सम्बन्धित अध्यायों में किया गया है।

पूर्व-माध्यमिक शिक्षा

पूर्व-माध्यमिक शिक्षा का विचार स्वतन्त्र रूप से कब से प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर यह २०वीं सदी की ही देन होनी चाहिए। संसार के अन्य देशों में भी इस प्रकार की शालाएँ २०वीं सदी के प्रारम्भ में थीं जो बाद में जूनियर हाई स्कूल कहलाने लगीं। इस प्रकार की शालाओं के प्रारम्भ करने के कारणों में प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में स्थान की कमी ही प्रमुख रही है। पूर्व-माध्यमिक शालाओं से निम्न लाभ की अपेक्षा रही है :

१. प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा के बीच सम्बन्ध की स्थापना।

२. प्राथमिक शाला से माध्यमिक शाला में जाना एकदम न होकर बालक की आयु तथा विकास के अनुसार करने में सहायता।

३. शाला में अधिक संख्या में बालकों को दर्ज करके रखना।

प्रारम्भ में पूर्व-माध्यमिक शालाएँ केवल संगठन तथा प्रबन्ध की सुविधा से
स की गई थीं। पर अब शैक्षणिक महत्व पर ही अधिक बल दिया जाने
लगा है। संगठन तथा प्रबन्ध को अधिक महत्व देने के
.माध्यमिक कारण पूर्व-माध्यमिक शालाओं में विषयवार शिक्षक रखने,
लाभों के उद्देश्य शाला में प्रायः एक-सी आयु के बालकों का समूह बनाये
रखने आदि का ही ध्यान रखा जाता था। फलस्वरूप,
प्रारम्भिक अवस्था में, पूर्व-माध्यमिक शाला के निम्न उद्देश्य प्रमुख थे :

१. जहाँ तक हो एक-सी, समन्वित शिक्षा की व्यवस्था करना।

२. बालक-बालिकाओं की तात्कालिक आवश्यकताओं का पता लगाना तथा उनकी पूर्ति करना।

३. बालक-बालिकाओं को शिक्षा के प्रमुख क्षेत्रों की सम्भावनाओं से परिचित कराना।

४. बालक-बालिकाओं की रुचियों, प्रवृत्तियों तथा कामनाओं का पता लगाना।

५. बालकों को प्रारम्भिक चुनाव के आधार पर विषयों का चुनाव करके ऐसी शिक्षा देना जिसे पालक तथा बालक अपने भविष्य के विशेष लाभदायक ज्ञान-प्राप्ति में उपयोगी समझें।

अब धीरे-धीरे पूर्व माध्यमिक शालाओं के उद्देश्यों तथा कार्यों में परिवर्तन होता जा रहा है। 'कूस' महोदय ने १९२० में एक शैक्षणिक सर्वेक्षण किया था, जिसमें उन्होंने पूर्व-माध्यमिक शाला तथा जूनियर हाई स्कूलों के निम्न कार्यों तथा उद्देश्यों का पता लगाया :

१. बालक-बालिकाओं को अधिक संख्या में भरती रखकर, समय की बचत कर के, बालकों के वैयक्तिक भेदों को मान्यता देकर, जाँच तथा निर्देशन करके तथा व्यावसायिक शिक्षा का प्रारम्भ करके लोकतन्त्रात्मक शाला में लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था आरम्भ करना।
२. उत्तम शिक्षण की परिस्थितियों की व्यवस्था करना।
३. शाला में सामाजिकता तथा अनुशासन-सम्बन्धी परिस्थितियों को सुधारना।
४. बालक को युवक अवस्था के स्वरूप से परिचित होना।
५. ज्ञान की अधिक ठोस प्राप्ति कराना।

स्मिथ तथा अन्य विद्वानों ने भी इस सम्बन्ध में सर्वेक्षण किये हैं तथा वे भी प्रायः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। कुछ विद्वानों ने अनिवार्य शिक्षा के बाद भी बालक-बालिकाओं को शालाओं में भरती रखना इन पूर्व-माध्यमिक तथा जूनियर हाई स्कूलों का उद्देश्य तथा कार्य बतलाया है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये पूर्व माध्यमिक शालाएँ माध्यमिक शालाओं की अपेक्षा बालक-बालिकाओं के किशोर-जीवन के लिए अधिक उत्तम वातावरण प्रस्तुत करती हैं।

भारत में पूर्व-माध्यमिक शालाएँ अंग्रेजी शिक्षा की ही देन हैं। आज भारत में पूर्व-माध्यमिक शालाओं की निम्न तीन प्रकार की व्यवस्था है :

भारत में पूर्व माध्यमिक शिक्षा

१. स्वतन्त्र पूर्व-माध्यमिक शालाएँ।

२. प्राथमिक शालाओं में सलग्न-पूर्व-माध्यमिक शालाएँ।

३. माध्यमिक शालाओं में सलग्न पूर्व-माध्यमिक शालाएँ।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में प्राथमिक-शिक्षा तथा माध्यमिक-शिक्षा का प्रसार कम था। अतः उस समय स्वतन्त्र रूप से पूर्व-माध्यमिक-शालाओं की स्थापना आवश्यक थी। फलस्वरूप इन्हें स्वतन्त्र रूप से अनेक स्थानों में स्थापित किया गया। धीरे-धीरे, जब प्राथमिक शिक्षा का प्रसार अधिक हुआ तथा गाँवों में अधिक संख्या में बालक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने लगे तब बड़ी-बड़ी प्राथमिक शालाओं से पूर्व-माध्यमिक कक्षाएँ सलग्न की जाने लगीं। इसमें अनेक बालक अपने गाँव या आसपास के गाँवों में रहकर और अधिक शिक्षा प्राप्त करने लगे। शहरों की माध्यमिक शालाओं में वहीं की प्राथमिक शालाओं से पास बालक अंग्रेजी पढ़ने जाते थे। पर हर स्थान में तो माध्यमिक शाला नहीं हो सकती थी; अतः जहाँ माँग अधिक होती वहीं माध्यमिक शाला प्रारम्भ की जाती तथा उसमें सीधे ४थी कक्षा पास बालक-बालिकाओं को भरती किया जाता था। इस प्रकार शहरों की माध्यमिक शालाओं में पूर्व माध्यमिक कक्षाएँ सलग्न रहतीं। सन् १९३७ में गांधीजी की बुनियादी शिक्षा-योजना में भी सात वर्ष की शिक्षा का स्वरूप था। बाद में इसे अष्टवर्षीय बना दिया गया। अतः बुनियादी शिक्षा के प्रसार के प्रयासों ने भी पूर्व-माध्यमिक शिक्षा का काफी विकास किया।

आजकल स्वतन्त्र रूप से पूर्व-माध्यमिक शालाएँ स्थापित करने का चलन कुछ कम होता जा रहा है, क्योंकि यह मँहगी पड़ती है। स्थान भी अधिक लगता है। अतः अब इसे प्राथमिक शिक्षा के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति संसार के अनेक देशों में परिलक्षित हो रही है। इसके अनेक कारण हैं :

१. प्रायः सभी उन्नत तथा सभ्य देशों में अनिवार्य शिक्षा १४, १५, १६ वर्ष की आयु तक रखी जाती है।

२. माध्यमिक शिक्षा की आवश्यकताएँ भिन्न हैं तथा इस शिक्षा को सभी तक पहुँचाना अभी उपयोगी नहीं समझा जा रहा है।
३. प्राथमिक शिक्षा के साथ सम्बद्ध करने से यह सभी तक बिना किसी अधिक व्यय के साथ पहुँचाई जा सकती है।
४. पूर्व-माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा देश के सभी नागरिकों के लिए प्राप्त करना देशहित में विशेष उपयोगी तथा आवश्यक माना जाने लगा है।

भारत में अब बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप दिया गया है। अतः अब पूर्व-माध्यमिक शिक्षा को बुनियादी शिक्षा से समन्वित करने की प्रवृत्ति प्रगति कर रही है। देश के प्रायः प्रत्येक राज्य में ऐसे पाठ्य-क्रम तैयार किये गए हैं जो बुनियादी शिक्षा से मेल खाते हैं। जब तक पूर्ण रूप से बुनियादी शिक्षा सभी जगह लागू नहीं हो जाती तब तक ऐसे पाठ्यक्रमों की उपयोगिता अधिक है। क्योंकि इनसे बुनियादी में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त होता है।

इसके साथ-साथ प्रायः प्रत्येक राज्य में पूर्व-माध्यमिक स्तर तक का शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम बनाने, पुस्तकें मंजूर करने, शिक्षकों के वेतन, सेवा-शर्तें आदि अनेक प्रशासकीय बातों पर शिक्षा-विभाग का अधिकार रखने की प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। माध्यमिक शिक्षा मण्डलों को केवल माध्यमिक स्तर के शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार दिये जाते हैं।

भारतीय पूर्व माध्यमिक शिक्षा-स्तर पर प्रायः सभी विषयों का ज्ञान अनिवार्य रूप से प्राप्त किये जाने पर बल दिया जाता है। केवल उद्योगादि में चुनाव आदि का प्रावधान है। इसका कारण यह है कि इस आयु के बालकों को आवश्यक सभी बातों का ज्ञान मिल जाना चाहिए, जिससे उनका सन्तुलित विकास हो सके तथा इसके आधार पर वे आगे अपनी आवश्यकता तथा सामर्थ्य, रुचि आदि के अनुसार विषयों का चुनाव कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि १३-१४ वर्ष की आयु के पूर्व तक बालक की रुचियों, प्रवृत्तियों आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से निर्णय किया जाना भी कठिन ही होता है। इस आयु में बालक का अनेक प्रकार का विकास तेजी से होता रहता है। अतः इस आयु के बाद ही चुनाव आदि ठीक ठीक किया जा सकता है। इस दृष्टि से सभी विषयों का आवश्यक ज्ञान दिया जाना ठीक ही है। इसके

साथ-साथ एक बात और है। हमारे देश में १३ या १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की बात चल रही है। अतः इस आयु तक देश के बालक-बालिकाएँ शालाओं में रहेंगे। अतः इस आयु तक उन्हें कम-से-कम इतना आवश्यक ज्ञान तो मिल ही जाना चाहिए जो देश की लोकतन्त्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल तथा उसके लिए आवश्यक हो। ऐसा ज्ञान इसी स्तर पर दिया जा सकता है, क्योंकि माध्यमिक शिक्षा तो देश के चुने हुए अच्छी बुद्धिवाले बालक ही प्राप्त करेंगे।

पूर्व-माध्यमिक स्तर पर विषयों के खण्ड-खण्ड करके न पढ़ाकर उन्हें समन्वित करके पढ़ाने की प्रवृत्ति भी परिलक्षित हो रही है। ज्ञान तो एक ही है। बालक का मस्तिष्क भी समुचित ज्ञान ही ग्रहण करता है। अतः गणित, बीज-*गणित, रेखागणित; या नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल ऐसे अलग-*अलग विषयों में ज्ञान न देकर समन्वित करके ज्ञान दिया जाना अधिक उपयोगी होगा।

पूर्व-माध्यमिक स्तर की समानता तथा स्तर उन्नत करने की दृष्टि से राज्य, सम्भाग या जिला-स्तर पर परीक्षाओं के लिए समितियाँ भी गठित होती हैं। *इससे स्तर-सुधार तथा उसे समान करने में बड़ी सहायता प्राप्त हो रही है। पहिले* जब माध्यमिक शालाएँ कम थीं तब प्रायः हर राज्य में पूर्व-माध्यमिक स्तर के आखिरी वर्ष में बोर्ड द्वारा परीक्षा होती थी। पर बीच में इस पद्धति का त्याग कर अधिष्ठाता को ही ये अधिकार दे दिये गए। पर अब देश के बहुत कम स्थानों में बोर्ड की परीक्षा ली जाती है। अब तो स्थानीय, जिला, सम्भागीय स्तर को स्वतन्त्र बोर्ड लेकर पूर्व-प्राथमिक स्तर के आखिरी वर्ष की परीक्षा देने का चलन है। अन्य कक्षाओं की परीक्षा प्रधानाध्यापक ही लेता है।

प्रायः प्रत्येक राज्य में पूर्व-माध्यमिक स्तर को तीन वर्ष का करने की प्रवृत्ति है। पहिले जब प्राथमिक शिक्षा ४ वर्ष की दी जाती थी तब पूर्व-माध्यमिक शिक्षा की अवधि ४ वर्ष होती थी। पर अब विद्वान् इसकी अवधि ३ वर्ष ही रखने के पक्ष में हैं। अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी, *जिसे* मुदालियर आयोग (१९५२) भी कहते हैं, पूर्व-माध्यमिक शिक्षा की अवधि ३ वर्ष ही सुझाई है।

अध्याय ४

माध्यमिक शिक्षा

प्रारम्भ

माध्यमिक शिक्षा वर्तमान काल की ही विशेषता है। प्राचीन काल में जब समाज का संगठन सरल तथा सीधा था तब समाज के बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देना ही उपयोगी समझा जाता था। उस काल में प्राथमिक शिक्षा के स्तर तक के ज्ञान से जीवन के सभी आवश्यक कार्य चल जाते थे। पर विज्ञान के विकास तथा जीवन की जटिलता के कारण यह आवश्यक हो गया कि बालकों को प्राथमिक शिक्षा के स्तर से आगे का ज्ञान भी दिया जाये। आजकल वास्तव में प्राथमिक स्तर तक का ज्ञान तो बहुत कम समझा जाने लगा है। प्राचीन काल में शिक्षा का सम्बन्ध धर्म से था। जो व्यक्ति प्राथमिक स्तर से अधिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे वे धर्म-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। बाकी सभी प्राथमिक शिक्षा के रूप में साधारण शिक्षा प्राप्त करके अपना रोजगार करने लगते थे। पर आज सामाजिक गार्हस्थ जीवन सन्तुलित रूप से व्यतीत करने तथा देश के लोकतन्त्रात्मक जीवन में सक्रिय योग देने के लिए, यह आवश्यक हो गया है कि जन-साधारण को और भी अधिक शिक्षा मिले।

पाश्चात्य देशों में माध्यमिक शालाओं का उल्लेख यूनानियों के "रेटोरिक" तथा "ऐकेडेमिक" हाई स्कूल के रूप में मिलता है। यूनानियों ने जन-जीवन को उन्नत तथा समृद्ध बनाने के लिए इन दो प्रकार की शालाओं को उपयोगी माना था। रोम ने भी इन्हीं के आधार पर अपनी माध्यमिक शालाओं का संगठन किया। सन् १८२१ में बोस्टन में "एकेडेमी" के स्थान पर हाई स्कूल स्थापित किया गया। अमेरिका में १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में माध्यमिक शिक्षा की शालाएँ खुलीं। पर शायद इसके पूर्व भी परोक्ष रूप से माध्यमिक स्तर का ज्ञान विभिन्न प्रकार की संस्थाओं द्वारा दिया जाता रहा होगा।

इंगलैंड की लेटिन ग्रामर शालाएँ भी माध्यमिक शालाओं का ही प्रारम्भिक रूप हैं।

भारतीय वर्तमान माध्यमिक शिक्षा का प्रारम्भ १९वीं सदी के प्रारम्भ से ही मानना चाहिए। १८१३ के एक्ट के अनुसार १ लाख रुपया भारतीयों की शिक्षा के लिए कम्पनी को खर्च करने का आदेश दिया गया था। इस धन की व्यवस्था के लिए एक लोक-शिक्षा-समिति बनाई गई थी। अनेक कारणों से इस समिति में दो दल हो गए। एक दल प्राच्य शिक्षा तथा साहित्य को प्रोत्साहित करना चाहता था तो दूसरा दल पाश्चात्य शिक्षा को। यह झगड़ा अनेक वर्षों तक चलता रहा, जिसके फलस्वरूप इस समिति का कार्य ही ठप्प हो गया। अन्त में लार्ड मैकाले इसके अध्यक्ष बनाये गए। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा तथा अंग्रेजी के प्रसार की नीति अपनाने का सुझाव सरकार को दिया। परिणाम-स्वरूप तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंग ने एक आदेश जारी किया, जिसमें सरकार द्वारा अंग्रेजी तथा यूरोपीय शिक्षा के प्रसार की नीति अपनाने के निर्णय की घोषणा थी। वैसे इस आदेश में भारतीय देशी शालाओं तथा शिक्षा को चालू रखने-सम्बन्धी सुझाव भी था। पर लार्ड मैकाले के सुझाव, तथा उनके सुझाव के आधार पर १८३५ का सरकारी निर्णय ही यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञान की शालाओं को भारत में प्रारम्भ कराने में प्रमुख रूप से सहायक हुए। इस प्रकार की शालाएँ राजा राममोहन राय तथा अन्य भारतीयों के प्रभाव के कारण शीघ्र ही व्यापक हुईं। इन शालाओं में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने पर कम्पनी में अच्छी नौकरियाँ भी मिलती थीं, क्योंकि सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने यह घोषित किया था कि अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त लोगों को सरकारी नौकरियों में प्राथमिकता दी जायगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जो अंग्रेजी शिक्षा, यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान के प्रसार के लिए भारत में प्रारम्भ की गई थी, उसका उद्देश्य अब केवल नौकरी दिलाने तक ही सीमित तथा संकुचित मान लिया गया। पाश्चात्य शिक्षा के लिए जो माध्यमिक शालाएँ थीं उनमें अंग्रेजी तथा साहित्य का अच्छा ज्ञान कराये जाने पर बल दिया जाता था, पर विज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा उपेक्षित ही रहती थी। इस प्रकार एक दूषित तथा संकुचित आधार को लेकर भारत में पाश्चात्य शिक्षा की माध्यमिक शालाओं की स्थापना हुई।

माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य

प्रारम्भ से ही माध्यमिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक को उपयोगी तथा सुखी नागरिक बनाना रहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि माध्यमिक शिक्षा के द्वारा व्यक्ति की सामाजिक क्षमता बढ़ाने का प्रयत्न ही किया जाता है। संसार के विभिन्न देशों में माध्यमिक शिक्षा के ढंग में विभिन्नता होते हुए भी प्रायः सभी प्रकार की माध्यमिक शिक्षा का यही प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसके साथ-साथ महाविद्यालय या उच्च शिक्षा के लिए प्रवेश पाने योग्य बनना भी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य रहा है। वैसे लैटिन ग्रामर स्कूल या एकेडेमीज तथा उच्च शिक्षा के महाविद्यालयों के विषयों में बहुत कम सम्बन्ध रहता था; पर फिर भी माध्यमिक शालाएँ उच्च शिक्षा से प्रभावित होती रही हैं। मध्यकाल में तो उच्च शिक्षा के योग्य बनाना ही माध्यमिक शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। बीसवीं सदी के प्रथम तथा द्वितीय चरण में भी माध्यमिक शिक्षा उच्च शिक्षा से प्रभावित होती रही है।

भारतीय माध्यमिक शिक्षा अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की शाखा-सी रही है तथा अंग्रेजी शासन के लिए अंग्रेजी ज्ञान प्राप्त लोगों की आवश्यकता थी। अतः अंग्रेजी शासन-काल में माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को नौकरी के लिए तैयार करना तथा महाविद्यालय में प्रवेश करने योग्य बनाना ही रहा है। सामाजिक क्षमता बढ़ाने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

अब हमारा देश स्वतन्त्र हो गया है तथा आज की परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि हमारी माध्यमिक शिक्षा संकुचित दायरे से निकलकर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक हो। अतः माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों में परिवर्तन आवश्यक है। मुदालियर आयोग ने (१९५२-५३) अपने प्रतिवेदन में माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की विस्तृत व्याख्या की है। वर्तमान भारत की आवश्यकताओं की चर्चा करते हुए मुदालियर आयोग ने लिखा है कि भारत राजनैतिक दृष्टि से एक धर्मनिरपेक्ष जनवादी गणतन्त्र बन गया है; अतः यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षा यन्त्रों में उचित आदतों, प्रवृत्तियों तथा चरित्र का विकास करने योग्य हो, जिससे देश के नागरिक लोकतन्त्र के उत्तरदायित्वों में सफलता हो तथा उन सभी बुरी प्रवृत्तियों से अप्रभावित रहें जो

एक विस्तृत, स्वस्थ, धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण के विकास में बाधक हो सकती हैं।

भारत प्राकृतिक साधनों से समृद्ध है पर इन साधनों के समुचित रूप से उपयोग न किये जा सकने के कारण भारतीय जनता गरीब है तथा देश के अधिकांश व्यक्ति निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करते हैं। अतः भारत की सबसे बड़ी समस्या देश की उत्पादन-क्षमता तथा कौशल को बढ़ाने की है। इससे देश में धन की वृद्धि होगी, जिससे भारतीयों का जीवन-स्तर उच्च होगा।

व्यापक दरिद्रता तथा शिक्षा-सुविधाओं की कमी के कारण देश की अधिकांश जनता अपना पेट भरने की समस्या हल करने में ही जुटी रहती है। फलस्वरूप सांस्कृतिक गतिविधियों तथा कार्यों की ओर वे ध्यान नहीं दे पाते हैं।

देश की इन आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में भारतीय माध्यमिक शिक्षा के निम्न उद्देश्य निश्चित किये जा सकते हैं :

देश के बालकों को धर्मनिरपेक्ष गणतन्त्र के उत्तरदायित्वों को वहन करने के योग्य बनाने तथा उनके नैतिक उत्थान के लिए चरित्र-गठन आवश्यक है।

चरित्र-गठन

लोकतन्त्र में नागरिकता की बड़ी अपेक्षाएँ होती हैं। नागरिक में उचित विवेक, मानसिक, सामाजिक तथा नैतिक विचार अपने-आप नहीं आ सकता है। उचित विवेक, समझ तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए यह आवश्यक है कि बालकों को स्वतन्त्रतापूर्वक खुले मस्तिष्क से सोचने-विचारने का अभ्यास हो। वे पुरानी परम्पराओं में न एकदम अविश्वास रखें और न जो नया है उसमें अनास्था। विचारों की स्पष्टता से सम्बद्ध बोलचाल तथा लिखने की स्पष्टता है। ये दोनों प्रकार की स्पष्टताएँ न केवल सामाजिक क्षमता की वृद्धि करती हैं वरन् व्यक्ति के जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा प्रभावशाली भी बनाती हैं।

लोकतन्त्र की आधारशिला श्रम तथा सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व का आदर है। यह तभी सम्भव है जब कि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो। सर्वांगीण विकास सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के परिचय तथा उनके जीवन-यापन के कौशल से ही सम्भव है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वस्थ सामाजिक जीवन में ही व्यक्ति का समुचित विकास हो सकता है। अतः हमारी माध्यमिक शिक्षा का अन्य शब्दों में, सामाजिक जीवन को सुखी, मधुर, उपयोगी तथा समुचित

ढंग से जीने के लिए आवश्यक गुणों, जैसे, अनुशासन, सहकारिता, धैर्य, सहनशीलता आदि का विकास होना चाहिए। बालकों में सामाजिक न्याय की भावनाओं का उदय तथा उसके लिए एक तड़पन-सी होनी चाहिए। सामाजिक न्याय ही अच्छे चरित्र का आधार है। सामाजिक न्याय के अभाव में हमारे चरित्र के सभी गुण या तो प्रभावी न होंगे या निम्न ध्येयों की ओर गतिशील होंगे। अतः सामाजिक न्याय की भावना आवश्यक है।

राष्ट्रीयता की भावना का विकास भी हमारी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। पर यह राष्ट्रीयता संकुचित न हो। हमें तो, जैसा गांधीजी तथा विनोबा भावे का कथन है, "सर्वोदय" का दृष्टिकोण रखना चाहिए। इससे विश्व-कल्याण होगा तथा विश्व शान्ति स्थापित होगी।

व्यावसायिक क्षमता का विकास

भारत के अतुल साधनों के समुचित उपयोग तथा विकास के लिए श्रमशील होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रमशील होने के लिए हमें श्रम के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलना चाहिए। हमारे लिए न कोई काम छोटा या निम्न तथा न कोई काम बड़ा होना चाहिए। सभी काम करने योग्य हैं। इसके साथ-साथ हमें किसी काम को हाथ में लेने के बाद कठिनाइयों आदि के आने पर भी उसे अच्छी तरह पूर्ण करने की आदत डालनी चाहिए। हमारी माध्यमिक शिक्षा के ये उद्देश्य तो होना ही चाहिए। साथ ही इस शिक्षा के द्वारा बालक-बालिकाओं की व्यावसायिक तथा प्राविधिक क्षमता का विकास भी करना चाहिए। इसके लिए उत्पादक उद्योग तथा विषयों की विविधता पर अधिक महत्त्व देना आवश्यक है।

व्यक्तित्व विकास

बालकों की रचनात्मक शक्ति का उचित उपयोग करके उसे अपनी संस्कृति के तत्वों से परिचित कराने तथा उनमें साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और सृजनात्मक भावनाओं एवं क्षमताओं का विकास भी भारतीय माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। इससे उनके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास सम्भव होगा तथा देश का सांस्कृतिक उत्थान भी। यह प्रगतिशील राष्ट्रीय संस्कृति के प्रादुर्भाव के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

नेतृत्व

भारतीय माध्यमिक शिक्षा न तो राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा से अलग और न उच्च शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति का आधार होना चाहिए। यह स्वयं अपने में पूर्ण तथा सम्पन्न होनी चाहिए। लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश के सभी नागरिक अपने उत्तरदायित्वों का वहन करना जानते हों। इसके लिए *अनुशासन तथा नेतृत्व के गुणों का विकास आवश्यक है।* विश्वविद्यालयों में तो देश के कुछ चुने हुए लगभग २० प्रतिशत छात्र ही जायेंगे। अतः नेतृत्व तथा अनुशासन के गुणों का विकास माध्यमिक शिक्षा के स्तर पर करने से ही भारतीय लोकतन्त्र की सफलता सम्भव है। नेतृत्व की भावना के उचित विकास के लिए अच्छी शिक्षा, विचारों की गहनता तथा स्पष्टता, विवेक, सामाजिक समस्याओं का स्पष्ट तथा समुचित ज्ञान, प्राविधिक क्षमता आदि आवश्यक हैं। अतः हमारी माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति में ऊपर उल्लिखित गुणों का विकास होना चाहिए, जिससे उचित क्षमता के व्यक्ति विकसित परिस्थितियों तथा अवसरों में सक्षम तथा प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकें।

भारतीय माध्यमिक शिक्षा का संगठन

माध्यमिक शिक्षा एक स्वय-पूर्ण तथा समस्त इकाई होनी चाहिए तथा इसे उच्च शिक्षा की तैयारी की इकाई ही न मानी जानी चाहिए। माध्यमिक शिक्षा ४ या ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद तथा उच्च शिक्षा के पूर्व की इकाई है; अतः इसमें प्रायः ११ से १७ वर्ष की आयु के बालक-बालिकाएँ ही आती हैं। यदि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था तथा नियोजन ठीक तथा ठोस हो तो ७ वर्ष की शिक्षा बालक-बालिकाओं में समुचित ज्ञान, विवेक, समझ का विकास कर सकती है। इसके आधार पर वे अपने जीवन को समुचित तथा प्रभावी ढंग से व्यतीत कर सकते हैं। इस आयु के अन्त तक (१७ वर्ष) वे जीवन के उत्तरदायित्वों को वहन करने के योग्य बन सकते हैं तथा उन्हें किसी उद्योग की समुचित शिक्षा दी जा सकती है।

अभी तक भारत में शिक्षा से सम्बन्धित सभी विद्वानों का यह विचार रहा है कि माध्यमिक शिक्षा अभी अच्छी योग्यता के बालक नहीं *विकसित कर रही*

है। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के लिए भी इनमें समुचित ज्ञान, परिपक्वता, विवेक आदि का विकास नहीं हो पाता है। इसका कारण यह है कि कम आयु के बालक इसमें निकलते हैं। माध्यमिक शिक्षा-स्तर पर विविधता लाने के लिए भी यह आवश्यक होगा कि माध्यमिक शिक्षा की अवधि बढ़ाई जाय क्योंकि अनेक प्रकार के व्यावसायिक तथा प्राविधिक पाठ्यक्रमों की आवश्यकताओं को देखते हुए यह आवश्यक है। पर शिक्षा की सम्पूर्ण अवधि को बढ़ाने से राष्ट्र तथा पालक दोनों को अधिक धन व्यय करना होगा। आज की परिस्थितियों में इतना अधिक धन व्यय करना सम्भव नहीं है। अतः माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग १९५२-५३) ने माध्यमिक-शिक्षा का निम्न संगठन सुझाया है :

१. ४ या ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद पूर्व-माध्यमिक या सीनियर बेसिक स्तर ३ वर्ष।
२. उच्चतर माध्यमिक स्तर ४ वर्ष।

इस सुझाव के अनुसार वर्तमान माध्यमिक शालाओं को उच्चतर तथा बहुउद्देशीय बनाने के लिए एक वर्ष की शिक्षा और जोड़ना आवश्यक होगा। इन्टरमीडिएट कक्षाएँ अलग कर दी जावेंगी तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा ३ वर्ष की होगी। इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा अपने में पूर्ण होगी।

माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा प्रस्तावित माध्यमिक शिक्षा के संगठन से सम्बन्धित तालिका पृष्ठ ५० पर दी जा रही है।

चूँकि अभी देश में विभिन्न अवधि वाली माध्यमिक शालाएँ चल रही हैं जिनमें ६ या ७ वर्ष की शिक्षा प्राथमिक शिक्षा के बाद दी जाती है तथा इन संस्थाओं के लिए एकदम एक वर्ष की अधिक शिक्षा की व्यवस्था करना सम्भव न होगा, माध्यमिक शिक्षा आयोग ने दो प्रकार की माध्यमिक शालाएँ कुछ समय तक चलते रहने का सुझाव दिया है :

१. माध्यमिक शालाएँ—वर्तमान में प्रचलित साधारण माध्यमिक शालाएँ;
२. उच्चतर माध्यमिक शालाएँ, जिनमें एक वर्ष की शिक्षा की और व्यवस्था की जावेगी।

केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-समिति ने सन् १९५५ में १२ से १८ जनवरी तक अपनी २२वीं बैठक में भारतीय माध्यमिक शिक्षा आयोग की इन सिफारिश

माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा प्रस्तावित माध्यमिक शिक्षा का संगठन

पर विशेष रूप से विचार किया तथा उन्होंने विचार-विमर्श के बाद यह निश्चय किया :

१. स्नातक डिग्री पाठ्यक्रम ३ वर्ष का हो, जिसमें १७ वर्ष से अधिक आयु के बालक भरती हों।
२. १७ वर्ष की आयु तक माध्यमिक शिक्षा पूर्ण हो जानी चाहिए। इस शिक्षा का स्तर ऐसा हो कि बालक तीन वर्ष के डिग्री पाठ्यक्रम में अच्छी तरह चल सकें।
३. स्तर को पूरा करने के उद्देश्य से स्कूल की अन्तिम परीक्षा का सर्वांगीण पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए भारत सरकार से एक समिति बनाने की प्रार्थना की जाये।
४. माध्यमिक स्तर की शिक्षा की अवधि १० वर्ष हो तथा आखिरी कक्षा ११वीं हो। माध्यमिक शिक्षा में लगने वाले वर्षों का निश्चय प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थिति के अनुसार करेंगे।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने राज्यों पर यह छोड़ दिया था कि वे अपनी सुविधानुसार ११ वर्षों की पढ़ाई या १२ वर्षों की पढ़ाई माध्यमिक शिक्षा के लिए आवश्यक मानें। पर केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-परिषद् ने इस अनिश्चितता को दूर करके ११ वर्ष की अवधि इसके लिए निश्चित की। इससे सम्पूर्ण देश में माध्यमिक शिक्षा का एक-सा ढाँचा संगठित हो सकेगा।

भारत सरकार ने बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा का रूप दिया है। चूँकि बुनियादी शिक्षा १४ वर्ष की आयु तक चलती है अतः यह स्वाभाविक है कि माध्यमिक शिक्षा की कुछ अवधि उससे मिलती-जुलती हो। राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा में एकरूपता तथा समरसता लाने की दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा आयोग ने यह निश्चय किया कि सीनियर बेसिक, या पूर्व-माध्यमिक तक पाठ्यक्रम का स्तर एक-सा रहना चाहिए।

इसके साथ-साथ माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने भारतीय अन्य प्रकार की माध्यमिक संस्थाओं के संगठन के सम्बन्ध में भी सुझाव दिये, जो संक्षेप में निम्न हैं :

१. माध्यमिक शिक्षा ४ या ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा के बाद प्रारम्भ

हो तथा उसमें (अ) ३ वर्ष की सीनियर बेसिक या पूर्व-माध्यमिक शिक्षा तथा (ब) ४ वर्ष की उच्चतर माध्यमिक शिक्षा दी जाये।

२. मध्यकाल में पुरानी माध्यमिक शालाएँ चालू रखी जायें तथा उच्चतर माध्यमिक शालाओं का संगठन जैसा ऊपर बतलाया गया है उसके अनुसार हो।

३. वर्तमान इन्टरमीडिएट कक्षाएँ अलग करके ४ वर्षीय उच्चतर माध्यमिक शिक्षा चालू की जाये। वर्तमान इन्टरमीडिएट कक्षाओं का एक वर्ष उच्चतर माध्यमिक शालाओं में जोड़ दिया गया है।

४. विश्वविद्यालयीन स्नातक पाठ्यक्रम ३ वर्ष का हो।

५. वर्तमान माध्यमिक शालाओं से पास होनेवाले छात्रों के लिए १ वर्षीय प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स की व्यवस्था की जाये।

६. व्यावसायिक महाविद्यालयों में उच्चतर माध्यमिक शालाओं से पास या प्री-यूनिवर्सिटी कोर्स पास छात्र भरती किये जायें।

७. व्यावसायिक महाविद्यालयों में एक वर्ष का प्री-प्रोफेशनल कोर्स चलाया जाये या यदि इसमें सुविधा न हो तो अन्य स्नातक महाविद्यालयों में मध्यकाल तक इस प्रकार का एकवर्षीय शिक्षण दिया जाये।

८. जहाँ भी सम्भव हो बहुउद्देशीय माध्यमिक शालाएँ स्थापित की जायें जिससे छात्रों को उनकी विभिन्न रुचियों, क्षमताओं तथा उद्देश्यों के अनुसार विविधतापूर्ण शिक्षा मिल सके।

९. जो छात्र इस प्रकार की बहुउद्देशीय माध्यमिक शालाओं की परीक्षा पास कर चुके हों उन्हें विशेषीकृत अध्ययन के लिए पॉलीटेकनिक या टेकनालाजीकल संस्थाओं में भरती की सुविधाएँ प्रदान की जायें।

१०. सभी राज्य कृषि शिक्षा की व्यवस्था ग्रामीण क्षेत्रों में करें।

११. बहुउद्देशीय माध्यमिक या स्वतन्त्र शालाओं के रूप में टेकनीकल या प्राविधिक शिक्षा संस्थाओं की व्यवस्था की जाये।

१२. बड़े शहरों में केन्द्रीय टेकनीकल इन्स्टीट्यूट खोले जायें, जो स्थानीय अनेक शालाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

१३. जहाँ तक सम्भव हो टेकनीकल संस्थाएँ औद्योगिक केन्द्रों में अथवा

दी स्थापित की जाये। इनका कार्य भी उद्योगों के सहयोग से चले।

१४. उद्योग के मालिकों के लिए इन टेकनीकल संस्थाओं के बालकों को व्यावहारिक प्रशिक्षण देना कानून द्वारा अनिवार्य किया जाये।

१५. सभी स्तरों की व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा के नियोजन के समय व्यवसाय तथा उद्योगों से प्रतिनिधि अवश्य लिये जायें।

१६. प्राविधिक शिक्षा के विकास के लिए उद्योगों पर एक "औद्योगिक शिक्षा उपकर" लगाया जाये।

१७. माध्यमिक स्तर पर प्राविधिक शिक्षा के उपयुक्त संगठन के लिए एक अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की जाये।

१८. वर्तमान "पब्लिक स्कूल" कायम रहें, पर इनके पाठ्यक्रम को राष्ट्रीय शिक्षा के सामान्य ढाँचे से समन्वित किया जाये। इन्हें क्रमशः स्वावलम्बी भी बनाया जाये।

१९. राज्य तथा केन्द्र कुछ छात्रवृत्तियाँ इन पब्लिक शालाओं के योग्य छात्रों के लिए रखें।

२०. आवासिक शालाएँ, विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में, अधिक संख्या में खोली जायें।

२१ अध्यापक, किसान, मजदूर बालकों के लिए अधिक संख्या में शालाएँ खोली जायें।

२२. बालक तथा बालिकाओं की शिक्षा में कोई भेद न रखा जाये, पर बालिकाओं के लिए गृह-शास्त्र की शिक्षा की व्यवस्था सह-शिक्षावाली तथा बालिकाओं की शालाओं में की जाये।

२३. आवश्यकतानुसार बालिकाओं के लिए अलग से शालाएँ भी खोली जायें।

२४. सह-शिक्षावाली शालाओं में बालिकाओं तथा महिला शिक्षिकाओं की विशेष आवश्यकताओं का ध्यान रखकर तदनुसार सुविधाएँ जुटाई जायें।

भारतीय माध्यमिक शिक्षा का विकास

जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है, लार्ड मैकाले की नीति के फलस्वरूप

१८३५ से भारत में अंग्रेजी शालाओं की वृद्धि हुई। इन्हीं से हमारी वर्तमान माध्यमिक शालाओं का प्रारम्भ होता है। १८४४ में लार्ड हार्डिंज द्वारा सरकारी नौकरी में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की नियुक्ति को प्राथमिकता देने की नीति से भी इसे प्रोत्साहन मिला।

१८५३ तक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं। इसके लिए विस्तृत जाँच आवश्यक थी। अभी तक की प्रगति की जाँच के आधार पर

१८५४ का महाविधान

१८५४ में वुड डिस्पैच या शिक्षा-महाविधान के रूप में शिक्षा क्षेत्र में की गई प्रगति तथा वर्तमान समस्याओं के हल के सुझाव प्रस्तुत किये गए थे। १८५४ के शिक्षा-महाविधान की प्रमुख सिफारिशें शिक्षा-विभाग स्थापित करने, विश्वविद्यालय-स्थापना, क्रमवार राजकीय विद्यालयों की स्थापना, निजी संस्थाओं को आर्थिक सहायता, शिक्षकों के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था आदि से सम्बन्धित थीं। १८५४ के शिक्षा-महाविधान के फलस्वरूप बम्बई, कलकत्ता आदि विश्वविद्यालय खुलने से माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम, क्षेत्र आदि पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। इसके कारण माध्यमिक शिक्षा स्वयं स्वतन्त्र तथा पूर्ण न रह सकी। १८५४ के बाद अगले २०-२५ वर्षों में भारतीय माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में अपनाई गई नीति के कारण अनेक दोष परिलक्षित होने लगे थे, जिनमें निम्न प्रमुख थे :

१. शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना।
२. शिक्षा का जीवन की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों से भिन्न होना।
३. माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की कोई उत्तम व्यवस्था न होना।
४. मैट्रिक परीक्षा का सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा के साथ प्राथमिक शिक्षा पर भी अधिक प्रभाव होना।

सन् १८८२ में भारतीय शिक्षा की प्रगति तथा समस्याओं के हल के हेतु हंटर कमीशन की नियुक्ति की गई थी। माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में इस

१८८२ का हंटर कमीशन

कमीशन को स्तर तथा स्वरूप-सम्बन्धी जाँच और सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इस कमीशन ने सुझाव दिया कि माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था आर्थिक अनुदान के आधार पर की जाये तथा जहाँ तक बने सरकार माध्यमिक शिक्षा की

व्यवस्था अपने हाथ में न ले।

माध्यमिक शिक्षा की दृष्टि से हंटर कमीशन की कुछ सिफारिशें बड़ी महत्त्वपूर्ण थीं, जैसे माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम को बहुउद्देशीय बनाया जाये, माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा दी जाये, शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रखना आवश्यक नहीं है, शिक्षकों के प्रशिक्षण की उत्तम व्यवस्था की जाये आदि। पर इन सुझावों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा में अनेक दोष बने रहे। पर १९०२ तक भारत में माध्यमिक शिक्षा का अधिक प्रसार हुआ, जो निम्न आँकड़ों से प्रतीत होता है :

	१८८१-८२	१९०१-२
१. माध्यमिक शालाएँ	३,९१६	५,१२४
२. माध्यमिक शालाओं में छात्र	२,१४,०७७	५,९०,१२९

सन् १९०२ तक इस अभूतपूर्व प्रगति के दो कारण मुख्य थे—(१) निजी प्रयासों का उत्साह एवं वृद्धि तथा (२) आर्थिक अनुदान प्रणाली का अपनाया जाना।

१९०२ का विश्वविद्यालय आयोग

लार्ड कर्जन ने भारत में आने पर शिक्षा में सुधार करने के अनेक प्रयत्न किये। विश्वविद्यालयीन शिक्षा के सुधार के लिए उसने १९०२ में विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने विश्वविद्यालयीन शिक्षा के नियंत्रण तथा संगठन के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत किये। फलस्वरूप माध्यमिक शिक्षा विश्वविद्यालयीन शिक्षा से और भी अधिक प्रभावित होने लगी, क्योंकि १९०४ का जो विश्वविद्यालयीन कानून बना उसके अनुसार माध्यमिक शालाओं को विश्वविद्यालयों से मान्यता प्राप्त करना आवश्यक हो गया। लार्ड कर्जन ने माध्यमिक शिक्षा के नियन्त्रण के लिए विभागीय मान्यता पाने, आर्थिक तथा व्यावहारिक सहूलियतें देने, अमान्य शालाओं के छात्रों के मैट्रिक परीक्षाओं में भरती किये जाने पर प्रतिबन्ध लगाने आदि कई काम किये।

माध्यमिक शिक्षा के स्तर के सुधार के लिए उसने प्रत्येक जिले में सरकारी माध्यमिक शाला स्थापित की तथा गैर-सरकारी शालाओं को और भी अधिक आर्थिक सहायता दी। शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी बढ़ाई। मिडिल कक्षाओं तक मातृभाषा को माध्यम बनाया गया।

इस समय तक यह अनुभव किया जाने लगा था कि विश्वविद्यालय माध्यमिक शिक्षा पर बहुत अधिक नियन्त्रण रखते हैं। अतः उन्हें इस नियन्त्रण से मुक्ति दिलाने तथा स्वतन्त्र करने के लिए माध्यमिक शिक्षा प्रमण्डलों की स्थापना भी कई प्रान्तों में की गई। ये प्रमण्डल माध्यमिक शालाओं के लिए पाठ्यक्रम बनाते, अन्तिम परीक्षा लेते तथा पुस्तकें निर्धारित करते थे।

सर सैडलर की अध्यक्षता में सन् १९१७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की शिक्षा-सम्बन्धी जाँच तथा सुझाव के हेतु कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना की गई। इसे सैडलर आयोग भी कहते हैं। इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर भी विचार किया तथा यह मत व्यक्त किया कि माध्यमिक शिक्षा में सुधार विश्वविद्यालयीन शिक्षा के विकास तथा सुधार के लिए आवश्यक है। सैडलर आयोग ने इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये :

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग १९१७

१. माध्यमिक शिक्षा तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा के बीच की कड़ी मैट्रिक परीक्षा न होकर इन्टरमीडिएट परीक्षा होनी चाहिए।
२. अतः इन्टरमीडिएट संस्थाएँ खोली जायें। ये चाहे स्वतन्त्र हों या माध्यमिक शालाओं से संलग्न रहें।
३. माध्यमिक तथा इन्टरमीडिएट शिक्षा बोर्ड स्थापित किये जायें।
४. विश्वविद्यालयों में प्रवेश इन्टरमीडिएट के बाद दिया जाये।

सैडलर आयोग की सिफारिश कलकत्ता विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में ही थी पर अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों ने इन सुझावों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ किया। इसके बाद तो माध्यमिक शिक्षा का बहुत अधिक प्रसार हुआ। पर पाठ्यक्रम में विविधता, व्यावसायिक शिक्षा, शिक्षकों का प्रशिक्षण, उनका वेतन तथा सेवा की शर्तें, माध्यम आदि की समस्याएँ ज्यों-की-त्यों रहीं तथा इनमें कोई सुधार न हो सका।

द्विविध शासन तथा माध्यमिक शिक्षा

१९२१ में भारतीय शासन में सुधार हुआ तथा प्रान्तों में दुहरे शासन का आरम्भ हुआ। इससे शिक्षा तथा कुछ अन्य विषय भारतीयों के हाथ में रहे। पर अर्थ-विभाग अंग्रेजों के हाथ में था तथा शिक्षा-विभाग के अनेक उच्च अधिकारी शिक्षा के उन्नत स्तर के पक्ष में थे। पर भारतीय जनता तो शिक्षा-प्रसार चाहती थी। इस प्रकार एक द्वन्द्व चल पड़ा।

सन् १९२९ में भारतीय शिक्षा की जाँच करने तथा सुधार के सुझाव देने के हेतु सर हार्टाग की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति ने भी यह मत व्यक्त किया कि अभी भी विश्वविद्यालयीन शिक्षा का बहुत अधिक प्रभाव माध्यमिक शिक्षा पर है। इसके सुधार के लिए हार्टाग समिति ने पाठ्यक्रम की विविधता तथा अधिकांश बालकों को पूर्व-माध्यमिक स्तर तक शिक्षा देने की सिफारिश की। साथ ही हार्टाग समिति ने बालकों को औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की ओर उन्मुख करने का सुझाव भी दिया। इस समिति ने शिक्षकों की दशा तथा प्रशिक्षण को असन्तोषजनक बताया। पर इसके सुधार के कोई ठोस उपाय नहीं सुझाये।

हार्टाग समिति

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्

१९२१ में भारत सरकार को शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में सलाह देने के हेतु केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की स्थापना की गई।

सन् १९३४ में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने अपने प्रान्त की बेकारी के कारणों की जानकारी प्राप्त करने तथा उसे दूर करने के उपाय सुझाने के हेतु सप्रू महोदय की अध्यक्षता में एक समिति बनाई। इस समिति ने शिक्षा को केवल परीक्षा पास कराने वाली ही निरूपित किया। इसके सुधार के लिए समिति ने निम्न सुझाव दिये :

सप्रू समिति

१. माध्यमिक शिक्षा स्तर पर विविधतावाले पाठ्यक्रम बनाये जावें।
२. वर्तमान इन्टरमीडिएट स्तर अलग करके माध्यमिक स्तर में इसका एक वर्ष जोड़ दिया जावे।

३. व्यावसायिक तथा प्राविधिक कोर्स मिडिल स्तर के बाद प्रारम्भ किये जायें।

४. विश्वविद्यालयीन डिग्री कोर्स ३ वर्षीय रहे।

सन् १९३७ तक माध्यमिक शिक्षा के दोष स्पष्ट हो गए थे। जहाँ-तहाँ बेकारी फैलने लगी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन भी बल पाने लगा था। जहाँ-तहाँ माध्यमिक

१९३५ का संविधान

शालाओं तथा विश्वविद्यालयों से निकलने की आवाजें आने लगी थीं। अनेक राष्ट्रीय संस्थाएँ भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि को बनाये रख शिक्षा के प्रयोग प्रारम्भ कर रहीं थीं। अतः शिक्षा में आमूल परिवर्तन तथा सुधार आवश्यक हो गया था। इसी समय १९३५ के भारतीय संविधान के अनुसार देश के अनेक प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल स्थापित हुए। फलस्वरूप शिक्षा में सुधार के प्रयत्न किये जाने लगे, पर शीघ्र ही युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण तथा अनेक राज-नैतिक कारणों से कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया। इससे इस दिशा में अधिक काम न हो सका।

सन् १९३६-३७ में भारत सरकार ने श्री वुड तथा श्री ऐबट नाम के दो

वुड तथा ऐबट रिपोर्ट

सज्जनों को शिक्षा के पुनर्गठन, विशेषतः औद्योगिक शिक्षा के पुनर्गठन, के लिए आमंत्रित किया। इन दो सज्जनों की समिति को निम्न कार्य सौंपे गए :

१. प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर औद्योगिक शिक्षा के स्वरूप तथा उसे प्रारम्भ करने सम्बन्धी सुझाव देना।

२. तात्कालिक व्यावसायिक तथा औद्योगिक संस्थाओं के पुनर्गठन तथा विकास के सुझाव देना।

इस समिति ने देश में माध्यमिक स्तर की औद्योगिक तथा व्यावसायिक शालाएँ खोलने का सुझाव दिया। इस समिति के सुझावों के फलस्वरूप देश में औद्योगिक, कृषि, व्यावसायिक शालाएँ तथा पोलीटेकनिक संस्थाएँ स्थापित हुईं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद सन् १९४४ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने युद्धोत्तर काल में शिक्षा के विकास के लिए एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की।

सार्जेण्ट रिपोर्ट

इसे सार्जेण्ट रिपोर्ट भी कहते हैं। इस रिपोर्ट में अनिवार्य निःशुल्क बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था (६ से १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए) तथा माध्यमिक शिक्षा को एक पूर्ण स्वतन्त्र अंग के रूप में रखा गया। माध्यमिक शिक्षा के लिए इसमें दो प्रकार की शालाएँ सुझाई गईं : (१) साहित्यिक तथा (२) व्यावसायिक। इन दोनों प्रकार की शालाओं का उद्देश्य माध्यमिक स्तर पर सर्वांगीण शिक्षा की व्यवस्था करना तथा बालकों को शाला छोड़ने पर किसी एक उद्योग चुनने तथा करने में सहायक सिद्ध होना है।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् तथा डा० ताराचन्द समिति

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सन् १९४८ में अपनी १४वीं बैठक में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद ने माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया। फलस्वरूप डा० ताराचन्द की अध्यक्षता में, जो उस समय केन्द्रीय शिक्षा-विभाग के शिक्षा-सचिव थे, एक समिति गठित की गई। इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए अनेक सुझाव दिये। इन सुझावों पर केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद ने १९४९ में इलाहाबाद में हुई अपनी १५वीं बैठक में विचार किया। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गए, जैसे विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए ४ वर्षीय माध्यमिक शिक्षा आवश्यक हो। अंग्रेजी माध्यम समाप्त करके मातृभाषा को माध्यम बनाया जाये तथा राष्ट्रभाषा की शिक्षा अनिवार्य की जाये, प्रान्तीय शिक्षा बोर्ड स्थापित किये जायें आदि के साथ-साथ माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए सुझाव देने के हेतु एक उच्चस्तरीय माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना की जाये। केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-परिषद ने अपनी १९५१ की बैठक में माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना के प्रस्ताव को पुनः दुहराया। फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने २३ सितम्बर १९५२ को एक माध्यमिक शिक्षा आयोग की स्थापना की, जिसके अध्यक्ष डा० मुदालियर थे। अतः इसे मुदालियर आयोग भी कहते हैं।

इसी बीच में केन्द्रीय सरकार ने विश्वविद्यालयीन शिक्षा के पुनर्गठन-सम्बन्धी सुझाव देने के लिए सन् १९४८ में डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में एक विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की स्थापना की। विश्वविद्यालयीन शिक्षा-सम्बन्धी

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८)

विचार करते समय इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर भी विचार किया तथा माध्यमिक शिक्षा को इण्टरमीडिएट कक्षा स्तर का बनाने का सुझाव दिया। इस आयोग ने स्पष्ट रूप से यह व्यक्त किया कि "भारतीय शिक्षा में माध्यमिक शिक्षा सबसे कमजोर कड़ी है। अतः इसमें तत्काल ही सुधार आवश्यक है।"

माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२)

इस आयोग की स्थापना २३ सितम्बर १९५२ को हुई। इसके अध्यक्ष डा० मुदालियर के अतिरिक्त निम्न सदस्य थे :

१. प्रिंसिपल जॉन क्रिस्ट, आक्सफोर्ड
२. डा० केनेथ रास्ट विलियम्स (यू० एस० ए०)
३. श्रीमती हंसा मेहता
४. श्री तारापोरवाला
५. डा० के० एल० श्रीमाली
६. श्री टी० एम० व्यास
७. श्री के० जी० सैय्यदेन
८. प्रिंसिपल ए० एन० बसु

इस आयोग का उद्घाटन भारत के तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री मौलाना आजाद ने ६ अक्टूबर १९५२ को किया। आयोग ने अपना विस्तृत प्रतिवेदन जून १९५३ को केन्द्रीय सरकार को अर्पित कर दिया। इस प्रतिवेदन में भारतीय मान्यताओं, आदर्शों तथा आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के निम्न दोष बतलाये हैं :

माध्यमिक शिक्षा के दोष

१. वर्तमान माध्यमिक शिक्षा अरोचक, कृत्रिम है। यह सर्वांगी भी नहीं है।
२. यह बालक-बालिकाओं की विभिन्न रुचियों या एक ही बालक-बालिका की विभिन्न रुचियों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती।
३. यह छात्रों को सुनागरिक नहीं बनाती। यह उनमें सुनागरिक के

लिए आवश्यक गुणों, जैसे अनुशासन, विनय, सहयोग, स्वावलम्बन नेतृत्व आदि का विकास नहीं करती।

४. यह परीक्षा को बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। परीक्षा-प्रणाली भी दूषित है क्योंकि इसके द्वारा छात्रों के ज्ञान की वास्तविक परीक्षा नहीं हो पाती है।

५. यह पुस्तकीय है। फलस्वरूप यह बालक-बालिकाओं को उपयोगी व्यवसाय दिलाने में असमर्थ रहती है।

६. इसका पाठ्यक्रम बोझिल तथा पाठ्य-पुस्तकें बालक-बालिकाओं की रुचि, योग्यता तथा आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं होतीं।

७. इसमें शिक्षण नीरस तथा भारस्वरूप होता है। इससे शिक्षक तथा बालक दोनों अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय नहीं दे पाते।

८. माध्यमिक शालाओं में बालकों की संख्या भी बहुत अधिक रहती है, जिससे शिक्षक-विद्यार्थी-सम्पर्क तथा सम्बन्ध घनिष्ठ रूप से स्थापित नहीं हो पाता है।

९. शिक्षा के अत्यधिक विस्तार के कारण योग्य तथा अनुभवी शिक्षकों की कमी है।

१०. माध्यमिक शालाओं में अनेक छात्र ऐसे भरती होते हैं जिनके घर का वातावरण शाला की शिक्षा का पूरक तथा उसमें सहायक नहीं होता। अतः माध्यमिक शालाओं को इस उत्तरदायित्व का वहन भी करना चाहिए। पर आज वे इस उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर रही हैं।

११. माध्यमिक शालाओं में ऐसी सह-पाठ्यक्रमगामी क्रियाओं की व्यवस्था नहीं है जो बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक हों। तात्पर्य यह है कि मस्तिष्क, शरीर, रुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करनेवाली सह-पाठ्यक्रमगामी क्रियाओं का वर्तमान माध्यमिक शालाओं में अभाव है।

१२. खेल तथा मनोरंजनात्मक क्रियाओं की सुविधाओं की कमी भी अन्यतम है।

आयोग ने इन उपरोक्त दर्शाये दोषों को निम्न छः भागों में विभक्त

किया है :

१. माध्यमिक शिक्षा का भावी जीवन से विलगाव।

२. माध्यमिक शिक्षा का एकांगीपन तथा संकीर्णता।

३. शिक्षा का माध्यम अनेक स्थानों में अंग्रेजी तथा अंग्रेजी को महत्त्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति।

४. शिक्षण-पद्धतियाँ स्वतन्त्र चिन्तन तथा कार्य करने की क्षमता के विकास में सहायक नहीं।

५. शिक्षक-विद्यार्थी-सम्पर्क तथा सम्बन्ध की कमी।

६. परीक्षा पर महत्त्व अधिक होने से चरित्र-निर्माण में सहायक न होना।

आयोग ने इन दोषों के दूर करने तथा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :

इनके संबंध में विस्तार से चर्चा इसी अध्याय में की जा चुकी है। अतः यहाँ संक्षेप में संकेत-मात्र ही किया जाता है।

माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य

भारत एक धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणतंत्र है। भारत प्राकृतिक साधनों से समृद्ध है पर देशवासी इनके उपयोग न होने से गरीब हैं तथा उनका जीवन-स्तर निम्न है। गरीबी आदि के कारण देशवासियों का ध्यान सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिविधियों की ओर नहीं रहता।

इन परिस्थितियों तथा मान्यताओं के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के निम्न उद्देश्य होना चाहिए :

१. आदर्श नागरिकों का निर्माण करना, जिससे वे भारतीय धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र के उत्तरदायित्वों का वहन कर सकें।

२. छात्रों की व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमताओं का विकास करना, जिससे देश का अधिक उत्थान सम्भव हो।

३. मानवीय गुणों का विकास करना, जिससे देश का सांस्कृतिक उत्थान हो सके तथा एक प्रगतिशील राष्ट्रीय संस्कृति का विकास सम्भव हो।

४. नेतृत्व की भावना का विकास करना जिससे छात्र देश के नागरिक जीवन में समाज के सच्चे नेता बन सकें।

इसके संबंध में भी इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तार से चर्चा की गई है। संक्षेप में माध्यमिक शिक्षा का संगठन निम्न प्रकार सुझाया गया है :

माध्यमिक शिक्षा का संगठन

(अ) ४ या ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा।

(ब) पूर्व-माध्यमिक या जूनियर बेसिक स्तर की शिक्षा ३ वर्ष।

(स) उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा ४ वर्ष।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा रखने का सुझाव दिया। अंग्रेजी पढ़ने के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा।

शिक्षा का माध्यम तथा भाषाओं की शिक्षा

आयोग ने अंग्रेजी को वैकल्पिक रूप में पढ़ाने की सिफारिश की। राज्य में विभिन्न भाषा बोलनेवाले अल्प-संख्यकों के लिए आयोग ने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् द्वारा १९४९ की बैठक में दिये गए सुझावों के अनुसार सुविधा देने की सिफारिश की।

मिडिल या पूर्व-माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक छात्र को कम-से-कम दो भाषाएँ पढ़ाई जायें पर एक ही वर्ष में दो भाषाएँ न सिखाई जायें। अंग्रेजी तथा हिन्दी जूनियर बेसिक स्तर के अन्तिम वर्ष से प्रारम्भ की जायें।

माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कम-से-कम दो भाषाओं का ज्ञान दिया जाये, जिसमें से एक मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा हो।

आयोग ने पाठ्यक्रम में निम्न गुण होना उपयोगी बतलाया :

पाठ्यक्रम

१. पाठ्यक्रम बालकों की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास करने-वाला हो।

२. परिवर्तनशील हो जिसमें बालकों की आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन किया जा सके।

३. सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

४. समय का सदुपयोग सिखानेवाला हो।

५. विषयों में बँटा हुआ न होकर ज्ञान-क्षेत्रों में बँटा हुआ हो।

इन उपरोक्त सिद्धान्तों पर आधारित पाठ्यक्रम में निम्न विषय निर्धारित किये गए हैं :

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (१९४८)

विचार करते समय इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा पर भी विचार किया तथा माध्यमिक शिक्षा को इण्टरमीडिएट कक्षा स्तर का बनाने का सुझाव दिया। इस आयोग ने स्पष्ट रूप से यह व्यक्त किया कि "भारतीय शिक्षा में माध्यमिक शिक्षा सबसे कमजोर कड़ी है। अतः इसमें तत्काल ही सुधार आवश्यक है।"

माध्यमिक शिक्षा आयोग (१९५२)

इस आयोग की स्थापना २३ सितम्बर १९५२ को हुई। इसके अध्यक्ष डा० मुदालियर के अतिरिक्त निम्न सदस्य थे :

१. प्रिंसिपल जॉन क्रिस्ट, आक्सफोर्ड
२. डा० केनेथ रास्ट विलियम्स (यू० एस० ए०)
३. श्रीमती हंसा मेहता
४. श्री तारापोरवाला
५. डा० के० एल० श्रीमाली
६. श्री टी० एम० व्यास
७. श्री के० जी० सैय्यदेन
८. प्रिंसिपल ए० एन० बसु

इस आयोग का उद्घाटन भारत के तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री मौलाना आजाद ने ६ अक्टूबर १९५२ को किया। आयोग ने अपना विस्तृत प्रतिवेदन जून १९५३ को केन्द्रीय सरकार को अर्पित कर दिया। इस प्रतिवेदन में भारतीय मान्यताओं, आदर्शों तथा आवश्यकताओं की पृष्ठभूमि में माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के निम्न दोष बतलाये हैं :

माध्यमिक शिक्षा के दोष

१. वर्तमान माध्यमिक शिक्षा अजीवक, कृत्रिम है। यह लचीली भी नहीं है।

२. यह बालक-बालिकाओं की विभिन्न रुचियों या एक ही बालक-बालिका की विभिन्न रुचियों तथा आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती।

३. यह छात्रों को सुनागरिक नहीं बनाती। यह उनमें सुनागरिक के

लिए आवश्यक गुणों, जैसे अनुशासन, विनय, सहयोग, स्वावलम्बन नेतृत्व आदि का विकास नहीं करती।

४. यह परीक्षा को बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। परीक्षा-प्रणाली भी दूषित है क्योंकि इसके द्वारा छात्रों के ज्ञान की वास्तविक परीक्षा नहीं हो पाती है।

५. यह पुस्तकीय है। फलस्वरूप यह बालक-बालिकाओं को उपयोगी व्यवसाय दिलाने में असमर्थ रहती है।

६. इसका पाठ्यक्रम सीमित तथा पाठ्य-पुस्तकें बालक-बालिकाओं की रुचि, योग्यता तथा आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं होतीं।

७. इसमें शिक्षण नीरस तथा भारस्वरूप होता है। इससे शिक्षक तथा बालक दोनों अपनी योग्यता का पूर्ण परिचय नहीं दे पाते।

८. माध्यमिक शालाओं में बालकों की संख्या भी बहुत अधिक रहती है, जिससे शिक्षक-विद्यार्थी-सम्पर्क तथा सम्बन्ध घनिष्ठ रूप से स्थापित नहीं हो पाता है।

९. शिक्षा के अत्यधिक विस्तार के कारण योग्य तथा अनुभवी शिक्षकों की कमी है।

१०. माध्यमिक शालाओं में अनेक छात्र ऐसे भरती होते हैं जिनके घर का वातावरण शाला की शिक्षा का पूरक तथा उसमें सहायक नहीं होता। अतः माध्यमिक शालाओं को इस उत्तरदायित्व का वहन भी करना चाहिए। पर आज वे इस उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर रही हैं।

११. माध्यमिक शालाओं में ऐसी सह-पाठ्यक्रमवाली क्रियाओं की व्यवस्था नहीं है जो बालक के सर्वांगीण विकास में सहायक हों। तात्पर्य यह है कि समिलन, मैत्री, रुचियों, शारीरिक विकास तथा सामाजिकता के गुणों का विकास करनेवाली सह-पाठ्यक्रमवाली क्रियाओं का वर्तमान माध्यमिक शालाओं में अभाव है।

१२. खेल तथा मनोरंजनात्मक क्रियाओं की सुविधाओं की कमी भी अत्यधिक है।

आयोग ने इन उपर्युक्त दर्शाये दोषों को निम्न छः मार्गों में विभक्त

किया है :

१. माध्यमिक शिक्षा का भावी जीवन से विलगाव।
२. माध्यमिक शिक्षा का एकांगीपन तथा संकीर्णता।
३. शिक्षा का माध्यम अनेक स्थानों में अंग्रेजी तथा अंग्रेजी को महत्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति।
४. शिक्षण-पद्धतियाँ स्वतन्त्र चिन्तन तथा कार्य करने की क्षमता के विकास में सहायक नहीं।
५. शिक्षक-विद्यार्थी-सम्पर्क तथा सम्बन्ध की कमी।
६. परीक्षा पर महत्त्व अधिक होने से चरित्र-निर्माण में सहायक न होना।

आयोग ने इन दोषों के दूर करने तथा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए निम्न सुझाव दिये हैं :

इनके संबंध में विस्तार से चर्चा इसी अध्याय में की जा चुकी है। अतः

माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य

यहाँ संक्षेप में संकेत-मात्र ही किया जाता है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र है। भारत प्राकृतिक साधनों से समृद्ध है पर देशवासी इनके उपयोग न होने से गरीब हैं तथा उनका जीवन-स्तर निम्न है। गरीबी आदि के कारण देशवासियों का ध्यान सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिविधियों की ओर नहीं रहता।

इन परिस्थितियों तथा मान्यताओं के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के निम्न उद्देश्य होना चाहिए :

१. आदर्श नागरिकों का निर्माण करना, जिससे वे भारतीय धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र के उत्तरदायित्वों का वहन कर सकें।
२. छात्रों की व्यावहारिक तथा व्यावसायिक क्षमताओं का विकास करना, जिससे देश का अधिक उत्पादन सम्भव हो।
३. मानवीय गुणों का विकास करना, जिससे देश का सांस्कृतिक उत्थान हो सके तथा एक प्रगतिशील राष्ट्रीय संस्कृति का विकास सम्भव हो।
४. नेतृत्व की भावना का विकास करना जिससे छात्र देश के नागरिक जीवन में समाज के सच्चे नेता बन सकें।

इसके संबंध में भी इसी अध्याय में अन्यत्र विस्तार से चर्चा की गई है। संक्षेप में माध्यमिक शिक्षा का संगठन निम्न प्रकार सुझाया गया है :

माध्यमिक शिक्षा का संगठन

(अ) ४ या ५ वर्ष की प्राथमिक शिक्षा।

(ब) पूर्व-माध्यमिक या जीनियर बेसिक स्तर की शिक्षा ३ वर्ष।

(स) उच्चतर माध्यमिक स्तर की शिक्षा ४ वर्ष।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा रखने का सुझाव दिया। अंग्रेजी पढ़ने के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद रहा।

शिक्षा का माध्यम तथा भाषाओं की शिक्षा

आयोग ने अंग्रेजी को वैकल्पिक रूप में पढ़ाने की सिफारिश की। राज्य में विभिन्न भाषा बोलनेवाले अल्पसंख्यकों के लिए आयोग ने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद द्वारा १९४९ की बैठक में दिये गए सुझावों के अनुसार सुविधा देने की सिफारिश की।

मिडिल या पूर्व-माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक छात्र को कम-से-कम दो भाषाएँ पढ़ाई जायें पर एक ही वर्ष में दो भाषाएँ न सिखाई जायें। अंग्रेजी तथा हिन्दी जूनियर बेसिक स्तर के आखिरी वर्ष से प्रारम्भ की जायें।

माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कम-से-कम दो भाषाओं का ज्ञान दिया जाये, जिसमें से एक मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा हो।

आयोग ने पाठ्यक्रम में निम्न गुण होना उपयोगी बतलाया :

पाठ्यक्रम

१. पाठ्यक्रम बालकों की विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास करनेवाला हो।

२. परिवर्तन शील हो जिसमें बालकों की आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन किया जा सके।

३. सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

४. समय का सदुपयोग सिखानेवाला हो।

५. विषयों में बँटा हुआ न होकर ज्ञान-क्षेत्रों में बँटा हुआ हो।

इन उपर्युक्त सिद्धान्तों पर आधारित पाठ्यक्रम में निम्न विषय निर्धारित किये गए हैं :

मिडिल शालाओं के लिए (सभी अनिवार्य)

१. भाषा २. समाजिक-अध्ययन ३. सामान्य विज्ञान ४. गणित ५. कला और संगीत ६. उद्योग ७. शारीरिक शिक्षा।

माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर की कक्षाओं के लिए :

(अ) अनिवार्य विषय :

१. भाषा २. सामान्य विज्ञान ३. सामाजिक अध्ययन ४. उद्योग।

(ब) विविधतावाले वैकल्पिक विषयों के समूह :

१. मानवीय विषय २. विज्ञान ३. टेक्नीकल ४. व्यापारिक ५. कृषि ६. ललित-कलाएँ ७. गृह-विज्ञान।

ये विविधतावाले विषय माध्यमिक स्तर के द्वितीय वर्ष से प्रारम्भ किये जायँ।

पाठ्य-पुस्तकों का शिक्षा-स्तर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः आयोग ने पाठ्य-पुस्तकों के उच्चस्तर बनाये रखने के लिए एक "उच्च

(४) पाठ्य-पुस्तक शक्ति प्राप्त समिति" गठन करने का सुझाव दिया। इस समिति में निम्न सदस्य रहेंगे :

१. उच्च न्यायालय का न्यायाधीश।

२. राज्य जन-सेवा-आयोग का सदस्य।

३. राज्य के किसी एक विश्वविद्यालय का उपकुलपति।

४. राज्य का एक प्रधानाध्यापक या प्रधानाध्यापिका।

५. शिक्षा-संचालक।

इसके साथ-साथ पुस्तक-निर्माण के विकास के लिए विशिष्ट संस्था खोलने, केन्द्र तथा राज्य सरकार के अच्छे चित्रों के ब्लाक के संग्रहालय खोलने तथा इनसे प्रकाशकों को ब्लाक उधार देने, किसी विषय के लिए केवल एक ही पुस्तक निर्धारित न करने आदि के सुझाव दिये।

किसी भी पाठ्यक्रम की सफलता के लिए उत्तम शिक्षण-विधियों का होना आवश्यक है। अच्छी शिक्षण-विधि में निम्न गुण होना

(५) शिक्षण की चाहिए :

गतिशील विधियाँ १. कार्य के प्रति रुचि जगाने तथा उसे अच्छे-से-अच्छे ढंग से पूर्ण करने की अभिलाषा जाग्रत करे।

२. ज्ञान को सार्थक तथा वास्तविक बनाये।
३. जीवन, शाला तथा समाज के बीच की दूरी को कम करे।
४. स्पष्ट चिन्तन की प्रेरणा दे।
५. अभिरुचियों का वृत्त विस्तृत करे।

आज की शिक्षण-विधियों में उपरोक्त गुण नहीं होते हैं। अतः उनमें निम्न सुधार किये जाने चाहिए :

१. शब्दों द्वारा ज्ञान देने पर बल न देकर क्रिया के आधार पर या योजना बनाकर ज्ञान दिया जाये।
२. शाला कार्यक्रम में "अभिव्यक्ति-कार्य" को प्रोत्साहित किया जाये।
३. छात्रों को स्वयं अध्ययन करके स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की रीतियों में प्रशिक्षित किया जाये।
४. छात्रों को "समूह में कार्य" करने के अवसर अधिक दिये जायें।
५. अच्छे पुस्तकालयों की व्यवस्था की जाये।

(१) चरित्र-निर्माण

आयोग ने चरित्र-निर्माण पर अधिक महत्त्व दिया है। चरित्र-निर्माण इस प्रकार होना चाहिए कि "विद्यार्थियों की सभी अन्तर्निहित शक्तियाँ अधिकतम मात्रा में विकसित हों तथा समाज का कल्याण भी हो।" इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिये :

१. शालाओं को समाज के दोषों को दूरकर उसके विकास तथा उत्थान के प्रयत्न करना चाहिए।
२. चरित्र निर्माण में समाज, शिक्षक, पालक सभी का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।
३. चरित्र निर्माण की शिक्षा किसी घण्टे-विशेष तक सीमित नहीं होनी चाहिए।
४. अनुशासनहीनता दूर होना आवश्यक है। इसके लिए सभी को सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिए।
५. धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा चरित्र निर्माण के लिए आवश्यक है। पर धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होने से शालाओं में किसी धर्म विशेष की शिक्षा

नहीं दी जा सकती, पर नैतिक प्रशिक्षण अवश्य दिया जा सकता है। धर्म की शिक्षा स्वेच्छा पर शाला के घण्टों के बाद दी जा सकती है।

६. सह-पाठ्यक्रमगामी क्रियाओं का बाहुल्य तथा उचित व्यवस्था की जाये। इन्हें शाला पाठ्यक्रम का अंगागी समझा जाये।

७. १७ वर्ष से कम आयु के बालकों का उपयोग राजनैतिक प्रचार में न करने के लिए कानून बनाया जाये।

८. राज्य में कैम्प आदि का आयोजन किया जाये। पूर्व-प्राथमिक चिकित्सा, सेंट जॉन एम्बुलेन्स आदि के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाये।

९. राष्ट्रीय छात्र सैनिकदल की व्यवस्था (एन० सी० सी०) केन्द्रीय सरकार द्वारा हो।

(७) शिक्षा-निर्देश तथा परामर्श

अच्छी शिक्षा प्रणाली की सफलता के लिए छात्रों की रुचियों तथा क्षमताओं का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। अतः प्रत्येक माध्यमिक शाला में छात्रों को उचित शैक्षणिक निर्देश तथा परामर्श मिलना चाहिए। बालकों को विभिन्न व्यवसायों तथा उद्योगों की आवश्यकताओं, क्षमताओं, कार्यों, महत्वों आदि से परिचित कराने के लिए फिल्मों, औद्योगिक स्थानों के भ्रमण आदि की व्यवस्था करनी चाहिए। शालाओं में शैक्षणिक तथा व्यावसायिक परामर्शदाताओं की नियुक्तियाँ की जायें। इनके प्रशिक्षण की व्यवस्था भी प्रत्येक राज्य में की जाये।

(८) शारीरिक स्वास्थ्य शिक्षा

छात्रों के शारीरिक स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान दिया जाना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक राज्य में सुव्यवस्थित "शाला चिकित्सा सेवा" संगठित की जाये। छात्रों की पूर्ण जाँच तथा बीमारियों की चिकित्सा की व्यवस्था की जाये। छात्रावासों में अच्छा पौष्टिक भोजन दिया जाये। छात्रों के शारीरिक कार्यों का लेखा रखा जाये, शाला के आसपास सफाई रखी जाये तथा बालकों से इसमें सहायता ली जाये, शिक्षकों को शारीरिक शिक्षा में प्रशिक्षित करने की सुविधाएँ बढ़ाई जायें, शिक्षकों को पूर्व प्राथमिक चिकित्सा का प्रशिक्षण दिया जाये तथा शारीरिक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाये।

आयोग ने इसे बहुत महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि किसी भी शाला का नाम शिक्षक की योग्यता, शाला तथा समाज में उनका स्थान, उनके व्यावसायिक प्रशिक्षण आदि पर निर्भर करता है। आयोग ने शिक्षकों तथा उनके प्रशिक्षण की स्थिति को असन्तोषजनक निरूपित किया तथा इसमें पर्याप्त सुधार करना आवश्यक बताया। इसके लिए उसने निम्न सुझाव दिये :

(९) शिक्षक तथा शिक्षक-प्रशिक्षण

१. माध्यमिक शालाओं में स्नातक तथा शिक्षक-प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षक रहें। प्राविधिक विषयों की शिक्षा देनेवाले शिक्षक प्राविधिक में स्नातक हों।
२. एक-सी योग्यता तथा समान श्रेणी के कार्य करनेवाले शिक्षकों का वेतन समान हो।
३. शिक्षकों को उचित वेतन देने की व्यवस्था की जाये।
४. शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए त्रिमुखी योजना अर्थात् पेन्शन, प्राविडेण्ट फण्ड तथा बीमा प्रारम्भ की जाये।
५. शिक्षकों की कठिनाइयों तथा प्रार्थनाओं को सुनने के लिए निर्णायक मण्डल या समितियाँ बनाई जायें।
६. शिक्षकों के सेवामुक्त होने की अवधि शिक्षा-निर्देशक के परामर्श पर ६० वर्ष रखी जाये।
७. शिक्षकों के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा सम्पूर्ण विद्यार्थी जीवन-भर दी जाये।
८. शिक्षकों तथा उनके आश्रितों को निःशुल्क चिकित्सा भी उपलब्ध कराई जाये।
९. ट्यूशन-प्रथा बिल्कुल बन्द कर दी जाये।
१०. माध्यमिक शालाओं के प्रधानाध्यापक का पद महत्त्वपूर्ण समझा जाये तथा इसके लिए अच्छे वेतन की व्यवस्था की जाये।

शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालय दो प्रकार के हों (१) स्नातकों के लिए एक वर्ष के तथा विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध और (२) माध्यमिक शिक्षा-प्राप्त शिक्षकों के लिए दो वर्ष के। शिक्षक प्रशिक्षण-संस्थाओं में पुनश्चर्या कोर्स आयोजित किये जायें

तथा सभी प्रशिक्षण विद्यालय आवास की सुविधाओं सहित हों, जिसमें सामुदायिक जीवन व्यतीत किया जा सके।

आयोग ने परीक्षा तथा योग्यता-निर्धारण को प्रमुख तथा महत्वपूर्ण बताया। इससे अनेक लाभ हैं, जैसे :

(१०) परीक्षा १. छात्रों के माता-पिता तथा शिक्षकों को छात्रों की प्रगति का पता लगता रहता है।

२. छात्रों को स्वयं अपनी योग्यता तथा स्तर का ज्ञान हो जाता है।

३. समाज को शाला द्वारा वहन किये जा रहे उत्तरदायित्व का ज्ञान हो जाता है। इसके सन्तोषप्रद या असन्तोषप्रद होने का ज्ञान भी समाज को होता है। पर परीक्षा-प्रणाली में सुधार आवश्यक है। इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिये :

१. बालक के वर्ष-भर के कार्य का विवरण रखा जाये तथा उस पर जाँच के समय उचित ध्यान दिया जाये।

२. अंकों के बदले सांकेतिक चिह्न प्रयुक्त किये जायें।

३. आन्तरिक परीक्षाओं तथा टेस्टों का परिणाम भी अन्तिम परीक्षा-फलों में अंकित किया जाये।

४. निबन्ध-प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए वस्तुरूप प्रश्न-प्रणाली को अपनाया जाये।

५. माध्यमिक शिक्षा के अन्त में एक सार्वजनिक परीक्षा ली जायें।

शिक्षा-संस्थाओं के उचित मार्गदर्शन तथा संगठन के लिए उचित प्रशासन आवश्यक है। इसके लिए आयोग ने निम्न सुझाव दिये :

(११) प्रशासन १. शिक्षा मन्त्री को लोक-शिक्षा-निर्देशक या संचालक ही परामर्श दे तथा इसका पद संयुक्त शिक्षा-सचिव के समकक्ष समझा जाये।

२. माध्यमिक शिक्षा के लिए "माध्यमिक शिक्षा मण्डल" गठित किये जायें। इसके अध्यक्ष लोक शिक्षा-संचालक ही रहें।

३. शिक्षकों की समुचित शिक्षण प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए एक "शिक्षक प्रशिक्षण बोर्ड" की स्थापना की जाये।

४. शिक्षा-संबंधी विषयों पर परामर्श के लिए केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् बनी रहे तथा राज्य-स्तर पर भी ऐसी परिषदें स्थापित की जाय।
५. शिक्षा-निर्देशकों को शिक्षा-समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए तथा समय-समय पर शिक्षकों को उचित परामर्श देना चाहिए।
६. शालाओं को अच्छे स्तर तथा सभी शर्तों की पूर्ति पर ही मान्यता दी जाये।
७. प्रत्येक शाला की प्रबन्धकारिणी समिति होनी चाहिए तथा उसे रजिस्टर्ड किया जाये। प्रधानाध्यापक इसके पदेन सदस्य रहें। विद्यालय के आन्तरिक मामलों का उत्तरदायित्व प्रधानाध्यापक पर ही हो।

माध्यमिक शिक्षा के लिए धन जुटाने तथा कमी-पूर्ति के हेतु आयोग ने निम्न सुझाव दिये :

(१२) अर्थ-व्यवस्था १. केन्द्रीय सरकार व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करे।
२. व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा-व्यवस्था के लिए "औद्योगिक शिक्षा उपकर" लगाया जाये।
३. शिक्षण संस्थाओं को दिये गए दान पर कोई कर न लगाया जाये।
४. शिक्षण संस्थाओं द्वारा खरीदी गई सामग्री पर कोई चुंगी न लगाई जाये।
५. केन्द्र माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए पर्याप्त आर्थिक सहायता दे। इसके अतिरिक्त आयोग ने प्रत्येक सत्र में कार्य व अवकाश के दिनों, विद्यालय भवन आदि के संबंध में भी सुझाव दिये हैं।

आयोग के सुझावों में अनेक सुझाव मौलिक तथा सुन्दर हैं, जैसे माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षा-विधि, चरित्र-निर्माण, शैक्षणिक निर्देशन तथा परामर्श, स्वास्थ्य-रक्षा-शिक्षा, परीक्षाओं में आन्तरिक वर्ष-भर के कार्यों का महत्त्व आदि। शिक्षकों की दशा सुधारने तथा शिक्षक-प्रशिक्षण के सम्बन्ध में आयोग के सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं। परीक्षा-प्रणाली तथा पाठ्यक्रम-सम्बन्धी सुझावों में अवश्य ही मौलिकता का अभाव है। इन सुझावों से माध्यमिक शिक्षा में चले आये

समीक्षा

परम्परागत दोषों का निराकरण सम्भव नहीं दिखाई देता। इस आयोग में महिला-शिक्षा पर विस्तृत रूप से कोई विचार नहीं किया गया। किसी भी समाज की उन्नति उसकी महिलाओं की स्थिति तथा शिक्षा पर ही निर्भर है। इस दृष्टि से इस महत्वपूर्ण पक्ष की उपेक्षा-सी की गई है। इस सम्बन्ध में केवल गृह-विज्ञान तथा कुछ सुविधाओं के देने-मात्र से कार्य नहीं चल सकता है। पाठ्य-पुस्तकों के चुनाव के लिए उच्च-शक्ति-प्राप्त समिति का गठन अच्छी बात है, पर इसमें योग्य शिक्षकों का प्रतिनिधित्व और भी अधिक होना चाहिए था। साथ-ही-साथ छपाई, प्रकाशन आदि से सम्बन्धित विशेषज्ञों का सम्मिलित किया जाना अनेक दृष्टिकोणों से लाभकारी होता।

मध्यप्रदेश में माध्यमिक शिक्षा

संगठन मध्यप्रदेश की माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझावों के अनुसार किया गया है। इसके लिए कक्षा ५वीं प्राथमिक शिक्षा-स्तर में जोड़ी गई है तथा शिक्षा-संगठन निम्न प्रकार बनाया गया है :

(१) कक्षा ६ से ८ तक—पूर्व-माध्यमिक या सीनियर बेसिक

(२) कक्षा ९ से १० या ६ से १० — माध्यमिक शाला

(३) कक्षा ९ से ११ या कक्षा ६ से ११ — उच्चतर माध्यमिक शाला

(४) कक्षा ९ से १२ तक — अन्तर महाविद्यालय

विश्वविद्यालयीन स्तर पर ३ वर्षीय पाठ्यक्रम लागू करने से राज्य के अन्तर-महाविद्यालयों को स्नातक महाविद्यालयों में परिवर्तित कर दिया गया है।

इन सामान्य माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक शालाओं के अतिरिक्त राज्य के महाकोशल क्षेत्र के प्रत्येक जिला-केन्द्र की माध्यमिक शाला को बहु-उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक शाला बनाया गया है। राज्य में कृषि हाई स्कूल,

सिन्धिया स्कूल ग्वालियर, डेली कालेज इन्दौर तथा राजकुमार कालेज रायपुर में विशेषीकृत माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध है।

शिक्षा-विकास

क्रमांक	संस्थाएँ	५५–५६	५६–५७	५७–५८	६०–६१
१	मिडिल शालाएँ	१,४३०	१,६०४	१,७९१	१,९७८
२	माध्यमिक शालाएँ	३९२	४१४	४५७	६५०

राज्य में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए प्रत्येक राज्य की तहसील में, जहाँ माध्यमिक शाला नहीं थी, माध्यमिक शालाएँ खोली गई हैं।

स्त्री शिक्षा की प्रगति के लिए सीधी, अम्बिकापुर बेगमगंज तथा राजगढ़ में कन्या माध्यमिक शालाएँ खोली गई हैं। राज्य के प्रायः प्रत्येक जिले के केन्द्र में एक-एक कन्या माध्यमिक शालाएँ चल रही हैं। सन् १९५८-५९ में ५ कन्या मिडिल शालाओं को उच्च माध्यमिक शालाओं में परिवर्तित किया गया।

राज्य के पिछड़े क्षेत्रों में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के लिए बाघ (धार), डभौरा (रीवाँ) तथा शाहनगर (पन्ना) में शालाएँ खोली गई हैं। १९६०-६१ में ५ नयी उच्च माध्यमिक शालाएँ खोली जायेंगी तथा १० कन्या मिडिल शालाओं को माध्यमिक बनाया जायेगा।

माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए, शासन ने माध्यमिक शालाओं को त्रिवर्षीय उच्चतर तथा बहुउद्देशीय माध्यमिक शालाओं में परिवर्तन करने की नीति अपनाई है। इस नीति के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में ११६ माध्यमिक शालाओं को परिवर्तित करने की योजना थी। पर अभी तक २९८ माध्यमिक शालाओं को उच्चतर माध्यमिक बनाया जा चुका है। सन् १९५७-५८ में केवल ६९ शालाएँ [illegible] उच्चतर बनाई गई थीं। १९६०-६१ में १० त्रिवर्षीय माध्यमिक शालाओं को उच्चतर बनाने का प्रावधान है।

माध्यमिक शालाओं को उच्चतर शालाओं में परिवर्तित करने से इनके प्रधानाध्यापकों को आचार्य और इनके वेतन-मान रु० २९०-३५० मासिक

कर दिया गया है तथा प्रत्येक उच्चतर माध्यमिक शाला में ६ शिक्षकों के पद व्याख्याता के पदों में रु०१५०-३५० के वेतन-मान में परिवर्तित किये गए हैं।

मध्यभारत, विन्ध्यप्रदेश तथा भोपाल क्षेत्रों की शासकीय उच्चतर माध्यमिक शालाओं में शिक्षकों के २-२ अतिरिक्त पद १९६०-६१ से बढ़ाने का निश्चय किया गया है, क्योंकि इनमें ११वीं कक्षा हो जाने से शिक्षकों की कमी प्रतीत हो रही है।

इसी प्रकार जिन माध्यमिक तथा उच्चतर शालाओं में विज्ञान-शिक्षण की सुविधाएँ नहीं थीं, वहाँ इसकी व्यवस्था की गई है।

सन् १९५९-६० सत्र में ४४ गैर-सरकारी माध्यमिक विद्यालयों को शासन ने अपने अधीन लिया है। प्रत्येक शाला से १०,००० रु० जन-सहयोग के रूप में प्राप्त हुआ है।

सरकार ने माध्यमिक शालाओं में छात्रों को प्रवेश देने को प्रोत्साहित करने के ध्येय से प्रवेश-सम्बन्धी (केवल लगातार दो वर्ष तक ४ विषयों में फेल होने को छोड़कर) सभी प्रतिबन्ध अलग कर दिये हैं। फलस्वरूप माध्यमिक शालाओं में छात्रों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है।

सन् १९६०-६१ सत्र से स्त्री-शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए शासन ने राज्य-स्तर पर प्रथम श्रेणी की एक वरिष्ठ महिला अधिकारी की नियुक्ति करने का निश्चय किया है। इससे स्त्री शिक्षा का प्रसार होगा। साथ-ही-साथ शिक्षिकाओं के लिए आवासगृहों को बनवाने तथा अधिक संख्या में सहायक जिला-शाला-निरीक्षिकाओं की नियुक्तियाँ भी की जा रही हैं। राज्य-स्तर पर स्त्री-शिक्षा के लिए एक विशेष समिति गठित करने का प्रस्ताव भी चल रहा है।

अभी तक राज्य के विलीनीकृत क्षेत्रों में माध्यमिक स्तर की शिक्षा की योजना तथा व्यवस्था निम्न परिषदों द्वारा की जाती थी :

माध्यमिक शिक्षा परिषद या बोर्ड	१. महाकोशल माध्यमिक शिक्षा परिषद — महाकोशल क्षेत्र
	२. मध्यभारत माध्यमिक शिक्षा परिषद — मध्यभारत क्षेत्र
	३. माध्यमिक तथा इण्टरमीडियट शिक्षा परिषद — विन्ध्यप्रदेश, भोपाल, सिरोंज

नये राज्य के पुनर्गठन के बाद परीक्षा-व्यवस्था तथा पाठ्यक्रम के एकीकरण के लिए सभी माध्यमिक शालाओं का सम्बन्ध निम्न दो परिषदों से कर दिया गया था :

१. महाकोशल माध्यमिक शिक्षा परिषद महाकोशल क्षेत्र के लिए।

२. मध्यभारत माध्यमिक शिक्षा परिषद राज्य के शेष क्षेत्रों के लिए।

१ नवम्बर सन् १९५९ में सम्पूर्ण राज्य के लिए एक माध्यमिक शिक्षा परिषद की स्थापना की गई है। यह सम्पूर्ण राज्य में माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों, शैक्षणिक मान्यताओं तथा परीक्षा-विषयक नियमों में एकरूपता लाने की दृष्टि से किया गया है।

पाठ्यक्रम

राज्य के विश्वविद्यालयों ने तीन वर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम स्वीकृत किया है। अतः जो छात्र पुराने पाठ्यक्रम के अनुसार मैट्रिक पास हुए हैं उनको उच्चतर माध्यमिक "बी" पाठ्यक्रम के आधार पर शिक्षा दी जाती है। अन्य छात्रों के लिए त्रिवर्षीय उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पाठ्यक्रम के अनुसार व्यवस्था है।

शिक्षक-प्रशिक्षण तथा चुनाव

माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए राज्य में तीन स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, पाँच स्नातकोत्तर प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा एक बी० टी० कालेज (जावरा) है। इसके अतिरिक्त छतरपुर में एक बी०एड० कक्षा चल रही है। १९६१-६२ में ग्वालियर में एक स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय भी खोला जाने वाला है।

माध्यमिक शिक्षकों को शिक्षा की नवीन गतिविधियों से परिचित कराने के लिए जबलपुर के प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय में सेमीनार सेशन तथा ओरिएन्टेशन सेशन हैं।

माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के चुनाव के लिए नियम बनाये गए हैं जिससे योग्यता तथा अनुभव के आधार पर नियुक्तियाँ की जा सकें। इन्हें सन् १९५९-६० सत्र में लागू किया गया है।

औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तांत्रिक शिक्षा

महत्व

भारत में लोहा, कोयला, सोना, मैंगनीज आदि अनेक धातुओं के वृहत् भाण्डार भरे पड़े हैं। इन प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता एवं बहुतायत से ही देश सम्पन्न नहीं हो सकता है। संसार के अनेक देश, जैसे जापान, स्विट्ज़रलैण्ड, हालैण्ड, जहाँ प्राकृतिक साधनों की इतनी अधिक प्रचुरता नहीं है, अपनी औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षमता के कारण भारत-जैसे प्रचुरता वाले देश से अधिक सम्पन्न हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि केवल प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता या कमी के कारण कोई देश धनी, उन्नतिशील या गरीब नहीं हो सकता है। किसी भी देश की उन्नति वहाँ की जनता के कौशल तथा काम करने की क्षमता पर निर्भर करती है। अमेरिका तथा इंग्लैण्ड, जो संसार में धनी और उन्नत देश माने जाते हैं, वहाँ की जनता के कौशल और कार्य करने की क्षमता के कारण ही इतने उन्नत हैं। अतः यह आवश्यक है कि देश की उन्नति तथा समुचित विकास के लिए औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाये।

व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के द्वारा उद्योग और व्यवसायों की वृद्धि करना या पश्चिमी देशों से प्रतियोगिता करके आगे बढ़ने की चेष्टा-मात्र से देश की उन्नति नहीं हो सकती। व्यक्ति का अपनी मानसिक क्षमता तथा शारीरिक कौशल का ज्ञान करना एवं उसमें अध्यवसाय, लगन और परिश्रम से अपना काम करने की अच्छी आदतों का विकास करना आवश्यक होगा। इसका तात्पर्य यह होगा कि औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के अन्तर्गत निर्माण, संगठन, कार्यविधि आदि के साथ-साथ अपनी बुद्धि से कार्य करके सन्तोष प्राप्त करेंगे आदि आयेंगे। इस प्रकार औद्योगिक तथा

व्यावसायिक शिक्षा व्यक्ति के मस्तिष्क, हाथ तथा हृदय का समन्वित विकास करके अपने परिश्रम तथा कौशल से कुछ प्राप्त करने का सुख देती है।

औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा प्रत्येक बालक और बालिका के लिए उपयोगी तथा आवश्यक है। इससे बालक-बालिका दोनों ही अपनी उन रुचियों तथा प्रवृत्तियों का पता लगा सकते हैं, जो भविष्य में किसी उद्योग या काम करने में उनके लिए सहायक हो सकें। यदि वे अपने जीवन में कोई उद्योग या व्यवसाय कर भी नहीं तो भी व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा उनकी आत्माभिव्यक्ति की क्षमता का विकास करके उन्हें आनन्दित करेगी तथा अवकाश के समय में उपयोगी और आनन्ददायक कार्य करने की योग्यता का विकास करेगी। इससे उन्हें जीवन में अच्छी सुन्दर वस्तुओं, कलाओं, कार्य करने की क्षमता आदि को समझने तथा उनसे आनन्दित होने की योग्यता प्राप्त होगी। उनमें चरित्र का उत्तम विकास सम्भव हो सकेगा। उनमें काम को स्फूर्ति तथा अच्छी तरह से करने की आदतों का विकास होगा।

इस प्रकार औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा न केवल कुछ चुने हुए बालक-बालिकाओं को दी जानी चाहिए बल्कि किसी-न-किसी रूप में सभी को उपलब्ध कराई जानी चाहिए, क्योंकि इससे वे अपने हाथों का कुशलता से उपयोग करना तथा कुशलता से शारीरिक श्रम करना सीख सकेंगे।

हमारे देश के संविधान के अनुसार १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य माना गया है। इसका मतलब यह हुआ कि १४ वर्ष के बालक-बालिकाओं को उनकी रुचियों, प्रवृत्तियों आदि के अनुसार विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाये। यह वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में विभिन्न उद्योगों की शिक्षा की व्यवस्था करके किया जा सकता है। यदि ऐसा न किया गया तो एकांगी नीरस शिक्षा बालक तथा राष्ट्र दोनों की दृष्टि से अनुपयोगी सिद्ध होगी।

हमारे देश के विकास के लिए औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तकनीकि शिक्षा व्यक्ति की कार्यक्षमता बढ़ाकर रोजगार तथा बड़े-बड़े उद्योगों के लिए उसे और अधिक उपयोगी बनाती है। इससे देश की उत्पादन-क्षमता की वृद्धि होने तथा बेकारी की

समस्या का भी कुछ-न-कुछ अंशों में हल अवश्य होगा। देश की प्रशिक्षित तान्त्रिकों की बढ़ती हुई आवश्यकता की पूर्ति भी इससे सम्भव हो सकेगी।)

उद्देश्य

हमारे देश में औद्योगिक, व्यावसायिक एवं तान्त्रिक शिक्षा किसी-न-किसी रूप में अति प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन काल में इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य 'व्यक्ति को किसी व्यवसाय के योग्य बनाना' था। पर अब विज्ञान के विकास तथा जीवन की जटिलता के फलस्वरूप वर्तमान काल की औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तान्त्रिक शिक्षा के उद्देश्यों में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब इस शिक्षा के, जैसा कि सार्जेंट रिपोर्ट में बताया गया है, प्रमुखतः दो उद्देश्य रह गए हैं :

१. उद्योग, व्यवसाय तथा शिक्षा के बीच की कड़ी के रूप में रहना; तथा
२. व्यक्ति-विशेष की बुद्धि, क्षमता आदि के अनुसार स्वयं एक विशेषीकृत शिक्षा के रूप में रहना।

इस प्रकार आजकल व्यावसायिक तथा तान्त्रिक शिक्षा दोनों रूपों में—एक विशिष्ट शिक्षा तथा सामान्य शिक्षा के अंग के रूप में—आवश्यक समझी जाने लगी है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग १९५२-५३) ने व्यावसायिक तथा तान्त्रिक शिक्षा के उद्देश्यों में निम्न बातें सम्मिलित की हैं : (१) सामान्य ज्ञान के साथ-साथ हाथ तथा हृदय की शिक्षा देना। (२) किसी व्यवसाय के लिए सामान्य योग्यता को बढ़ाना। (३) अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए काम देना। (४) जीवन के क्षेत्र में कला, योग्यता और सौन्दर्य की अनुभूति करने की क्षमता विकसित करना। (५) अधिक देर तक लगन तथा व्यवसाय में कार्य करने की आदतों तथा गुणों का विकास करना।

भारत में औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तान्त्रिक शिक्षा का विकास

भारतीय प्राचीन काल की शिक्षा धर्म से प्रधानतः संबंधित रही है, पर औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था भी साथ-साथ थी। यही कारण

प्राचीन काल

है कि भारत औद्योगिक निपुणता तथा आर्थिक सम्पन्नता के लिए प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन भारत औद्योगिक उत्पादन में न केवल अपने देश वरन् अन्य दूर-दूर के देशों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता था। श्री नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Discovery of India' में लिखा है कि "ईसा पूर्व ५वीं सदी में भारतीय व्यापारियों का एक उपनिवेश मिस्र के मेम्फिस नगर में विद्यमान था।' सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत का पश्चिमी देशों से व्यावसायिक सम्बन्ध और अधिक दृढ़ हो गया था। दक्षिणी पूर्वी देशों से भी भारत का बहुत प्राचीन काल से व्यापारिक सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में रेशमी, ऊनी और महीन सूती कपड़े, अस्त्र-शस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, हाथीदाँत, रत्न, सोना आदि भारतीय व्यवसाय की प्रसिद्ध वस्तुएँ था। इसके साथ-साथ लकड़ी के सामान जैसे पलंग, कुर्सी, रथ, नाव, जहाज आदि तैयार किये जाते थे। मिट्टी के बरतन भी बहुत मजबूत तथा सुन्दर बनते थे। श्री जे० एम० सेन ने अपनी पुस्तक 'History of Elementary Education in India' में लिखा है कि "कारीगर का प्राचीन काल में समुचित रूप से सम्मान मिलता था। अशोक ने कुशल कारीगरों की सुरक्षा के लिए कई नियम बनाये थे। अस्त्र-शस्त्र तथा जहाज बनानेवालों को राज्य की ओर से नियमित पारिश्रमिक मिलता था। बढ़ई, लोहार आदि व्यवसायियों के कार्यों के पर्यवेक्षण और निरीक्षण के लिए भी विशेष नियम निर्धारित थे।" सूत्र काल में व्यावसायिक शिक्षा में विशेषीकरण की रीति प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

राजकुमारों की शिक्षा में सैनिक शिक्षा, दण्डनीति, राजनीति, वार्ता आदि विषयों की शिक्षा रहती थी। कौटिल्य ने भी इसका उल्लेख किया है। मनु ने भी सभी क्षत्रिय राजकुमारों की अस्त्र-शस्त्र, वेद, राजनीति, वार्ता आदि की शिक्षा को उपयोगी माना है। पर सामान्य सैनिक के लिए राजनीति, दण्डनीति आदि आवश्यक न थे। क्षत्रियों के गुरु प्रायः ब्राह्मण ही होते थे। महाभारत में पाण्डवों तथा कौरवों के गुरु द्रोणाचार्य ही थे। मनु के अनुसार तो क्षत्रियों के लिए शिक्षा-कार्य करना वर्जित ही था। श्री शाह ने लिखा है कि इस प्रथा का प्रभाव क्षत्रियों की शिक्षा पर अच्छा न पड़ता था। पर क्षत्रियों की शिक्षा उपेक्षित

न रह पाती थी, जैसा कि श्री 'के' महोदय की पुस्तक 'Indian Education in Ancient and Later Times' से पता चलता है। उन्होंने लिखा है कि "अधिकांश ब्राह्मण शिक्षक सुयोग्य और कर्त्तव्यपरायण तथा सच्चरित्र होते थे। इनके संरक्षण में अधिकांश क्षत्रिय-कुमार उत्तम शिक्षा पाते थे।"

सैनिक शिक्षा के छात्रों के लिए एक विशेष प्रकार का उपनयन संस्कार होता था तथा शिक्षा की समाप्ति 'छुरिका बन्धन' संस्कार द्वारा होती थी। 'छुरिका बन्धन' की प्रथा 'खड्ग-बँधाई' के नाम से राजपूताने में १९वीं सदी तक प्रचलित रही है। श्री टाड भी यह मानते हैं कि इस प्रथा के अनुसार राजपूत अस्त्र-शस्त्र ग्रहणकर सैनिक जीवन में प्रवेश करते थे। यह प्रथा मध्य यूरोपीय 'नाइट' बनाने की प्रथा से साम्य रखती है। क्षत्रियों की यह शिक्षा बहुत समय तक अपने उद्देश्य में सफल रही, पर कालान्तर में यह शिथिल तथा रीतिबद्ध हो गई।

प्राचीन भारत में चिकित्सा की शिक्षा भी बहुत उन्नत अवस्था में थी। तक्षशिला प्राचीन काल में चिकित्सा-शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। भारत में ईसा की पहली सदी के बाद चिकित्सा-विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत विश्व के चिकित्सा इतिहास में अपना विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। चरक औषधि-शास्त्र तथा सुश्रुत शल्य-चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध हैं। ८वीं सदी में बगदाद के प्रसिद्ध खलीफा हारून-अल-रशीद ने अपने देश के सुयोग्य तरुणों को औषधि ज्ञान सीखने के लिए तक्षशिला भेजा था। श्री मजूमदार ने 'Education in Ancient India' में भी इसके सम्बन्ध में लिखा है तथा अनेक भारतीयों को उनके दरबार में निमन्त्रित किये जाने का भी उल्लेख किया है।

पशु-चिकित्सा के लिए भी भारत प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। श्री नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झलक' में लिखा है कि ई० पूर्व चौथी तथा तीसरी सदी में भारत में पशु चिकित्सा के लिए अनेक औषधालय खुले हुए थे। नकुल तथा सहदेव पशु चिकित्सा में दक्ष माने जाते थे। शालिहोत्र भारतीय पशु चिकित्सा के जन्मदाता माने जाते हैं। जैन तथा बौद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धान्त ने पशु चिकित्सा को बहुत प्रोत्साहन दिया। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सरकारी सेना विभाग के गजों, अश्वों आदि की चिकित्सा के लिए पशु चिकित्सकों की नियुक्ति का सुझाव दिया है।

चिकित्सा-शास्त्र का शिक्षा-प्रारम्भ भी एक विशेष प्रकार के उपनयन संस्कार से होता था। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ आदि को त्यागकर शिक्षा लेने, सादगी से रहकर गुरु के आदेशों को मानने, अपने कर्तव्यों का पालन करने, शिक्षा-प्राप्ति पर ब्राह्मण, गरीब, गुरु, मित्र आदि को बिना मूल्य के औषधि देने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। इस प्रतिज्ञा के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं : (१) छात्र जीवन आदर्श रूप से व्यतीत करना, तथा (२) लोक-कल्याण, न कि धन कमाने की भावना रखना।

वैदिक शिक्षा के समान औषधि या आयुर्वेद की शिक्षा ब्राह्मणों के हाथ में न थी। क्षत्रिय तथा वैश्य शिक्षक अपने वर्गों के छात्रों को इसकी शिक्षा देते थे। राधाकुमुद मुकर्जी ने 'Ancient Indian Education' में लिखा है, "आयुर्वेद की शिक्षा का द्वार सभी वर्णों के लिए खुला था।"[1] इससे पता चलता है कि शूद्र भी आयुर्वेद की शिक्षा लेते रहे होंगे।

आयुर्वेद-शिक्षा की समाप्ति समावर्तन संस्कार के साथ होती थी। इसमें उन्हें अनेक उपदेश दिये जाते थे। इन उपदेशों से पता चलता है कि भारत के प्राचीन चिकित्सक अपने व्यवसाय के उत्तरदायित्व के पूर्ण निर्वाह का ध्यान रखते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय व्यावसायिक शिक्षा में बुद्धि का विकास नैतिक विकास से सम्बन्धित होता था। उस काल में व्यावसायिक निपुणता को तभी उपयोगी तथा उपादेय समझते थे जब कि इसमें आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का समावेश हो।

प्राचीन भारत औद्योगिक दृष्टि से भी बड़ा समृद्ध था। प्राचीन भारत में औद्योगिक शिक्षा प्रमुख रूप से कुटुम्ब या परिवार में ही दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन भारतीय औद्योगिक शिक्षा का स्वरूप पारिवारिक तथा वंशगत था। प्रारम्भ में तो केवल कुटुम्ब के बच्चों को ही यह शिक्षा दी जाती रही होगी, पर कालान्तर में समाज के अन्य बच्चे भी इसमें सम्मिलित होने लगे। औद्योगिक शिक्षा में शिक्षक तथा शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध था, जो माता-पिता या गुरु-शिष्य के आदर्श के अनुरूप था। इसमें शिक्षक तथा शिष्य दोनों को कुछ प्रतिज्ञाएँ लेनी पड़ती थीं। शिक्षक प्रधानतः उद्योग की शिक्षा समय से पूरी करने, भरपूर ज्ञान देने, स्वार्थ सिद्धि न करने, उद्योग शिक्षा के अतिरिक्त अन्य

न रह पाती थी, जैसा कि श्री 'कि' महोदय की पुस्तक 'Indian Education in Ancient and Later Times' से पता चलता है। उन्होंने लिखा है कि "अधिकांश ब्राह्मण शिक्षक सुयोग्य और कर्त्तव्यपरायण तथा सच्चरित्र होते थे। इनके संरक्षण में अधिकांश क्षत्रिय-कुमार उत्तम शिक्षा पाते थे।"

सैनिक शिक्षा के छात्रों के लिए एक विशेष प्रकार का उपनयन संस्कार होता था तथा शिक्षा की समाप्ति 'छुरिका बन्धन' संस्कार द्वारा होती थी। 'छुरिका बन्धन' की प्रथा 'खड्ग-बंधाई' के नाम से राजपूताने में १९वीं सदी तक प्रचलित रही है। श्री टाड भी यह मानते हैं कि इस प्रथा के अनुसार राजपूत अस्त्र-शस्त्र ग्रहणकर सैनिक जीवन में प्रवेश करते थे। यह प्रथा मध्य यूरोपीय 'नाइट' बनने की प्रथा से साम्य रखती है। क्षत्रियों की यह शिक्षा बहुत समय तक अपने उद्देश्य में सफल रही, पर कालान्तर में यह शिथिल तथा रीतिबद्ध हो गई।

प्राचीन भारत में चिकित्सा की शिक्षा भी बहुत उन्नत अवस्था में थी। तक्षशिला प्राचीन काल से चिकित्सा-शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। भारत में ईसा की पहिली सदी के बाद चिकित्सा-विद्या की बड़ी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत विश्व के चिकित्सा इतिहास में अपना विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। चरक औषधि-शास्त्र तथा सुश्रुत शल्य-चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध है। ८वीं सदी में बगदाद के प्रसिद्ध खलीफा हारून-अल-रशीद ने अपने देश के सुयोग्य तरुणों को औषधि-ज्ञान सीखने के लिए तक्षशिला भेजा था। श्री मजूमदार ने 'Education in Ancient India' में भी इसके सम्बन्ध में लिखा है तथा अनेक भारतीयों को उनके दरबार में निमन्त्रित किये जाने का भी उल्लेख किया है।

पशु-चिकित्सा के लिए भी भारत प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रहा है। श्री नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झलक' में लिखा है कि ई० पूर्व चौथी तथा तीसरी सदी में भारत में पशु-चिकित्सा के लिए अनेक औषधालय खुले हुए थे। नकुल तथा सहदेव पशु-चिकित्सा में दक्ष माने जाते थे। शालिहोत्र भारतीय पशु-चिकित्सा के जन्मदाता माने जाते हैं। जैन तथा बौद्ध धर्म के अहिंसा सिद्धान्त ने पशु-चिकित्सा को बहुत प्रोत्साहन दिया। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजकीय सेना-विभाग के गजों, अश्वों आदि की चिकित्सा के लिए पशु चिकित्सकों की नियुक्ति का सुझाव दिया है।

चिकित्सा-शास्त्र का शिक्षा-प्रारम्भ भी एक विशेष प्रकार के उपनयन संस्कार से होता था। इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ आदि को त्यागकर शिक्षा लेने, सादगी से रहकर गुरु के आदेशों को मानने, अपने कर्तव्यों का पालन करने, शिक्षा-प्राप्ति पर ब्राह्मण, गरीब, गुरु, मित्र आदि को बिना मूल्य के औषधि देने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। इस प्रतिज्ञा के दो मूल उद्देश्य स्पष्ट दिखाई देते हैं : (१) छात्र जीवन आदर्श रूप से व्यतीत करना, तथा (२) लोक-कल्याण, न कि धन कमाने की भावना रखना।

वैदिक शिक्षा के समान औषधि या आयुर्वेद की शिक्षा ब्राह्मणों के हाथ में न थी। क्षत्रिय तथा वैश्य शिक्षक अपने वर्णों के छात्रों को इसकी शिक्षा देते थे। राधाकुमुद मुकर्जी ने 'Ancient Indian Education' में लिखा है, "आयुर्वेद की शिक्षा का द्वार सभी वर्णों के लिए खुला था।" इससे पता चलता है कि शूद्र भी आयुर्वेद की शिक्षा लेते रहे होंगे।

आयुर्वेद-शिक्षा की समाप्ति समावर्तन संस्कार के साथ होती थी। इसमें उन्हें अनेक उपदेश दिये जाते थे। इन उपदेशों से पता चलता है कि भारत के प्राचीन चिकित्सक अपने व्यवसाय के उत्तरदायित्व के पूर्ण निर्वाह का ध्यान रखते थे। इस प्रकार प्राचीन भारतीय व्यावसायिक शिक्षा में बुद्धि का विकास नैतिक विकास से सम्बन्धित होता था। उस काल में व्यावसायिक निपुणता को तभी उपयोगी तथा उपादेय समझते थे जब कि उसमें आध्यात्मिकता तथा नैतिकता का समावेश हो।

प्राचीन भारत औद्योगिक दृष्टि से भी बड़ा समृद्ध था। प्राचीन भारत में औद्योगिक शिक्षा प्रमुख रूप से कुटुम्ब या परिवार में ही दी जाती थी। इस प्रकार प्राचीन भारतीय औद्योगिक शिक्षा का स्वरूप पारिवारिक तथा वंशगत था। प्रारम्भ में तो केवल कुटुम्ब के बच्चों को ही यह शिक्षा दी जाती रही होगी, पर कालान्तर में समाज के अन्य बच्चे भी इसमें सम्मिलित होने लगे। औद्योगिक शिक्षा में शिक्षक तथा शिष्य का वैयक्तिक सम्बन्ध था, जो माता-पिता या गुरु-शिष्य के आदर्श के अनुरूप था। इसमें शिक्षक तथा शिष्य दोनों को कुछ प्रतिज्ञाएँ लेनी पड़ती थीं। शिक्षक साधारणतः उद्योग की शिक्षा समय से पूरी करने, संपूर्ण ज्ञान देने, स्वार्थ-सिद्धि न करने, उद्योग-शिक्षा के अतिरिक्त अन्य

किसी कार्य में न लगाने आदि की प्रतिज्ञा लेते थे। शिष्य भी उद्योग-शिक्षा समय पर समाप्त करने, गुरु का बिना किसी कारण लोभवश त्याग न करने, निश्चित अवधि से पूर्व शिक्षा पूर्ण होने पर भी गुरु का त्याग न करने आदि की प्रतिज्ञा लेता था।

गुरु तथा शिष्य के पारस्परिक अच्छे सम्बन्ध तथा पास-पास रहकर शिक्षा की प्रक्रिया चलते रहने के कारण शिष्य गुरु के व्यक्तित्व तथा अनुभवों से प्रभावित होता रहता था। फलतः शिक्षा पर गुरु की कला की छाप पड़े बिना न रहती थी। यहाँ बालक को केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं होती थी वरन् वह उन सभी व्यावहारिक परिस्थितियों से भी परिचित हो जाता था जो ग्राम के औद्योगिक कार्यालय या कारखाने से सम्बन्धित होती थी। इसमें उद्योग तथा जीवन का सम्पूर्ण समन्वय होता था। आज की औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा में इसकी अत्यन्त कमी है।

प्राचीन भारत में उद्योगों की व्यवस्था तथा विकास के लिए स्थानीय सहयोग समितियाँ (guilds) भी थी। ये उद्योग-सम्बन्धी सभी बातों पर नियन्त्रण रखती थीं। ये समितियाँ 'श्रेणी' कहलाती थी। प्रत्येक उद्योग के लिए अलग-अलग 'श्रेणी' होती थी। श्रेणी के प्रबन्ध तथा अनुशासन में उद्योग की शिक्षा की व्यवस्था भी थी। यह शिक्षा उद्योग के कारीगर के घर पर ही दी जाती थी। श्रेणी की सदस्यता वंशगत होती थी। श्रेणी का अध्यक्ष 'श्रेष्ठी' होता था तथा पुरोहित के बाद राजा की दृष्टि में श्रेष्ठी का ही स्थान आता था। श्री नेहरू ने 'The Discovery of India' में लिखा है कि "कारीगरों की नियुक्ति, कार्य की अवधि, श्रम का मूल्य या पारिश्रमिक का रूप, उत्पादन की वस्तु तथा परिमाण सभी बातें 'श्रेणी' के द्वारा ही निर्धारित होती थीं।" श्रेणी का उल्लेख जातक तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है। अतः यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। सम्भवतः ये और भी प्राचीन हों। इन श्रेणियों की सुव्यवस्था से भारतीय औद्योगिक शिक्षा भी सुसंगठित तथा व्यवस्थित थी।

अनेक विद्वानों का विचार है कि भारतीय प्राचीन औद्योगिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा में कोई सम्बन्ध नहीं होता था एवं वे एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न ही होती

थी। पर ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन भारतीय कलाकार सांस्कृतिक विषयों की जानकारी रखते थे। पर ८वीं तथा ९वीं सदी की भारतीय औद्योगिक शिक्षा पूर्णतः व्यावसायिक ही हो गई थी, क्योंकि इस काल में मौलिकता की कमी हो गई थी तथा औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा हेय या निम्न समझी जाने लगी थी।

मध्यकाल में व्यावसायिक, औद्योगिक तथा तांत्रिक शिक्षा

मध्यकाल में भारतीय व्यावसायिक, औद्योगिक तथा तांत्रिक शिक्षा अपना वह आदर्श न बनाये रख सकी जो प्राचीन काल में था। इस काल में यह शिक्षा उपेक्षित-सी रहने लगी। चिकित्सा-शास्त्र में शल्य चिकित्सा का स्थान प्रायः रह ही नहीं गया था। अहिंसा के कारण भी शल्य-चिकित्सा अधार्मिक मानी जाने लगी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा निष्प्राण तथा पुरानी हो गई। हस्तकौशल की शिक्षा हेय मानी जाने लगी थी। वैश्य निम्न व्यवसाय समझा जाने लगा था। पर कपड़े का व्यवसाय अवश्य ही अपनी प्रतिष्ठा बनाये रहा। मार्कोपोलो ने दक्षिण भारत की कपड़े की बुनाई के सम्बन्ध में लिखा है कि "वह मकड़ी के जाले के समान सूक्ष्म होता है।" शाही महलों में शोभा को निखारने के लिए अनेक प्रकार के जरी तथा रेशम के कपड़े भारतीय कुशल कारीगर बनाया करते थे। पर ललित कलाओं आदि की शिक्षा राजा और बादशाहों की रुचि पर ही निर्भर करती थी तथा इनके मरने पर इस शिक्षा के केन्द्र प्रायः नष्ट हो जाते थे। अनेक बादशाह, जैसे औरंगजेब आदि तो इनके प्रति उदासीन हो गये। मध्यकाल में मुगल बादशाहों की शृंगार प्रियता के कारण शृंगार की वस्तुओं के बनाने के व्यवसाय ही अधिक प्रोत्साहित हुए। वस्तुतः अन्य व्यवसायों की शिक्षा का ह्रास हुआ। सैनिक शिक्षा में युद्ध-सामग्री बनाने, सड़कें बनाने, इमारतें बनाने, पुल बनाने आदि की शिक्षा का महत्व अवश्य था क्योंकि साम्राज्य को सुदृढ़ बनाये रखने तथा उसके विस्तार के लिए इसका ज्ञान आवश्यक था। चिकित्सा-क्षेत्र में मुगलों के आने से यूनानी चिकित्सा को भी प्रोत्साहन मिला तथा उसकी शिक्षा-व्यवस्था भी देश में हुई।

मध्यकाल में व्यावसायिक, औद्योगिक तथा तांत्रिक शिक्षा का स्तर प्रायः वैसा ही रहा जैसा कि प्राचीन काल में था।

अंग्रेजी शासन-काल में औद्योगिक, व्यावसायिक तथा तांत्रिक शिक्षा

अंग्रेजी शासन-काल में भारतीय प्राचीन-कालीन व्यावसायिक, औद्योगिक तथा तांत्रिक शिक्षा को नष्ट करके अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कम्पनी ने अपने व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न किया। कम्पनी ने कानून, चिकित्सा, कृषि तथा इन्जीनियरिंग की शिक्षा को ही पाश्चात्य ढंग से देने के लिए विभिन्न संस्थाएँ खोलीं। इसके सम्बन्ध में हम उच्च शिक्षा के अध्याय में विस्तार से चर्चा कर चुके हैं। पर औद्योगिक तथा प्राविधिक, वाणिज्य आदि की शिक्षा पर कम्पनी ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। भारत में मिशनरियों ने औद्योगिक शिक्षा के रूप में कुछ उद्योग (craft) स्कूलों की स्थापना की जिनमें बढ़ई तथा लुहार के कामों की शिक्षा निम्न वर्ग के परिवर्तित इसाइयों को दी जाती थी। सबसे पहिले औद्योगिक शिक्षा की ओर 'अकाल आयोग (१८७७-७८)' ने ध्यान दिया, पर फिर भी इस दिशा में कोई विशेष कार्य न हो सका।

१८८२ का हण्टर आयोग

सन् १८८२ में हण्टर आयोग ने विविधता वाले पाठ्यक्रम को अपनाकर माध्यमिक स्तर पर ही औद्योगिक तथा व्यापारिक पेशों के लिए बालकों को तैयार करने का सुझाव दिया था। हण्टर आयोग से यह प्रश्न विशेष रूप से पूछा गया था कि क्या माध्यमिक शिक्षा के बालकों का ध्यान विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा पर ही अधिक रहता है। हण्टर आयोग ने इसका उत्तर दिया कि भारतीय शालाओं में यूरोप की शालाओं के समान नवीन शिक्षण-विषयों का विकास नहीं हो सका है। अतः आयोग ने सुझाव दिया कि शिक्षा-विभाग को भारतीय व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर पाठ्यक्रम संगठित करना चाहिए।

लार्ड कर्जन

लार्ड कर्जन ने सामान्य शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक, कृषि तथा टेक्नीकल शिक्षा के सम्बन्ध में भी सुधार किये। अभी इस क्षेत्र में जो प्रयास हुए थे वे अंग्रेजी शासन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किये गए थे, पर लार्ड कर्जन ने भारतीय व्यवसाय तथा उद्योगों को ध्यान में रखकर टेक्नीकल तथा व्यावसायिक शिक्षा को संगठित करने का सुझाव दिया। लार्ड कर्जन ने प्राविधिक शिक्षा में

प्रायोगिक तथा सरल विषयों को रखने का सुझाव दिया। कला-शिक्षा को उसने उद्योग-कला को प्रोत्साहित करने के योग्य बनाने के लिए उचित समझा। उसने प्राविधिक शिक्षा के लिए योग्य व्यक्तियों को इंग्लैण्ड तथा अमेरिका भेजने का सुझाव भी दिया।

लार्ड कर्जन के बाद भी औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा में २०-२५ वर्षों तक कोई प्रगति न हो सकी। सन् १९२१-२२ में इस शिक्षा की निम्न संस्थाएँ थीं :

	व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा संस्थाएँ		संख्या	छात्र
१.	शिक्षा-संस्थाएँ		१२	५,११०
२.	कानून की शिक्षा-संस्थाएँ		१३	५,८९५
३.	चिकित्सा की शिक्षा-संस्थाएँ		७	३,८६३
४.	वाणिज्य	—	५	४७०
५.	इंजीनियरिंग	—	६	८०३
६.	कृषि	—	२	३२६

उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलता है कि देश में इस प्रकार की शिक्षा की बहुत ही कम प्रगति हो पाई थी।

१९१९ के माण्टफोर्ड सुधार के अनुसार देश में द्विविध शासन का प्रारम्भ हुआ था। अब तक भारतीय जनता कोरी किताबी शिक्षा के विरुद्ध आवाज उठाने लगी थी। स्वदेशी भावना भी विकसित हो रही थी। अतः १९२१ से १९३७ तक के समय में व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की अच्छी प्रगति हुई। कानून की शिक्षा के १९३७ तक १४ महाविद्यालय स्थापित हो चुके थे।

१९१९ का संविधान

चिकित्सा की शिक्षा का महत्त्व भी समझा जा रहा था जो निम्न आँकड़ों से प्रदर्शित होता है :

	१९०१-२	१९३६-३७
चिकित्सा स्कूल	२२	३०
चिकित्सा महाविद्यालय	४	—
चिकित्सा स्कूलों में छात्र	१,४६६	६,१११

इसी प्रकार इंजीनियरिंग शिक्षा की प्रगति भी हुई, जो निम्न आँकड़ों से स्पष्ट है :

	१९०१-२	१९३६-३७
इंजीनियरिंग महाविद्यालय	४	८
पढ़ने वाले छात्र	८६५	२,१९९

कृषि-प्रधान देश होते हुए भी देश में सन् १९३७ तक केवल ६ कृषि महाविद्यालय ही स्थापित किये जा सके।

पशु-चिकित्सा भारत-जैसे कृषिप्रधान देश के लिए आवश्यक है। पर इस दिशा में भी अधिक कार्य न हो सका। १९०२ से १९३७ तक की अवधि के बीच में इसके लिए कुछ स्कूल खोले गए थे; पर ये केवल राजकीय आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते थे। इस अवधि में इन्हें उन्नत करने का विचार भी किया गया। पर इन्हें तोड़कर ५ पशु-चिकित्सा महाविद्यालय खोले गए। १९१७-२२ के बीच अगर प्रदेश में मुक्तेश्वर में 'इम्पीरियल वेटेरिनरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट' तथा सन् १९३० में पटना में वेटरिनरी कालेज स्नातकोत्तर शिक्षा-व्यवस्था की दृष्टि से खोले गए।

वन-विज्ञान शिक्षा के लिए देहरादून तथा कोयम्बटूर में दो महाविद्यालय तथा एक रिसर्च इन्स्टीट्यूट खोला गया।

प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की माँग दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती थी। जनता ने केवल विदेशों में जाकर प्राविधिक शिक्षा पाने की नीति को अनुपयोगी बताया। फलस्वरूप देश में अनेक प्राविधिक संस्थाएँ खोली गईं जैसे, हारकोर्ट बटलर टेक्नालाजिकल इन्स्टीट्यूट, कानपुर (१९२१), इम्पीरियल एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, दिल्ली, बोस रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता, इण्डियन स्कूल आफ माइन्स, धनबाद (१९२६), विक्टोरिया जुबली टेक्नीकल स्कूल, बम्बई, जमशेदपुर टेकनिकल इन्स्टीट्यूट, टाटानगर, गवर्नमेंट स्कूल आफ टेक्नालाजी, मद्रास आदि। सन् १९३६-३७ में प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की संस्थाओं की कुल संख्या ५३५ थी तथा इनमें ३०,५०९ छात्र पढ़ते थे।

इस शासन-विधान के अनुसार देश के अधिकांश प्रान्तों में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का शासन स्थापित हुआ। पर यह अनेक राजनैतिक कारणों से अधिक न चल सका, फिर भी द्वितीय महायुद्ध तथा जनता की जागृति के फलस्वरूप देश में १९४७ तक औद्योगिक, व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई। इसी बीच १९३६-३७ में भारत सरकार ने व्यावसायिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए इंग्लैण्ड के दो विशेषज्ञों श्री ए० ऐबट तथा श्री एस० एच० वुड को बुलाया। इन विशेषज्ञों के पास समय कम था, अतः केवल उत्तरी भारत का दौरा करके इन्होंने अपने सुझाव दिये हैं। वे सुझाव इस प्रकार हैं :

१९३५ का शासन-विधान

१. व्यावसायिक शिक्षा साहित्यिक शिक्षा से कम नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य शरीर, आत्मा तथा मस्तिष्क की सम्पूर्ण शक्तियों का विकास करना है।
२. व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था प्रान्त के विविध उद्योगों की आवश्यकताओं के आधार पर ही की जाये।
३. सामान्य तथा व्यावसायिक शिक्षा एक-दूसरे से अलग न समझी जायें। इन्हें शिक्षा का पूर्ववर्ती तथा परवर्ती चरण ही माना जाये।
४. साधारण तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था एक ही शाला में न की जाये क्योंकि इनके उद्देश्य भिन्न भिन्न होते हैं।
५. छोटे-छोटे उद्योगों में लगे कारीगरों को भी आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाये।
६. प्रत्येक प्रान्त में एक 'व्यावसायिक शिक्षा सलाहकारिणी समिति' संगठित की जाये। इस समिति में शिक्षा-संचालक, उद्योग-संचालक, चार या पाँच व्यापारी तथा तीन या चार व्यावसायिक स्कूलों के प्रधान हों। इस समिति का कार्य शिक्षा और उद्योग में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना हो।
७. व्यावसायिक शिक्षा के लिए जूनियर तथा सीनियर स्कूल खोले जायें। जूनियर स्कूलों में ८वीं के बाद ३ साल की शिक्षा-व्यवस्था हो तथा सीनियर में ११वीं के बाद दो वर्ष के लिए छात्र लिये जायें।
८. भारत में कला-शिक्षा की व्यवस्था की जाये। वर्तमान कला-स्कूलों का

क्षेत्र बढ़ाया जावे तथा आवश्यकतानुसार अन्य कला-स्कूल भी खोले जायें।

९. व्यावसायिक शालाओं तथा संस्थाओं की स्थापना यथासंभव व्यावसायिक क्षेत्रों में ही की जाये।

१०. अल्पकालिक व्यावसायिक प्रशिक्षण स्कूल भी खोले जायें। इनमें दिन में ही शिक्षा दी जाये तथा सप्ताह में ढाई दिन इन स्कूलों में पढ़ने के लिए कर्मचारियों को छुट्टी दी जाये।

वुड तथा ऐबट समिति की सिफारिशों के बाद भी भारतीय व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की अधिक प्रगति न हुई। व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में तो कोई विशेष प्रगति हो ही नहीं सकी।

चिकित्सा की शिक्षा के लिए आयुर्वेद तथा यूनानी पद्धतियों को कांग्रेस मंत्रिमंडलों की प्रेरणा से प्रोत्साहन मिला।

कृषि-शिक्षा के लिए १९३७ से ४७ तक की अवधि में १२ नई संस्थाएँ खुलीं।

	१९३६-३७	१९४६-४७
कृषि महाविद्यालय	६	१८
छात्रों की संख्या	१,००८	३,५५१

पर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यह कुछ भी नहीं था।

१९३७ से १९४७ के बीच इंजीनियरिंग शिक्षा का प्रसार भी काफी हुआ जो कि निम्न आँकड़ों से स्पष्ट है :

	१९३६-३७	१९४६-४७
इंजीनियरिंग कालेज	८	१७

१९३७ से १९४७ की अवधि में प्राविधिक शिक्षा की काफी प्रगति हुई। इसके निम्न कारण थे :

१. द्वितीय महायुद्ध के कारण प्राविधिक शिक्षा-प्राप्त लोगों की माँग में वृद्धि।

२. युद्ध के कारण देश में अनेक नये-नये उद्योगों की स्थापना।

३. युद्ध के बाद उद्योगों के विकास के लिए नई योजनाओं का निर्माण।

सन् १९४५ में भारत सरकार ने प्राविधिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए एक

'अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा समिति' की स्थापना की। इस समिति की सिफारिश पर एक योजना स्वीकार की गई जिसमें सरकार को अनावर्तक तथा आवर्तक अनुदान के रूप में काफी धन व्यय करने का प्रावधान था।

सन् १९४५ में प्राविधिक शिक्षा के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए भारत सरकार ने श्री नलिनीरंजन सरकार की अध्यक्षता में एक 'उच्च टेकनालाजीकल शिक्षा समिति' की स्थापना की थी। इस समिति ने १९४६ में निम्न सुझाव दिये :

१. देश में उच्च प्राविधिक शिक्षा की ४ संस्थाएँ स्थापित की जायें।
२. इनमें से एक संस्था कलकत्ता, दूसरी बम्बई के पास, तीसरी उत्तर भारत में इन्जीनियरिंग की शिक्षा के लिए तथा चौथी दक्षिण भारत में स्थापित हो।

भारत सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार किया तथा स्वतंत्र भारत में इनके अनुसार कार्य किया जा रहा है।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय शिक्षा के पुनर्गठन के लिए केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने एक योजना प्रस्तुत की। यह योजना सार्जेन्ट रिपोर्ट के नाम से विख्यात है। इसमें शिक्षा के सभी स्तरों के सम्बन्ध सार्जेन्ट रिपोर्ट में विकास की योजनाएँ हैं। प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा के लिए भी इसमें विस्तार से विचार किया गया है।
इस रिपोर्ट में शायद प्रथम बार इतने विस्तार से देश में औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इसमें औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की चार श्रेणियाँ की गई हैं :

१. प्रथम श्रेणी—उन व्यक्तियों को दी जायेगी जो देश के युद्धोत्तर निर्माण में अनुसंधानकार्य या प्रमुख प्रशासक के रूप में कार्य करेंगे। यह शिक्षा उच्च कोटि की होगी तथा चुने हुए योग्य लोगों को ही दी जायेगी। इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था विश्वविद्यालयों, औद्योगिक तथा प्राविधिक महाविद्यालयों में दी जायेगी।

२. द्वितीय श्रेणी—यह शिक्षा विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों के छोटे-छोटे प्रशासकीय पदों पर काम करने वाले अधिकारियों को दी जायेगी। इस

प्रकार की शिक्षा प्राविधिक हाईस्कूलों की शिक्षा के बाद विशेषीकृत शिक्षा के रूप में महाविद्यालयों तथा पोलीटेक्नीकल संस्थाओं में दी जायेगी।

३. तीसरी श्रेणी—इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य कुशल कारीगरों का निर्माण होगा। प्राविधिक हाईस्कूलों में इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जायेगी। सीनियर बेसिक स्कूल या पूर्व माध्यमिक शालाओं के बालकों को जूनियर टेक्नीकल स्कूलों या औद्योगिक स्कूलों में दो या तीन वर्ष तक अतिरिक्त शिक्षा देकर इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी।

४. चतुर्थ श्रेणी—इस शिक्षा का उद्देश्य अर्द्धकुशल कारीगर या सामान्य श्रमिक के योग्य शिक्षा देना होगा। बेसिक शालाओं की शिक्षा से इस प्रकार के अर्ध-कुशल श्रमिक तैयार हो सकेंगे।

इसके अतिरिक्त औद्योगिक सेवाओं में नियुक्त कारीगरों तथा श्रमिकों के लिए अंशकालिक प्रशिक्षण की व्यवस्था का सुझाव था।

सार्जेन्ट रिपोर्ट में सुझाव के रूप में युद्धोत्तर काल के औद्योगिक तथा व्यावसायिक विकास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा के हर स्तर पर औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था करने की सिफारिश की गई थी।

इसके लिए अखिल भारतीय टेक्नीकल समिति के सुझावों को मान्य किया गया था। इस समिति के प्रमुख सुझाव इस प्रकार थे :

१. शिक्षा के सभी स्तरों पर प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था की जाये।
२. साहित्यिक शिक्षा से प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा निम्न न समझी जाये। यह शिक्षा का अभिन्न अंग समझी जाये।
३. प्राविधिक शिक्षा के अन्तर्गत उद्योगों में सम्बन्धित व्यापारिक तथा कला की शिक्षा भी रहे। कृषि भी प्राविधिक या यान्त्रिक शिक्षा का अभिन्न अंग रहे। देश के ग्रामीण क्षेत्रों में माध्यमिक तथा सीनियर बेसिक शालाएँ कृषि के आधार से खोली जायें। कृषि शिक्षा के लिए एक समिति गठित की जाये जो तत्सम्बन्धी विस्तृत जाँच करे।
४. प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा के लिए निम्न प्रकार की शालाएँ तथा संस्थाएँ खोली जावें :

(क) जूनियर टेक्निकल या औद्योगिक या उद्योग या व्यवसाय संस्थाएँ।
(ख) टेक्नीकल हाईस्कूल
(ग) सीनियर टेक्नीकल संस्थाएँ।
(घ) पोलीटेक्निकल संस्थाएँ भी आवश्यकतानुसार खोली जायें।
(च) प्राविधिक, औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षाओं को यथोचित उद्योग या व्यवसाय का व्यावहारिक ज्ञान होना चाहिए।
(छ) ये संस्थाएँ उद्योग-क्षेत्र में ही खोली जायें।
(ज) हाईस्कूल तक की प्राविधिक, व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा प्रान्तीय सरकार की तथा उच्च शिक्षा केन्द्रीय सरकार की जिम्मेवारी रहे।
(झ) इसके निरीक्षण तथा उचित निर्देशन के लिए अलग से निरीक्षक रखे जायें।

सार्जेन्ट रिपोर्ट ने वुड तथा एबट रिपोर्ट के पाठ्यक्रम तथा विस्तार-संबंधी सभी सुझावों को उचित महत्त्व देने का सुझाव भी दिया।

प्राविधिक तथा औद्योगिक शिक्षा का वार्षिक व्यय सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार लगभग १० करोड़ रुपया कूता गया था।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् प्राविधिक, औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

सन् १९४७ में देश पूर्ण स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में विभिन्न उद्योगों तथा व्यवसायों के विकास की योजनाएँ बनाई गईं। संसार भी इस क्षेत्र में विकास कर रहा था। अतः हमारे देश में भी इस ओर विशेष ध्यान दिया गया। फलस्वरूप इस शिक्षा के विकास के लिए दो प्रकार के कार्य किये गए :

१. शिक्षा प्राप्ति की सुविधाओं का विस्तार, तथा
२. इस शिक्षा के चतुर शिक्षकों के निर्माण की शिक्षा का आयोजन।

इसी उद्देश्य से १९४५ में 'अखिल भारतीय टेक्नीकल शिक्षा परिषद्' का

गठन हुआ था। इसने ७ बोर्ड आफ इण्डस्ट्रीज तथा ४ क्षेत्रिय कमेटियाँ नियुक्त कीं। इसकी योजना को प्रथम पंचवर्षीय योजना में शामिल किया गया।

राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग (१९४८-१९४९)

राधाकृष्णन् आयोग ने व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा की परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा कि व्यावसायिक शिक्षा व्यक्तियों को अत्यन्त परिश्रमपूर्ण तथा उत्तरदायी सेवा के लिए, व्यावसायिक भावना से तैयार करती है। व्यावसायिक शिक्षा शब्द का प्रयोग उन क्षेत्रों के लिए सीमित रहना चाहिए जिनमें समुचित जानकारी के साथ-साथ अनुशासित अन्तर्दृष्टि तथा उच्चतर कुशलता अपेक्षित है। श्रम की तैयारियाँ रोजगारिक (vocationl) तथा शिल्पिक (technical) कही जा सकती हैं।

वर्तमान व्यावसायिक शिक्षा का दोष यह है कि यह व्यक्तियों को ज्ञान तथा कुशलता तो देती है पर उन्हें ऐसा दर्शन नहीं देती जिसके अनुसार वे अपने जीवन में उस कुशलता तथा ज्ञान का उपयोग कर सकें। इससे सामाजिक हित नहीं होता। अतः यह आवश्यक है कि व्यावसायिक शिक्षा का आधार न केवल कुशलता हो वरन् सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना, सामाजिक तथा मानवीय मूल्य की परख तथा वस्तुस्थिति के प्रति निष्पक्ष दृष्टि हो।

व्यावसायिक शिक्षा के इन दायित्वों की पृष्ठभूमि में आयोग ने कृषि-शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा योजना का महत्वपूर्ण अंग माना तथा इसे शिक्षा के सभी स्तरों में महत्वपूर्ण स्थान देने का सुझाव दिया। कृषि के नये विद्यालय ग्रामीण विश्वविद्यालय से संलग्न किये जाना चाहिए। केन्द्र तथा राज्य सरकार कृषि प्रयोगशालाएँ पर्याप्त संख्या में देश के सभी क्षेत्रों में खोले तथा प्रत्येक सीनियर बेसिक और ग्रामीण माध्यमिक शाला 'कृषि फार्म' आयोजित करे। कृषि-सम्बन्धी शोधकार्य तथा स्नातकोत्तर शिक्षा का विस्तार किया जाये। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के साथ एक कृषि समिति सम्बद्ध की जाये जो कृषि की उन्नति के लिए धन की व्यवस्था-सम्बन्धी सुझाव दे।

व्यापारिक शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने छात्रों को तीन-चार प्रकार की व्यापारिक संस्थाओं में व्यावहारिक कार्य करने का सुझाव दिया। स्नातक स्तर की शिक्षा के बाद खास विषयों में विशेष अध्ययन की प्रेरणा दी जाये

तथा यह अध्ययन पुस्तकीय कम हो। यह स्नातकोत्तर डिग्री थोड़े लोगों को ही दी जाये।

शिक्षा-व्यवसाय के सम्बन्ध में आयोग ने पाठ्यक्रम बदलने, शिक्षा सिद्धान्त के पाठ्यक्रम को वास्तविक बनाने, प्रशिक्षण संस्थाओं के प्रोफेसरों तथा लेक्चररों को अखिल भारतीय रूप पर कार्य करने, स्कूलों में शिक्षण-कार्य के अनुभवी शिक्षकों को प्रशिक्षण संस्थाओं में नियुक्त करने आदि के सुझाव दिये।

इञ्जीनियरिंग तथा टेक्नालाजिकल शिक्षा के सम्बन्ध में आयोग ने सुझाया कि देश की इस प्रकार की संस्थाएँ राष्ट्र की पूंजी समझी जाएं, इनकी संख्या बढ़ाई जाये, इनके अध्ययन के विषय बढ़ाये जायें, इनके व्यावहारिक अभ्यास का पूर्ण ध्यान रखा जाये, स्नातकोत्तर तथा अनुसन्धान-कार्य को प्रोत्साहित किया जाये, उच्चतर टेक्नालाजिकल संस्थाएँ शीघ्र ही स्थापित की जायें, इञ्जीनियरिंग कालेजों पर मन्त्रियों तथा सरकारी विभागों का प्रभुत्व न रहे।

चिकित्सा की शिक्षा के सम्बन्ध में भी आयोग ने सुझाया कि किसी एक चिकित्सा महाविद्यालय में १०० से अधिक छात्र भर्ती न किए जायें। प्रत्येक छात्र के जिम्मे १० मरीज से अधिक न हों, छात्रों को ग्रामीण केन्द्रों में भी प्रशिक्षण दिया जाये। औषधि तथा जन-स्वास्थ्य को अधिक महत्व दिया जाये, देशी चिकित्सा-विधियों को भी प्रोत्साहन दिया जाये तथा इनमें अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रदान की जाएं। स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा केवल शासन-स्वतन्त्र संस्थाओं में ही दी जायें।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (मुदालियर आयोग) १९५२-५३

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई है। इस आयोग ने प्रगति का विकास न होने के निम्न कारण बताये:

१. अभी तक केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने औद्योगिक शिक्षा पर पूर्णतया विस्तार से गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया है।

२. व्यावसायिक शिक्षा के विषयों के प्रशिक्षण के कोई साधन ही नहीं किये गए हैं।

३. शिक्षा-विभाग को अभी तक अनुभवी, योग्य विशेषज्ञों का उचित सलाह नहीं मिलती है जिससे इसके पाठ्यक्रम की योजना ठीक-ठीक नहीं बन पाती है।

४. सरकार के विभिन्न विभागों में ठीक सम्बन्ध नहीं है; कुछ संस्थाएँ उद्योग-संचालक, कुछ श्रम-संचालक तथा कुछ शिक्षा-संचालक के पास हैं।

५. अनेक उपयोगी योजनाएँ धनाभाव के कारण पूर्ण नहीं की जा सकीं। व्यावसायिक संस्थाओं के प्रारम्भ करने तथा योग्य और अनुभवी शिक्षकों पर अधिक धन व्यय होता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा के संगठन तथा व्यवस्था के लिए निम्न सुझाव दिये :

१. व्यावसायिक तथा औद्योगिक शालाएँ स्वतंत्र रूप से या बहुउद्देशीय शालाओं के रूप में अधिक-से-अधिक खोली जायें।

२. बड़े शहरों में केन्द्रीय व्यावसायिक संस्थाएँ सभी स्तर की स्थानीय शालाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खोली जायें।

३. जहाँ तक सम्भव हो औद्योगिक तथा व्यावसायिक शालाएँ औद्योगिक केन्द्रों के पास ही खोली जायें।

४. अप्रेन्टिसशीप प्रशिक्षण बड़ा महत्वपूर्ण है। अतः ऐसा कानून बनाया जाये जिससे उद्योगों को छात्रों के लिए व्यावहारिक अभ्यास की सुविधाएँ देना आवश्यक हो।

५. सभी स्तरों की व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था तथा नियोजन के लिए व्यवसाय, व्यापार तथा उद्योगों के प्रतिनिधियों की सहायता अवश्य ली जाये।

६. व्यावसायिक शिक्षा के विकास के लिए उद्योगों पर एक 'व्यावसायिक शिक्षा कर' लगाया जाये।

७. माध्यमिक स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा के उचित विकास के लिए 'अखिल भारतीय टेकनिकल शिक्षा परिषद' तथा उसके अन्तर्गत

काम करनेवाली संस्थाओं की सहायता पाठ्यक्रम के संगठन के हेतु की जाये।

प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाएँ

प्रथम पंचवर्षीय योजना में उद्योग-शालाओं तथा जूनियर टेकनिकल माध्यमिक शालाओं को पोलीटेकनीक विद्यालयों में उन्नत करना, नये इन्जीनियरिंग तथा जूनियर बहुउद्देशीय विद्यालयों की स्थापना, व्यावसायिक तथा तांत्रिक विद्यालयों को उन्नत करके उच्च व्यावसायिक तथा तांत्रिक विद्यालय बनाना, नये विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में कृषि शिक्षण को महत्त्व देना तथा उच्च व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए छात्रों को विदेश भेजना आदि कार्य निश्चित किये गए थे।

उपरोक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में इन्जीनियरिंग तथा टेकनालाजी के विशिष्ट अध्ययन के लिए खड़गपुर (पश्चिमी बंगाल) में 'इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ टेकनालाजी' की स्थापना की गई। बंगलौर की 'इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइन्स' संस्था पर, जो टाटा द्वारा स्थापित की गई थी, सरकार ने विकास हेतु २७७ लाख रुपया व्यय किया। बम्बई में भी टेकनालाजी की विशिष्ट शिक्षा की व्यवस्था की गई। दिल्ली में नगर तथा ग्राम-पुनर्निर्माण के अन्तर्गत 'स्कूल ऑफ टाउन एण्ड कन्ट्री प्लानिंग' स्थापित किया गया।

तांत्रिक तथा टेकनालाजिकल शिक्षा की प्रगति हेतु मानवी शक्ति-समिति, वैज्ञानिक समिति तथा समुद्र-पार छात्रवृत्ति समिति गठित की गई। इन कमेटियों द्वारा सन् १९५४ तक तांत्रिक तथा इंजीनियरिंग की १,३६० सीनियर तथा ८७८ जूनियर छात्रवृत्तियाँ अनुसंधान और विशिष्ट शिक्षा के लिए दी गईं। पाठ्य-सामग्री तथा साज-सज्जा के लिए विभिन्न संस्थाओं को २.५ करोड़ रुपये का अनुदान दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत तांत्रिक शिक्षा के विकास के लिए १.४४ करोड़ रुपये तथा छात्रावासों के निर्माण के लिए ९.८ लाख रुपये ब्याज-रहित ऋण के रूप में दिये गए।

मानव-चिकित्सा शिक्षा, पशु-चिकित्सा शिक्षा, सहायक चिकित्सकों का प्रशिक्षण, नर्सों का प्रशिक्षण आदि की सुविधाएँ भी बढ़ाई गईं। 'अखिल

भारतीय मेडिकल इन्स्टीट्यूट' की स्थापना भी लगभग ६·१ करोड़ रुपयों की लागत से की गई। आयुर्वेद शिक्षा के ४० महाविद्यालय तथा देशी चिकित्सा के विकास के हेतु 'सेण्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ रिसर्च' की स्थापना की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन तथा प्रयोग में आनेवाली सभी वस्तुएँ देश में ही बनाने के लक्ष्य की पूर्ति के लिए व्यावसायिक तथा तांत्रिक शिक्षा के प्रशिक्षार्थियों की संख्या तिगुनी कर दी गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में भी तांत्रिक तथा व्यावसायिक शिक्षा के विकास पर अधिक व्यय किया जा रहा है। इसके लिए ४८ करोड़ रुपयों का प्रावधान है। इसका एक अंश प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में स्थापित संस्थाओं को पूर्ण बनाने तथा उच्च शिक्षा और अनुसंधान केन्द्रों के विकास में व्यय होगा। दूसरा अंश देश में खड़गपुर की 'इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनालाजी' जैसी ३ संस्थाएँ स्थापित करने, विभिन्न भागों में डिग्री तथा डिप्लोमा संस्थाएँ स्थापित करने, छात्रावास बनाने तथा छात्रवृत्तियों की संख्या बढ़ाकर ८०० करने में व्यय किया जायगा। दिल्ली के पॉलीटेकनिक इन्स्टीट्यूट को और विकसित किया जायेगा। देश की लोहा, इस्पात, रेलवे, श्रम इत्यादि उत्पादन-सम्बन्धी योजनाओं में तांत्रिक प्रशिक्षण के हेतु व्यवस्था का प्रावधान है। इसके लिए स्नातक प्रशिक्षार्थियों की संख्या प्रथम योजना से दुगुनी तथा डिप्लोमा प्रशिक्षार्थियों की संख्या तिगुनी कर दी जायेगी; अर्थात् क्रमशः ५७०० तथा ६२०० अतिरिक्त छात्र प्रशिक्षित किये जायेंगे। द्वितीय योजनाकाल में विभिन्न स्तर के प्रशिक्षार्थियों की संख्या-वृद्धि का लक्ष्य इस प्रकार है :

		छात्र
१.	शोधकार्य तथा स्नातकोत्तर स्तर	५७०
२.	स्नातक पाठ्यक्रम	७,५५०
३.	जूनियर प्राविधिक या तांत्रिक	५,४००
४.	डिप्लोमा	११,३००

द्वितीय योजना में शिक्षक-प्रशिक्षण पर १७ करोड़ रुपयों का प्रावधान है। इस योजना-काल में ३० शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय एवं २१३ प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किये जायेंगे। बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या

७१ तथा बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या ७२९ कर दी जायेगी। बुनियादी में आवश्यक शोध-कार्य के लिए 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ बेसिक एजुकेशन' स्थापित किया जायेगा।

मध्यप्रदेश में व्यावसायिक, औद्योगिक तथा तांत्रिक शिक्षा

मध्यप्रदेश में इस हेतु निम्न संस्थाएँ कार्य कर रही हैं :

१. व्यावसायिक माध्यमिक शाला—महाकोशल क्षेत्र में ६ व्यावसायिक माध्यमिक शालाएँ हैं। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में दो मान्यता प्राप्त गैरसरकारी औद्योगिक शालाएँ भी हैं।

२. जूनियर टेक्निकल शालाएँ—विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र की ४ जूनियर टेक्निकल शालाओं को माध्यमिक टेक्निकल शालाओं में उन्नत किया गया है। पन्ना, शहडोल तथा सतना की टेक्नीकल शालाओं के भवन-निर्माण का कार्य भी समाप्त हो चुका है। एक ही स्तर की सभी टेक्निकल संस्थाओं में एकरूपता के हेतु आवश्यक पुनर्गठन तथा भारत सरकार द्वारा निर्धारित स्वरूप दिया गया है।

३. कला-निकेतन जबलपुर—इस वर्ष ग्वालियर में एक जूनियर टेक्निकल शाला खोली गई। इस संस्था में मुद्रण-व्यवसाय के प्रशिक्षण का राष्ट्रीय प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम के अनुकूल बनाने के लिए आवश्यक परिवर्तन किये गए हैं।

४. पदोपाधि (डिप्लोमा) स्तर की तांत्रिक शिक्षा—इस हेतु सन् १९५८-५९ तक सरकारी तथा गैर-सरकारी पोलिटेक्निक संस्थाएँ चल रही थीं। ये भोपाल, जबलपुर, रायगढ़, उज्जैन, नौगाँव, दतिया, ग्वालियर, विदिशा (गैर-सरकारी) में स्थित थीं। इनके अतिरिक्त इन्दौर के गोविन्दराम सेकसरिया टेक्नालॉजिकल संस्था में भी पदोपाधि स्तर के छात्र भरती किये जाते हैं। इन पोलिटेक्निक संस्थाओं में विभिन्न व्यवसायों के लिए निम्न संख्या में छात्र भरती किये जाते हैं :

व्यवसाय	छात्र
१. सिविल इंजीनियरिंग	४९०
२. मैकेनिकल ,,	२२१

३. इलैक्ट्रिकल २०५

४. आटोमोबाइल १२

५. पत्रोपाधि स्तर के बाद का सब-ओवरसियर्स

पाठ्यक्रम १८ माह का १९२

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में अभी तक इन संस्थाओं के भवन, शिक्षकों, छात्रावास-निर्माण आदि पर १७·७३ लाख रुपये व्यय किये गए हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सेण्ट्रल टेक्निकल इन्स्टीट्यूट ग्वालियर तथा नौगाँव में प्रचलित पाठ्यक्रमों को राष्ट्रीय प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम के स्तर पर लाया गया है। उज्जैन की पोलीटेक्निकल संस्था में आटोमोबाइल इंजीनियरिंग पत्रोपाधि-पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया गया है। मुरार में एक चर्म-कला टेक्निकल संस्था स्थापित की गई है।

सन् १९६१ तक राज्य में १४ पोलीटेकनिक संस्थाएँ हो जायेंगी। इनमें प्रवेश संख्या में निम्नानुसार विकास किया जायेगा :

	सिविल	मैकेनि-कल	इलैक्ट्रि-कल	माइ-निंग	लेदर टेक	टेक्सटाइल टेक	प्रिंटिंग टेक	योग
१९५६	३०५	१८१	१५९	—	१०	२०	१०	६८५
१९६१	६९०	३६०	३६०	८०	१०	२०	४०	१,५६०

सन् १९६०-६१ में दुर्ग, रतलाम तथा शहडोल में नये पोलीटेकनिक स्थापित किये जायेंगे।

उच्च तांत्रिक शिक्षा

वर्तमान समय में राज्य में दो शासकीय अभियांत्रिक महाविद्यालय रायपुर तथा जबलपुर में चल रहे हैं। दो गैर-सरकारी अभियांत्रिक महाविद्यालय भी ग्वालियर तथा इन्दौर में स्थित हैं। जबलपुर के अभियांत्रिक महाविद्यालय में स्नातकोत्तर स्तर के परीक्षण की व्यवस्था भी है। सन् १९६०-६१ में भोपाल में एक क्षेत्रीय अभियांत्रिक महाविद्यालय केन्द्र की सहायता से खोला जा रहा है। इसकी प्रवेश संख्या १०० रहेगी। राज्य की इन संस्थाओं में प्रवेश-संख्या में निम्नानुसार विकास करने की योजना है :

	सिविल	इलेक्ट्रिकल	मैकेनिकल	टेलीकम्यू.	माइनिंग	एम. ई.	मैटालर्जी	योग
१९५६	४०	२५	२५	१६	१९	—	१५	- १८०
१९६१	३१५	१५५	८५	४५	३०	२५	३०	- ६३५

सन् १९५८ में राज्य-स्तर पर प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था परीक्षा लेने, पुनर्गठन तथा शासन को आवश्यक परामर्श देने के हेतु राज्य-स्तरीय प्रावि० एक 'प्राविधिक शिक्षा बोर्ड' की स्थापना की गई है। यह प्राविधिक शिक्षा बोर्ड बोर्ड प्राविधिक शिक्षा के प्रसार, सुधार तथा पुनर्गठन के लिए अखिल भारतीय प्राविधिक शिक्षा (टेक्नीकल) परिषद् की नीतियों के अनुसार कार्य करता है। राज्य में इस बोर्ड द्वारा संचालित परीक्षाओं को भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त हो चुकी है।

औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा की राज्य में काफी प्रगति हुई है। राज्य में कृषि, कानून, चिकित्सा, पशु चिकित्सा, अर्थ तथा वाणिज्य महाविद्यालयों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन महाविद्यालयों की स्थापना राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में स्थापित किये जाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इनके साथ-साथ राज्य में अनेक प्रशिक्षण तथा उत्पादक शालाएँ भी उद्योग विभाग की ओर से चल रही हैं।

अध्याय ६

उच्च शिक्षा

राष्ट्रीय जीवन के पुनरुत्थान तथा विकास में उच्च शिक्षा का बड़ा योग रहता है, क्योंकि उच्च शिक्षा के केन्द्र राष्ट्र के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र होते हैं। उच्च शिक्षा समाज के मानसिक स्तर को उच्च बनाती, जनता के मस्तिष्क का उचित उपयोग करती, राष्ट्रीय रुचि को शुद्ध करती, जन-सामान्य की आकांक्षाओं को सिद्धान्तों का आधार देती, काल-विशेष के विचारों को विकसित कर उन्हें गहन बनाती, राजनैतिक अधिकार तथा सत्ता का उपयोग सुलभ करती तथा वैयक्तिक जीवन में विचारों के आदान-प्रदान को उन्नत बनाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च शिक्षा हमारे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन के लिए मार्गदर्शक तथा उसे उन्नत बनाने वाली होती है, क्योंकि उच्च शिक्षा के केन्द्रों से निकले व्यक्ति ही जीवन के सभी क्षेत्रों का नेतृत्व करते हैं।

प्राचीन भारत में उच्च शिक्षा

हमारे देश में अति प्राचीन काल से उच्च शिक्षा के कई प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं। प्राचीन काल में 'परिषद' या ब्राह्मणों की सभा, जिसमें वेद तथा धर्म-शास्त्रों एवं सूत्रों के महापण्डित भाग लिया करते थे, ज्ञान-पिपासा की शान्ति के इच्छुक अनेक विद्वानों के केन्द्र बनी रहती थी। इनमें भाग लेने तथा विचार-विमर्श करने के लिए विभिन्न स्थानों से विद्वान तथा पण्डित इकट्ठे होते रहते थे। कालान्तर में प्राचीन भारत में तक्षशिला, नालन्द और बनारस आदि अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित हो गए थे। इन प्राचीन शिक्षा-केन्द्रों में न केवल भारतीय विद्वान शिक्षा ग्रहण करते थे, वरन् अनेक अन्य देशों से भी विद्वान आते तथा लाभ उठाने के लिए लालायित रहते थे। इन शिक्षा-केन्द्रों की ख्याति इतनी अधिक हो गई थी कि जापान, चीन, लंका, मिस्र, यूनान आदि अनेक देशों से विद्वान

वहाँ आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। इन उच्च शिक्षा के केन्द्रों में प्रवेश पाना ही कठिन होता था। कठिन इसलिए नहीं कि इनकी फीस अधिक होती थी। ये तो निःशुल्क शिक्षा-केन्द्र होते थे। इतना ही नहीं, यहाँ विद्यार्थियों को भोजन तथा वस्त्र भी शिक्षा-केन्द्रों की ओर से ही मिलते थे। परन्तु इनमें प्रवेश पाने के लिए भी विद्वत्ता आवश्यक होती थी। फलस्वरूप केवल बहुत योग्य छात्र ही यहाँ भर्ती हो सकते थे। इन शिक्षा-केन्द्रों में गुरु तथा शिष्य एक ही स्थान में रहते तथा सामूहिक जीवन व्यतीत करते थे। इससे गुरु का अनुकूल प्रभाव छात्रों के चरित्र-गठन तथा विकास में बड़ा सहायक होता था। ये शिक्षा-केन्द्र राजनीति से परे होते तथा यहाँ शिक्षक एवं प्रधान का ही सभी मामलों में अधिकार होता था। इन शिक्षा-केन्द्रों के खर्च के लिए सैकड़ों गाँव इनमें संलग्न कर दिये जाते थे। इन शिक्षा-केन्द्रों की स्वतन्त्रता तथा उन्मुक्त वातावरण आज तो पाना दुर्लभ ही है। इनमें न केवल व्यवस्था करनेवाले आर्थिक तथा राजनैतिक बन्धनों से मुक्त होते थे पर शिक्षक तथा छात्रों को भी इसकी कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। फलस्वरूप शिक्षा में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता था। इन शिक्षा-केन्द्रों के गुरुओं का सम्मान भी बहुत अधिक था। राजा-महाराजा और जनता सभी इनकी पूजा करते थे। इतना सब होते हुए भी दम्भ तथा अभिमान तो उन आचार्यों को छू तक नहीं गया था। विनय तथा नम्रता की वे सभी मूर्ति होते थे। यही कारण है कि प्राचीन भारत के शिक्षा-केन्द्रों में ज्ञान, शील, विनय तथा विद्या का अद्भुत मेल मिलता था। उस काल में ज्ञान शील तथा विनय के सम्मिश्रण में और भी चमत्कृत हो गया था। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं कि ये प्राचीन शिक्षा-केन्द्र विश्वविख्यात हुए तथा अनेक देशों के विद्वानों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहे।

प्राचीन काल के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरि, वल्लभी, उज्जयिनी आदि उल्लेखनीय हैं। तक्षशिला में वेद, वेदांग तथा १८ कलाओं का, जिनमें चिकित्सा, धनुर्विद्या, ज्योतिष, कृषि, वास्तु-विद्या आदि शामिल थे, ज्ञान दिया जाता था। नालन्दा में तो लगभग १२ सौ तक वेद तथा उपनिषदों एवं बौद्ध तथा जैन-दर्शनों के अध्ययन की सुविधाएँ थीं। नालन्दा में बौद्ध शिक्षा अवश्य थी पर हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों के

समान ही इसका काम चलता था। तक्षशिला ५वीं सदी तथा नालन्दा १२वीं सदी तक रहे। काठियावाड में वल्लभी तथा दक्षिण में कांची नालन्दा के समय के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र थे। बिहार के विक्रमशिला तथा ओदन्तपुरी के सम्बन्ध में कम जानकारी प्राप्त है, पर बंगाल में स्थित नदिया तो अपनी परम्पराओं को आज भी बनाये हुए है।

मध्ययुग में उच्च शिक्षा

मध्यकाल में मुसलमानों के अनेक आक्रमण भारत पर हुए। प्रारम्भ काल के आक्रमण तो धन के लोभ से ही होते थे, पर बाद में धर्म-प्रचार तथा शासन करने की भावनाओं से भी भारत पर अनेक हमले हुए। इन हमलों से पश्चिम-उत्तर के अनेक शिक्षा-केन्द्र नष्ट हो गए। १३वीं सदी के प्रारम्भ में, सन् १२०६ के लगभग, नालन्द तथा विक्रमशील शिक्षा-केन्द्र जला दिये गए। धीरे-धीरे मुसलमान शासक भारत में बसने लगे। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति तथा इस्लामी संस्कृति का मेल हुआ तथा दोनों की उन्नति हुई। मुसलमानी शासन-काल में उच्च शिक्षा के लिए अनेक मदरसे स्थापित किये गए। कई मदरसे तो भारतीय प्राचीन-शिक्षा केन्द्रों को नष्ट करके विकसित किये गए, पर फिर भी पूर्व तथा दक्षिण में अनेक हिन्दू शिक्षा-केन्द्र चलते रहे। मुसलमान बादशाहों ने दिल्ली, लाहौर, रामपुर, इलाहाबाद, लखनऊ, अजमेर, जौनपुर बीदर आदि में मदरसे खोले। ये मदरसे अरबी, फारसी तथा इस्लामी दर्शन की उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। शेरशाह सूरी ने, जो कि मुगल काल में बादशाह बन गया था, जौनपुर के मदरसे में शिक्षा पाई थी। जौनपुर मदरसे में इतिहास, दर्शन, अरबी और फारसी साहित्य की उच्च शिक्षा दी जाती थी। मध्यकाल के मदरसों में साहित्य, व्याकरण, तर्क, कानून, ज्यामिति, ज्योतिष, दर्शन, धर्म आदि की शिक्षा दी जाती थी। इनमें से अनेक मदरसे किसी एक या दो विषयों की शिक्षा विशेष रूप से देते तथा उनके लिए प्रसिद्ध थे, जैसे रामपुर तर्क तथा चिकित्सा, लखनऊ धर्म तथा दर्शन, लाहौर नक्षत्र-विद्या तथा गणित आदि विषयों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध थे। मध्यकालीन मदरसों में प्रमुखतः अरबी के माध्यम से ही शिक्षा दी जाती थी। आज तो इनमें से अनेक मदरसे नष्ट

हो गए हैं। १८वीं सदी में मुसलमान साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। यूरोपीय कम्पनियाँ भी यहाँ अपना प्रभुत्व जमाने के लिए आपसी संघर्ष करने तथा राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगी थीं। फलस्वरूप युद्ध और संघर्ष होते रहते थे। इसके कारण भारत में उच्च शिक्षा का ह्रास हुआ पर फिर भी अनेक हिन्दू शिक्षा-केन्द्रों में वैदिक शिक्षा की ज्योति जलती रही तथा अनेक मदरसों में अरबी शिक्षा की। पर अंग्रेजी शासन-काल के प्रारम्भ में शिक्षा की जो दशा रही वह आगे चलकर न रह सकी तथा देश निरक्षरता के गर्त में धँसता चला गया।

वर्तमान काल में उच्च शिक्षा

अंग्रेजी शासन काल में उच्च शिक्षा : कलकत्ता मदरसा तथा बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना

अंग्रेजी शासन की स्थापना के बाद कम्पनी के संचालकों ने भारतीय शिक्षा के लिए कुछ व्यवस्था करने की सोची। इस दिशा में भारत के प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने, १७८४ में कलकत्ता में मदरसा खोला, जिसमें मुसलमानों के लिए अरबी माध्यम से पढ़ने की व्यवस्था थी। इसमें दर्शन, कुरान, कानून, ज्यामिति, गणित, न्याय और व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। इसमें पढ़नेवालों के लिए वजीफे भी दिये जाते थे। सन् १८२९ में इसमें ९९ वजीफे पानेवाले छात्र पढ़ते थे।

कलकत्ते का मदरसा स्थापित होने के कुछ वर्षों के बाद जान ओवन ने सरकार से अंग्रेजी शिक्षा स्थानीय लोगों को देने के लिए विद्यालय खोलने की प्रार्थना की, पर इस पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया।

सन् १७९१ में वारेन हेस्टिंग्ज ने बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला। डंकन, जिसने कि इसे स्थापित किया था, लिखता है कि यह कालेज कम्पनी के न्याय-शासन के लिए हिन्दू धर्मशास्त्र के सुयोग्य व्याख्याता प्राप्त करने के उद्देश्य से खोला गया था। १८११ में इसे एक सुपरवाइजिंग समिति के अन्तर्गत रख दिया गया था। सन् १८२८ में इसमें २७७ छात्र थे तथा उन समय इसे २० हजार रुपया सरकारी सहायता मिलती थी।

अंग्रेजी पार्लियामेंट की बहस : १७९३

सन् १७९२-९३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के चार्टर के पुनः मान्य किये जाने के सम्बन्ध में बहस के समय भारत में शिक्षा की व्यवस्था-सम्बन्धी बहस भी हुई। पर भारत में जो शिक्षा चल रही थी उसी को उपयोगी बतलाया गया तथा भारतीयों पर अन्य शिक्षा का लादना अनुपयोगी सिद्ध किया गया।

चार्ल्स ग्रांट का लेख

सन् १७९२ में सर चार्ल्स ग्रांट ने जो ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक डाइरेक्टर थे, अपने एक लेख 'एशियाई प्रजा में सामाजिक स्थिति का सम्प्रेक्षण' लिखा जिसमें भारतीयों को अशिक्षित तथा निरक्षर कहा और उन्हें अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देने का सुझाव दिया। इस टिप्पणी के प्रेरणास्वरूप १८१३ में इंडिया एक्ट में एक धारा बढ़ी, जिसके अनुसार भारतीयों की शिक्षा पर १ लाख रुपया व्यय करने का आदेश था।

सन् १८०० में लार्ड वेलेजली ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना सिविल सर्विस के नौकरों के लिए की। इस कालेज का महत्व सिविल सर्विस परीक्षाओं की दृष्टि से बहुत अधिक है।

सन् १८२० में कम्पनी के डाइरेक्टरों ने मद्रास तथा बम्बई में भी अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के लिए लिखा। इन क्षेत्रों में माउंट स्टुअर्ट एलफिंस्टन के १८२३ के अंग्रेजी शालाओं को खोलने-सम्बन्धी मिनिट के बाद भी कुछ नहीं किया गया था। अतः पहले बम्बई तथा बाद में पूना में अंग्रेजी शिक्षा के लिए शालाएँ खोली गईं। सन् १८३४ में बम्बई एलफिंस्टन कालेज की स्थापना भी भारतीय शासन के लिए उच्च कोटि के व्यक्तियों को शिक्षित करने के उद्देश्य से की गई।

इसी बीच अंग्रेजी के अध्ययन की ओर लोगों की रुचि बहुत अधिक बढ़ी। अतः मदरसा तथा संस्कृत कालेज, कलकत्ता और आगरा कालेज (जो १८१८ में खोला गया था) में अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था की गई। पर इन मदरसों तथा कालेजों में जो छात्र अध्ययन कर रहे थे उनके पास प्राच्य शिक्षा के अध्ययन का काम ही बहुत अधिक था, अतः अंग्रेजी वे पढ़ ही नहीं पाते थे, इसलिए प्राच्य शिक्षा दी जाये या पाश्चात्य अंग्रेजी शिक्षा—इस सम्बन्ध में बड़ा

विवाद खड़ा हो गया। फलस्वरूप लोक-शिक्षा-समिति के सदस्यों में दो दल हो गए और विवाद इतना बढ़ा कि इसका काम प्रायः ठप-सा ही हो गया। इस विवाद के हल तथा परिस्थिति की जाँच के आधार पर सुझाव देने के लिए लार्ड मैकाले को इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया। सन् १८३५ में लार्ड मैकाले ने सरकार को सुझाव दिया कि अंग्रेजी शिक्षा ही श्रेयस्कर होगी। लार्ड विलियम बेंटिक ने लार्ड मैकाले के सुझावों को माना तथा ७ मार्च १८३५ को उन्होंने तथा उनकी कौंसिल ने एक प्रस्ताव पास किया जिसमें पाश्चात्य शिक्षा-प्रसार, प्राच्य शिक्षा को निजी प्रयासों से चलने देना, प्राच्य ग्रन्थों का प्रकाशन न करना आदि बातें थीं। इस प्रस्ताव का भारतीय मुसलमानों ने बड़ा विरोध किया तथा इसे भारतीयों को ईसाई बनाने की चेष्टा बताया। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप हुगली (१८३६) तथा ढाका (१८४०) में कालेज खोले गए। कलकत्ता का हिन्दू कालेज सरकार ने अपने हाथ में लेकर उसे प्रेसीडेन्सी कालेज बनाया तथा पटना में भी कालेज खोलने की बात सोची जाने लगी।

ईसाई मिशन

ईसाई मिशनरियों ने सरकारी धर्मनिरपेक्षता की नीति को मान्य नहीं किया तथा उन्होंने भारत में अनेक कालेज, शिक्षक-प्रशिक्षण संस्था आदि खोले। इनमें केरी, मार्शमैन, एलेक्जेन्डर डफ, एण्डरसन, मेन्डुड, विल्सन, हिस्लप आदि उल्लेखनीय पादरी थे, जिन्होंने मद्रास, मैसूर, बंगलौर, मध्यप्रदेश आदि के अनेक स्थानों में कालेज खोले।

अंग्रेजी माध्यम बनाने तथा विश्वविद्यालय खोलने के प्रयास

देश की शिक्षा में धर्म के स्थान के सम्बन्ध में सरकार, जनता तथा मिशन में घोर विवाद चल रहा था कि इसी बीच, सन् १८४४ में सरकार ने अंग्रेजी तथा पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान के ज्ञाताओं को सरकारी नौकरी में प्राथमिकता देने की नीति की घोषणा की। प्रारम्भ में सन् १८२१ में बम्बई में देशी भाषा को ही शिक्षा का उपयुक्त माध्यम माना जाता था, पर सन् १८४२ के लगभग इस नीति तथा विचार में परिवर्तन हुआ तथा अंग्रेजी को अनिवार्य रूप से शिक्षा का अच्छा साधन माना जाने लगा। मद्रास में प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जा रहा था तथा हाईस्कूल

और कालेज तो वहाँ अभी तक खुले भी नहीं थे। मद्रास में सन् १८४१ में एक हाईस्कूल खोला गया जिसे विश्वविद्यालय कहा जाता था। बंगाल शिक्षा-समिति ने सन् १८४५ में कलकत्ता में विश्वविद्यालय खोलने की प्रार्थना की, पर कम्पनी के डाइरेक्टरों ने इसे मंजूर न किया।

चिकित्सा, कानून तथा इंजीनियरिंग शिक्षा

कलकत्ते में शल्य तथा चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान देनेवाली अनेक संस्थाएँ काम कर रही थीं। सन् १८३३ में कलकत्ता में चिकित्सा-शिक्षा की जाँच करने के हेतु एक समिति गठित की गई। इसके प्रतिवेदन पर कलकत्ता मेडिकल स्कूल की स्थापना हुई। कलकत्ता में प्रथम अस्पताल सन् १८३३ में तथा महिलाओं के लिए अलग अस्पताल सन् १८३६ में खोला गया। मद्रास में मेडिकल स्कूल की स्थापना सन् १८३५ में हुई। बम्बई में सन् १८४५ में मेडिकल कालेज खोला गया।

कलकत्ता, मद्रास तथा बनारस कालेज में मुस्लिम तथा हिन्दू कानून का गहन अध्ययन होता था। पर ज्यूरिसप्रूडेन्स का अध्ययन पक्के तौर पर १८५५ में ही प्रारम्भ हुआ। इसी वर्ष मद्रास तथा बम्बई में भी ज्यूरिसप्रूडेन्स की शिक्षा की व्यवस्था की गई।

बम्बई की इंजीनियरिंग संस्था में सन् १८२४ में ही इंजीनियरिंग की शिक्षा दी जाने लगी थी। एलफिंस्टन कालेज में १८४४ में इंजीनियरों के प्रशिक्षण की कक्षा खोली गई थी। कलकत्ता के हिन्दू कालेज में सन् १८४४ में इंजीनियरिंग के प्रशिक्षण की शिक्षा की व्यवस्था हुई। सन् १८४८ में अर्ल ऑफ डलहौजी ने तीनों प्रेसीडेन्सी में एक-एक इंजीनियरिंग कालेज खोलने का सुझाव दिया। पर सन् १८५६ तक अनेक विवादों के कारण कोई कार्य इस दिशा में न हो सका। रुड़की में १८४७ में, मद्रास में सन् १८५८ तथा बम्बई में १८५६ में इंजीनियरिंग की शिक्षा के लिए कालेज खोले गए।

१८५४ का वुड शिक्षा-महाविधान

यह शिक्षा-महाविधान ही भारतीय विश्वविद्यालयों का जन्मदाता है। इसके आधार पर सन् १८५७ में कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में लन्दन विश्वविद्यालय के आधार पर विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

इसके बाद लगभग २० वर्षों तक कालेजों का खूब विकास हुआ। पर सन् १८८२ तक कोई नया विश्वविद्यालय स्थापित न किया गया। महाविद्यालय शिक्षा के प्रसार का पता निम्नलिखित आँकड़ों से लगता है :

	१८५७	१८८२
१. महाविद्यालयों की संख्या	२७	७५
२. महाविद्यालयों से पास होनेवाले छात्रों की संख्या	२१९	२,७७८

महाविद्यालयीन शिक्षा के इतने अधिक प्रसार का कारण माध्यमिक शिक्षा का विकास था। इस काल की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि १८५४ के वुड शिक्षा-महाविधान ने यह आशा व्यक्त की थी कि सरकार क्रमशः उच्च शिक्षा से अपना हाथ खींचेगी; पर इसके विरुद्ध यह हुआ कि सरकार द्वारा ही अनेक कालेज या महाविद्यालय खोले गए।

पर अभी तक विश्वविद्यालय केवल सम्बद्धक ही रहे।

सन् १८६५ में पंजाब में एक विश्वविद्यालय खोलने के लिए वहाँ के प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा प्रस्ताव रखा गया। इसे वहाँ के लेफ्टीनेंट गवर्नर ने भी उपयोगी माना, पर यह स्वीकार न किया जा सका।

नये विश्वविद्यालयों की स्थापना

सन् १८६७ में संयुक्त प्रान्त की ब्रिटिश इंडियन असोसियेशन ने भी एक विश्वविद्यालय खोलने की प्रार्थना बारम्बार प्रदेश में की। पर इसका परिणाम केवल यह निकला कि पंजाब में एक यूनिवर्सिटी कालेज खोला गया। इस कालेज ने अपने कार्य का सूत्र विस्तार किया तथा सन् १८८२ में वहाँ एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। यह विश्वविद्यालय भी प्रमुखतः सम्बद्धक ही था, पर यह प्रोफेसरों की नियुक्तियाँ करके शिक्षण कार्य भी कर सकता था।

सन् १८८२ में सरकार ने १८५४ के वुड शिक्षा-महाविधान की कार्यान्विति की जाँच तथा भविष्य के लिए सुझाव देने के हेतु एक भारतीय शिक्षा-आयोग

की स्थापना की। इसे हंटर आयोग भी कहते हैं, क्योंकि

१८८२ का हंटर आयोग

इसके अध्यक्ष श्री हंटर थे। इस आयोग ने शिक्षा के सभी स्तरों के सम्बन्ध में अपने सुझाव दिये थे। विश्वविद्यालयीन शिक्षा-सम्बन्धी इसके सुझाव निम्नलिखित थे :

१. सरकार का उच्च-शिक्षा से धीरे-धीरे ही हाथ खींचना ठीक होगा।
२. महाविद्यालयों को साधारण तथा विशेष दोनों प्रकार की आर्थिक सहायता दी जाये।
३. महाविद्यालयीन शुल्क के लेने तथा माफ करने के सम्बन्ध में निश्चित नीति अपनाई जाये।
४. नैतिक शिक्षा के लिए पुस्तक तैयार कराई जाये।
५. 'एक मानव तथा एक नागरिक के कर्त्तव्य' के अन्तर्गत कालेज के प्राचार्य या प्रोफेसर कुछ व्याख्यान कालेज के छात्रों के लिए दें।
६. महाविद्यालय में वैकल्पिक विषय भी रहें।

सरकार ने इनमें से अधिकांश सुझावों को स्वीकार किया था तथा प्रतिवर्ष शिक्षा-सम्बन्धी वार्षिक प्रतिवेदन तैयार किये जाने के आदेश दिये गए।

सन् १८८७ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई पर यह भी अन्य चार विश्वविद्यालयों के समान सम्बद्धक ही था।

सन् १८८२ के बाद उच्च शिक्षा का जिस तेजी से विकास हुआ उसके सूचक आँकड़े निम्नलिखित हैं :

	१८८२	१८९२	१९०१–२
महाविद्यालयों की संख्या	७५	१३६	१७९

लार्ड कर्जन सन् १८९९ में भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया। उसने भारतीय शिक्षा के हर क्षेत्र के विकास तथा उन्नति के प्रयत्न किये। विश्व-

लार्ड कर्जन

विद्यालयीन शिक्षा के सुधार के लिए उसने २७ जनवरी १९०२ ई० को एक विश्वविद्यालयीन आयोग की स्थापना की। इस आयोग की नियुक्ति भारत में स्थित विश्वविद्यालयों

की दशा तथा उन्नति के साधनों के सम्बन्ध में जानकारी तथा सुझाव देने के लिए की गई थी।

आयोग ने अपने सुझाव उसी वर्ष प्रस्तुत किये। आयोग की सिफारिशें निम्नलिखित थी :

१. आयोग ने लन्दन विश्वविद्यालय के अनुकूल विश्वविद्यालय बनाने का सुझाव दिया।[1]
२. जाँच, देखरेख तथा सम्बद्धीकरण की शर्तें कड़ी की जाय।
३. छात्रों की परिस्थिति पर और अधिक ध्यान दिया जाये।
४. विश्वविद्यालय किसी-न-किसी रूप में शिक्षण कार्य भी करे।
५. प्रत्येक कालेज या महाविद्यालय के लिए एक सुव्यवस्थित प्रबन्ध-कारिणी समिति हो।
६. पाठ्यक्रम में परिवर्तन तथा परीक्षा की पद्धति में सुधार किया जाये।

इनमें से छात्रों की देखरेख, पाठ्यक्रम तथा परीक्षा-पद्धति से सम्बन्धित बातें

१९०४ का विश्वविद्यालय एक्ट तो विश्वविद्यालयों पर ही छोड़ दी गई तथा अन्य बातों को १९०४ के विश्वविद्यालय एक्ट में शामिल किया गया।

इस एक्ट के अनुसार निम्नलिखित प्रावधान रखा गया :

१. विश्वविद्यालयों के अधिकार बढ़ा दिये गए तथा उन्हें प्रोफेसर नियुक्त करने, खोज तथा शोध-कार्य करने का कार्य सौंपा गया।
२. सीनेट में कम-से-कम ५० तथा अधिक-से-अधिक १०० फेलोज रहें तथा प्रत्येक की अवधि पाँच वर्ष से अधिक न हो।
३. चुनाव का सिद्धान्त रखा गया। २० फेलोज बम्बई, मद्रास, कलकत्ता तथा १५ फेलोज अन्य विश्वविद्यालयों में चुने जायें।
४. विश्वविद्यालय में सिंडिकेट को मान्यता दी गई तथा इसमें विश्वविद्यालयीन शिक्षकों को समुचित प्रतिनिधित्व दिया गया।

---

१. उस समय लन्दन विश्वविद्यालय शिक्षण विश्वविद्यालय था, इसके महाविद्यालयों में अपने शिक्षण तथा प्रबन्ध में स्वतन्त्र व्यवस्था थी, किन्तु था स्वतन्त्र विश्वविद्यालय — की प्रबन्धकारिणी समिति में था, तथा सीनेट का प्रबन्धकारिणी समिति होती थी।

५. महाविद्यालयों के सम्बद्ध करने की शर्तें कड़ी बनाई गईं।
६. सीनेट के बनाये गए कानूनों या नियमों में सरकार कोई भी परिवर्तन कर सकेगी।
७. विश्वविद्यालयों की सीमा निश्चित की गई तथा सरकार को इस सम्बन्ध में सीमा-निर्धारण के अधिकार दिये गए।

भारतीय जनता ने इस एक्ट का विरोध किया, पर इससे विश्वविद्यालयों के संगठन तथा प्रशासन में सुधार ही हुआ और विश्वविद्यालयों पर सरकार का नियन्त्रण और अधिक हो गया, विश्वविद्यालयीन शिक्षा में कोई आमूल परिवर्तन नहीं किया जा सका तथा विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि भी नहीं हुई।

सन् १९१३ का प्रस्ताव

सन् १९१३ तक का समय विश्वविद्यालयों के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस काल में इंग्लैण्ड में विश्वविद्यालयों के स्वरूप-निर्धारण के प्रश्न पर बड़ा विवाद चला तथा निश्चय किया गया कि शिक्षण-विश्वविद्यालय सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों से अच्छे होते हैं। इसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। सरकार ने १९१३ में इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव ने विश्वविद्यालय के स्वरूप तथा उच्च शिक्षा-सम्बन्धी नीति को स्पष्ट किया। चूँकि भारत उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अनेक कारणों से सम्बद्धीय विश्वविद्यालयों का त्याग न कर सकेगा अतः ऐसे विश्वविद्यालयों के क्षेत्र सीमित किये जायें तथा अन्य नये शिक्षण तथा आवासिक विश्वविद्यालय स्थापित किये जायें। साथ ही जो महाविद्यालय काफी उन्नति कर चुके हों तथा जिनका स्तर बहुत अच्छा हो उन्हें विश्वविद्यालयों में परिणत किया जाये।

सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने से इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य आगे न बढ़ाया जा सका, पर फिर भी बनारस (१९१६) तथा पटना (१९१७) में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग

सन् १९१७ में सर माइकेल सैडलर की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय के संगठन तथा उसके कार्यों की पूरी जाँच के लिए एक आयोग की स्थापना की गई। इस आयोग की सिफारिशें कलकत्ता विश्वविद्यालय से ही सम्बन्धित थीं, पर इन्हें अन्य

प्रान्तों ने भी स्वीकार किया। इस आयोग की सिफारिशें निम्नलिखित थीं :

१. इण्टरमीडिएट शिक्षा की कक्षाएँ माध्यमिक तथा इण्टर बोर्डों के अन्तर्गत की जायें तथा विश्वविद्यालयों में इण्टर पास योग्यता के छात्र भरती किये जायें।
२. कलकत्ता विश्वविद्यालय का सम्बन्ध प्रान्तीय सरकार से रहे।
३. स्नातक डिग्री पाठ्यक्रम तीन वर्षीय हो।
४. आनर्स कोर्स पास कोर्स से भिन्न हो।
५. कलकत्ता नगर की शिक्षण-सम्भावनाओं का संगठन किया जाये तथा इसे एक वास्तविक शिक्षण विश्वविद्यालय बनाया जाये। ढाका विश्वविद्यालय भी शीघ्र स्थापित किया जाये।
६. महिला शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये तथा इसके लिए एक बोर्ड की स्थापना की जाये।
७. सरकारी नौकरियों में भरती न करके शिक्षण कार्य के लिए विश्वविद्यालयों में अलग से शिक्षण सेवा स्थापित की जाये।
८. शिक्षक, डाक्टरी, कानूनवेत्ता, इन्जीनियरिंग, कृषि आदि के प्रशिक्षण की अच्छी व्यवस्था के लिए अनेक सुझाव दिये गए।
९. माध्यमिक स्तर तथा शिक्षण का माध्यम मातृभाषा रहे तथा विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी।
१०. परीक्षा प्रणाली में सुधार किया जाये।
११. नये विश्वविद्यालय में शिक्षण किया जाये तथा उनका संगठन एकात्मक हो।
१२. विश्वविद्यालयों पर से सरकारी नियन्त्रण कम किया जाये जिससे वे स्वतन्त्रता से कार्य कर सकें।

नये विश्व विद्यालयों की स्थापना सन् १९१९ के प्रभाव तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप भारत में अनेक नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई; जैसे मैसूर (१९१६), बनारस (१९१६), पटना (१९१७), उस्मानिया (१९१८), अलीगढ़ (१९२०), ढाका (१९२०), लखनऊ (१९२०), दिल्ली (१९२२), नागपुर (१९२३), आंध्र (१९२६), आगरा (१९२७), अन्नामलाई (१९२९)।

भारत सरकार ने विश्वविद्यालयों को आर्थिक अनुदान देने की नीति ही प्रमुखतः अपनाई। इस काल में महाविद्यालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई तथा १९२१-२२ में कुल ५४,७०३ छात्र देश के विभिन्न महाविद्यालयों में पढ़ रहे थे। इन विश्वविद्यालयों में साहित्यिक तथा साधारण पाठ्यक्रम के छात्र ही अधिक रहते थे। इनका उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना-मात्र रहता था। इसके फलस्वरूप १९२८-२९ में शिक्षकों की बेकारी बहुत अधिक बढ़ गई थी। उच्च शिक्षा खर्चीली तथा महँगी भी बहुत थी।

भारत में अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना से यह आवश्यक हो गया था कि इन सभी विश्वविद्यालयों के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाये। सन् १९२१ में इम्पीरियल यूनिवर्सिटी कान्फ्रेंस में भी इसकी आवश्यकता अनुभव की गई थी। सन् १९२४ में शिमला में भारत के सभी विश्वविद्यालयों की परिषद् या सभा बुलाई गई तथा उसमें एक अन्तर-विश्वविद्यालयीन बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड का कार्य अन्तर-विश्वविद्यालयीन सूचना ब्यूरो के रूप में काम करना, प्रोफेसरों की अदलाबदली में सहायक होना, विश्वविद्यालयीन कार्य तथा विचार-विमर्श के लिए प्रमाणित संस्था का कार्य करना, भारतीय विश्वविद्यालयों की डिग्री आदि को संसार के अन्य विश्वविद्यालयों में मान्य कराना, विश्वविद्यालयीन शिक्षा-सम्बन्धी विश्व-परिषदों में अपने प्रतिनिधि भेजना आदि है। इस बोर्ड ने 'भारतीय विश्वविद्यालयों की संदर्शिका' तथा अन्य साहित्य का प्रकाशन भी किया है।

अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड

१९१९ के भारतीय संविधान के अनुसार द्विविध शासन की स्थापना हुई। इसके अनुसार शिक्षा प्रान्तीय विषय बन गया। इसके कारण विश्वविद्यालयों में भारतीय भाषाओं को स्थान मिला तथा अनेक औद्योगिक विषयों का शिक्षण भी किया जाने लगा। छात्रावास आदि की व्यवस्था भी की गई। पर इसी समय राष्ट्रीयता की भावना का अत्यधिक विकास हुआ तथा अनेक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, जिनमें 'स्वदेशी' पर अधिक बल दिया गया। फलस्वरूप

१९१९ तथा १९३५ के संविधान

अनेक राष्ट्रीय महाविद्यालय तथा विद्यालय प्रारम्भ किये गए। पर फिर भी छात्रों की संख्या विश्वविद्यालयों में बढ़ती ही गई।

सन् १९३५ के संविधान के अनुसार प्रान्तीय शासन स्वतन्त्र तथा जनता के चुने प्रतिनिधियों के हाथ में आ गया। प्रान्तीय मन्त्रियों ने प्रारम्भिक शिक्षा पर अधिक बल दिया। इससे विश्वविद्यालय की शिक्षा को पर्याप्त आर्थिक सहायता न मिल सकी तथा उनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई। फिर भी विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रान्तीय मन्त्री अपने पदों पर अधिक समय न रहे, क्योंकि युद्ध तथा राजनैतिक कारणों से उन्हें इस्तीफा देना पड़ा। इतना सब होते हुए भी १९३७ के बाद भारत में अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए—जैसे ट्रावनकोर (१९३७), उत्कल (१९४३) आदि।

सार्जेण्ट रिपोर्ट

द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय शिक्षा के पुनर्गठन के लिए, सन् १९४४ में सार्जेण्ट रिपोर्ट में भारतीय शिक्षा के सभी अंगों की शिक्षा की योजना बड़े विस्तार में बनाई गई थी। इसमें उच्च शिक्षा की योजना, अनिवार्य प्राथमिक बुनियादी शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा योजनाओं के आधार पर बनाई गई थी। इसमें विश्वविद्यालयीन शिक्षा के खर्च आदि के आँकड़े दिए गए थे। सार्जेण्ट रिपोर्ट में योग्य तथा कुशाग्र बुद्धि के बालक-बालिकाओं को ही उच्च शिक्षा दिये जाने का सुझाव है। इसमें औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था की योजना भी है। इसमें विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम तथा स्तर में समानता लाने के लिए 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की स्थापना का सुझाव भी दिया गया है।

स्वतन्त्र भारत में उच्च शिक्षा

सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उच्च शिक्षा के क्षेत्र की सबसे प्रमुख, महत्त्वपूर्ण तथा क्रान्तिकारी घटना सन् १९४८ में विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना थी।

विश्वविद्यालयीन शिक्षा के दोष

१. आज देश के समक्ष सामाजिक, आर्थिक तथा सुधार की समस्याएँ हैं। हमारी उच्च शिक्षा इस समस्या के हल में सहायक नहीं होती है।

२. भारतीय महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में साहित्यिक तथा साधारण पाठ्यक्रम के शिक्षण की ही सुविधाएँ हैं। फलस्वरूप व्यावसायिक तथा औद्योगिक उच्च-शिक्षा प्राप्त करने में कठिनाई आती है।
३. उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम देश की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है।
४. भारत गाँवों का देश है पर गाँवों में उच्च शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है।
५. महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में छात्रों की संख्या अधिक बढ़ गई है। फलस्वरूप शिक्षकों तथा छात्रों का व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता है। इससे छात्रों का उचित विकास नहीं हो पाता है।
६. भारतीय उच्च शिक्षा का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। इसी लिए उच्च शिक्षा पानेवाला बालक समाज और जीवन से सन्देह करने लगता है तथा उसमें असन्तोष अधिक रहता है।
७. उच्च शिक्षा महँगी अधिक है।
८. विश्वविद्यालयों में खोज तथा अनुसन्धान की सुविधाओं की बहुत कमी है। कानून के क्षेत्र में तो खोज तथा शोध-कार्य सुनाई ही नहीं देते हैं।
९. उत्पादक शिक्षा की व्यवस्था नहीं के बराबर है।
१०. निजी प्रयासों से चलने वाले महाविद्यालयों की स्थिति सन्तोषजनक नहीं है।
११. विश्वविद्यालयों में भरती होने की कोई अच्छी व्यवस्था नहीं है। फलस्वरूप अनेक अनुपयोगी तथा अयोग्य छात्र प्रवेश पा जाते हैं। इससे शिक्षा का स्तर गिर रहा है।
१२. विश्वविद्यालयीन छात्र-छात्राओं के स्वास्थ्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है।
१३. परीक्षा पर अधिक बल दिया जाता है तथा परीक्षा-प्रणाली दूषित है।
१४. नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा की कोई उचित व्यवस्था नहीं है।
१५. माध्यमिक शिक्षा-स्तर तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होने तथा

विश्वविद्यालयीन स्तर पर अंग्रेजी होने से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग (१९४८)

भारत सरकार ने ४ नवम्बर १९४८ को एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार भारत की विश्वविद्यालयीन शिक्षा के दोषों को दूर कर उसकी व्यवस्था तथा उन्नति के सम्बन्ध में सुझाव एवं सिफारिशें करने के लिए विश्वविद्यालयीन शिक्षा समीक्षा-मण्डल की नियुक्ति की गई। इस समीक्षा मण्डल के अध्यक्ष डॉ० राधाकृष्णन् थे। अतः इसे राधाकृष्णन् कमीशन भी कहते हैं। इस समीक्षा-मण्डल में राधाकृष्णन् सहित १० सदस्य थे। डॉ० ताराचन्द, डॉ० जेम्स एफ० डफ, डॉ० जाकिर हुसैन, डॉ० मारगन, डॉ० मुदालियर, डॉ० साहा, डॉ० बहल, डॉ० टाइगर्ट, तथा श्री सिद्धान्त।

इस समीक्षा-मण्डल के सन्दर्भित निर्देश निम्नलिखित थे :

सन्दर्भित निर्देश : (Terms of Reference)

१. भारत में विश्वविद्यालयीन तथा शोध-खोज के उद्देश्य निश्चित करना।
२. भारतीय विश्वविद्यालयों के कार्यों, सीमा, अधिकारों, आर्थिक परिस्थिति, धार्मिक शिक्षण, शिक्षण के स्तर, परीक्षा, पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम आदि में आवश्यक सुधारों के सुझाव प्रस्तुत करना।
३. बनारस, अलीगढ़, दिल्ली तथा केन्द्र के अन्तर्गत अन्य विश्वविद्यालयों की विशेष समस्याओं पर विचार करना।
४. शिक्षकों के वेतन-मान, योग्यता, सेवा की अवधि, शर्तें, कार्यों आदि पर विचार करना।
५. छात्रों के अनुशासन, छात्रावास, ट्यूटोरियल की कार्यप्रणाली तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा से सम्बन्धित अन्य बातों पर विचार करना।

राधाकृष्णन् समीक्षा-मण्डल ने देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के केन्द्रों का भ्रमण किया तथा अनेक शिक्षा विशारदों से चर्चा करके अपना प्रतिवेदन शिमला में तैयार करके २४ अगस्त १९४९ में भारत के केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री को प्रस्तुत किया।

राधाकृष्णन् समीक्षा-मण्डल ने अपने प्रतिवेदन में भारत में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के इतिहास का पर्यवेक्षण करके भारत में वर्तमान परिस्थितियों में विश्व-विद्यालयीन उच्च शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किए। उन्होंने लिखा है कि भारतीय संविधान में स्वातंत्र्य, एकता, बन्धुत्व पर विशेष बल दिया गया है, अतः हमारी उच्च शिक्षा का भी यही उद्देश्य होना चाहिए। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि देश की सामान्य, औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा का स्तर बहुत ही ऊँचा हो। अतः हमारे समाज की औद्योगिक तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्या के प्रसार, नये ज्ञान, जीवन के मूल्य तथा अर्थ के लिए सतत प्रयत्न एवं औद्योगिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का उच्च स्तरीय ज्ञान हमारी उच्च विश्वविद्यालयीन शिक्षा के उद्देश्य होने चाहिए।

इस तरह विश्वविद्यालयीन शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना के बाद इस प्रतिवेदन में विश्वविद्यालयीन शिक्षा की समस्याओं, जैसे शिक्षा का माध्यम, शिक्षकों की योग्यता, कार्य, वेतनमान अधिकार तथा सेवा की शर्तें, आर्थिक समस्या, परीक्षा, पाठ्यक्रम, अलीगढ़, बनारस आदि विश्वविद्यालयों की विशेष समस्याएँ, अनुशासन, ट्यूटोरियल पद्धति तथा छात्रावास आदि का विस्तृत विवेचन है।

इन उपरोक्त समस्याओं के विशद विवेचन के बाद प्रतिवेदन में इनके हल के लिए सुझाव तथा सिफारिशें हैं। ये सुझाव तथा सिफारिशें संक्षेप में इस प्रकार हैं :

विश्वविद्यालयीन शिक्षक वर्ग :

१. शिक्षकों का महत्त्व, उत्तरदायित्व तथा प्रतिष्ठा मान्य होनी चाहिए।
२. विश्वविद्यालय, जिनकी आर्थिक स्थिति शोचनीय है उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाये।
३. विश्वविद्यालयीन तथा महाविद्यालयीन शिक्षकों के चार स्तर हों— प्रोफेसर (वेतनमान ९०० से १३००), रीडर (६००-९००), व्याख्याता (३००-६००) तथा इन्स्ट्रक्टर (२५० से ५००)। तरक्की योग्यता के आधार पर ही हो। इनके लिए प्राविडेण्ट फण्ड, छुट्टी तथा कार्य के घण्टे निश्चित किये जायें।

४. प्रत्येक विश्वविद्यालय में कुछ रिसर्च फ़ेलोज़ (वेतनमान २५०) से ५००)) हों।

५. उपयुक्त शिक्षकों को ही नियुक्त किया जाये। इनकी सेवामुक्ति की आयु ६० वर्ष हो, तथा ६८ वर्ष की आयु तक सेवा करने के लिए अवधि में वृद्धि की जा सकती है।

२. शिक्षण का स्तर :

१. विश्वविद्यालय में आज प्रचलित इण्टरमीडिएट स्तर की परीक्षा पास अर्थात् १२ वर्ष शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों को ही भरती किया जाये।
२. इसके लिए प्रत्येक प्रान्त में बारहवीं कक्षा तक के इण्टरमीडिएट विद्यालय खोले जायें।
३. १० से १२ साल तक शिक्षा-प्राप्त बालकों को विभिन्न व्यापारों तथा उद्योगों की ओर प्रेरित करने के लिए देश में अनेक औद्योगिक तथा व्यावसायिक विद्यालय खोले जायें।
४. विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षकों के रिफ्रेशर कोर्स व्यवस्थित किये जायें।
५. शिक्षण विश्वविद्यालयों में भीड़ अधिक न होने देने के लिए ३,००० तथा कालेज में १,५०० से अधिक विद्यार्थी भरती न किये जायें।
६. वर्ष में परीक्षा के दिनों को छोड़कर कम-से-कम १८० दिन पढ़ाई की जाये। तथा वर्ष में तीन टर्म (terms) हों, प्रत्येक टर्म ग्यारह सप्ताह का हो।
७. लेक्चर अच्छे स्तर के व्यवस्थित हों तथा ट्यूटोरियल पद्धति तथा प्रयोगशालाओं का उपयोग इनके पूरक के रूप में किया जाये।
८. किसी भी कक्षा के लिए कोई पुस्तक निर्धारित न की जाये।
९. ट्यूटोरियल पद्धति को अपनाया जाये तथा प्रत्येक समूह में ६ से अधिक विद्यार्थी न हों। इस पद्धति का लाभ सभी छात्रों को मिले तथा इसका उपयोग छात्रों के मानसिक विकास के लिए ही किया जाये, न कि परीक्षा में पास कराने के लिए। इस पद्धति में उत्तम कार्य के लिए शिक्षकों की संख्या बढ़ाई जाये।

पाठ्यक्रम :

१. विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में छात्र कला तथा विज्ञान फेकल्टी तथा औद्योगिक विद्यालयों में १२ वर्ष की पढ़ाई या वर्तमान इण्टर परीक्षा के बाद भरती किये जायें।

२. किसी भी विषय की एम० ए० की उपाधि स्नातक के बाद आनर्स वालों को १ वर्ष में तथा साधारण स्नातकों को २ वर्ष में प्रदान की जाये।

३. विश्वविद्यालय तथा माध्यमिक शालाएँ, दोनों में सामान्य शिक्षा की व्यावहारिक तथा शैक्षणिक शिक्षा प्रारम्भ की जाये। इन्हें सिलेबस तथा पठन-सामग्री भी तैयार करना चाहिए। व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन होना चाहिए। सामान्य शिक्षा का साहित्य भी तैयार किया जाये, जिससे बालकों को विभिन्न विषयों के सम्बन्धों का ज्ञान हो सके।

४. शीघ्र ही सामान्य शिक्षा को चालू किया जाये, जिससे आज इण्टर तथा स्नातक कक्षाओं में चल रहे आत्यन्तिक (सङ्कुचित) विशेषीकरण को रोका जा सके।

५. छात्रों की व्यावसायिक तथा सामान्य रुचियों को दृष्टि में रखते हुए ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विशेष तथा सामान्य शिक्षा के सम्बन्धों को निश्चित किया जाये, जिससे छात्रों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सके तथा उनमें अच्छे योग्य नागरिक बनने की क्षमता उत्पन्न हो।

स्नातकोत्तर प्रशिक्षण तथा नये शोध का कार्य :

१. कला तथा विज्ञान के एम० ए० अथवा एम० एस्-सी० के लिए एक-से नियम हों तथा इनकी भरती अखिलदेशीय स्तर पर हो। इनकी पढ़ाई व्यवस्थित हो तथा गोष्ठियों एवं प्रयोगशालाओं का पूर्ण उपयोग किया जाये। शिक्षकों तथा शिष्यों का पारस्परिक सम्पर्क घनिष्ठ होना चाहिए।

२. शोध-प्रबन्धों की पढ़ाई का समय २ वर्ष से कम नहीं होना चाहिए;

गाय ही शोध-प्रबन्धों के विद्यार्थियों का दृष्टिकोण संकुचित विशेषीकरण का नहीं होना चाहिए।

३. विश्वविद्यालयों को अधिक-से-अधिक विषयों में शोध की सुविधाएँ देने का प्रयत्न करना चाहिए।
४. प्रत्येक विश्वविद्यालय में शोध एवं अनुशीलन कार्यों के लिए कुछ फेलोशिप होना चाहिए। ये फेलोशिप केवल योग्यता के आधार पर ही चुने जायँ।
५. साहित्य और विज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधियाँ उच्च कोटि की मौलिक एवं प्रकाशित कृतियों पर ही प्रदान की जायँ।
६. विश्वविद्यालयीन शिक्षकों को समय पर काम करने, दक्षता तथा लगन आदि का ध्यान रखकर नये ज्ञान को बढ़ाते रहना चाहिए।
७. दर्शन, धर्म, इतिहास और ललित कलाओं में शोध-कार्यों को बढ़ावा देना आवश्यक है।
८. देश में विज्ञान के शिक्षकों तथा अन्य क्षेत्रों में वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं की कमी है, अतः अधिक-से-अधिक वैज्ञानिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। केन्द्रीय शिक्षा-विभाग को इन वैज्ञानिक विषयों के स्नातकोत्तर अध्ययन एवं डॉक्टरेट के लिए छात्र-वृत्तियाँ देनी चाहिए। विश्वविद्यालयों में विज्ञान के शिक्षकों की संख्या-वृद्धि करनी चाहिए। विज्ञान के क्षेत्र में नये शोध-कार्यों के लिए विश्व-विद्यालयों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। देश में जीव-विज्ञान के शिक्षण की कमी है अतः पाँच ग्रामीण जीव-विज्ञान केन्द्र खोले जायें। बायो-केमिस्ट्री, बायो-फिजिक्स, जियो-केमिस्ट्री, जियो-फिजिक्स आदि की पढ़ाई के लिए सुविधाएँ बढ़ाई जायें।

प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा

कृषि की शिक्षा राष्ट्र की मुख्य शिक्षा मानी जाये और इसे प्रमुखता दी जाये। अमेरिका आदि देशों में अपनाई जानेवाली, प्रयोग के लिए खेतों की व्यवस्था को यहाँ भी अपनाया जाये।

व्यावसायिक शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को बड़े उद्योगों में व्यावसायिक

शिक्षा के लिए भेजा जाये। व्यवसाय की स्नातकोत्तर शिक्षा को और भी अधिक व्यावहारिक होना चाहिए तथा थोड़े एवं केवल योग्य व्यक्तियों को ही यह शिक्षा दी जाये।

शिक्षा के प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त सुविधाएँ होनी चाहिए। इन प्रशिक्षण केन्द्रों में शालाओं के शिक्षण के अनुभवी योग्य शिक्षकों को रखा जाये। इस क्षेत्र के स्नातकोत्तर प्रशिक्षण के लिए तीन वर्ष तक शाला में पढ़ाने का कार्य करने के बाद ही शिक्षकों को भेजना चाहिए।

इंजीनियरिंग तथा प्राविधिक शिक्षा के लिए विद्यालय खोले जायें तथा इनमें अनेक सम्बन्धित विषयों की शिक्षा दी जाने की व्यवस्था हो। शैक्षणिक ज्ञान के साथ व्यावहारिक शिक्षा का भी ध्यान रखा जाये। इंजीनियर, वैज्ञानिक तथा डिजाइन डेवलपमेंट इंजीनियर तैयार करने के लिए उच्च प्राविधिक विद्यालय खोले जायें।

कानून का पाठ्यक्रम संशोधित किया जाये तथा इसकी शिक्षा के लिए २ वर्ष की उत्तर-स्नातक तथा सामान्य शिक्षा परीक्षा पास होना आवश्यक समझा जाये। इसके लिए ३ साल का स्नातक कोर्स विशेष कानूनी विषयों के लिए सुझाया गया। अन्तिम वर्ष में व्यावहारिक ज्ञान दिया जाये।

चिकित्सा-शिक्षा के कालेजों में १०० से अधिक छात्र भरती न किये जायें। डाक्टरी की स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा नर्सिंग की ओर विशेष ध्यान दिया जाये। आयुर्वेद को भी प्रोत्साहन दिया जाये तथा प्रथम वर्ष में भारतीय आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति का इतिहास भी पढ़ाया जाये।

इसके साथ-साथ समीक्षा-मण्डल ने व्यावसायिक प्रबन्ध, सार्वजनिक प्रबन्ध तथा व्यावसायिक सम्बन्धों आदि पर भी अपने सुझाव दिये।

सभी विद्यालयों को प्रतिदिन अपना कार्य कुछ मिनटों तक मौन ध्यानस्थ रहने के बाद प्रारम्भ करना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा धार्मिक महात्माओं की जीवनियाँ विश्व-बन्धुत्व के कुछ चुने हुए प्रचारकों तथा धार्मिक दर्शन की कुछ समस्याएँ क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय वर्षों में पढ़ाई जायें।

शिक्षा का माध्यम :

१. संघीय भाषा की वृद्धि तथा विकास अन्य भाषाओं के उपयोग में आने वाले शब्दों को मिलाकर किया जाये।
२. अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दों का उपयोग किया जाये तथा भारतीय लिपि तथा भाषा के अनुसार उन्हें लिखा तथा पढ़ा जाये।
३. शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान में जल्दी-से-जल्दी भारतीय भाषा हो; पर गस्हत न हो।
४. उच्च माध्यमिक शालाओं तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों को मातृभाषा, संघीय भाषा तथा अंग्रेजी आना चाहिए। उच्च शिक्षा क्षेत्रीय भाषा में दी जाये पर संघीय भाषा में भी कुछ या सभी विषयों की शिक्षा देने की छूट रहे।
५. संघीय भाषा के लिए देवनागरी लिपि कुछ सुधार करके अपनाई जाये।
६. संघीय तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास के लिए भाषाविदों तथा वैज्ञानिकों का मण्डल बनाया जाये, जो वैज्ञानिक शब्दावली तथा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकें तैयार करायें। इसके साथ राज्य सरकारें को संघीय भाषा उच्च कक्षाओं तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाना प्रारम्भ कर देना चाहिए।
७. अंग्रेजी माध्यमिक शालाओं तथा विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जाये।

परीक्षा :

१. सरकारी प्रशासकीय सेवाओं के लिए विश्वविद्यालयीन उपाधि आवश्यक समझी जाये। भारत के लिए एक विशेष राज्यीय परीक्षा भी रखी जाये।
२. कक्षा के कार्य पर भी नम्बर दिये जायें। प्रत्येक विषय के एक तिहाई नम्बर शाला में किये गए कार्य के लिए रखे जायें।
३. तीन सर्वोच्च उपाधि परीक्षाओं के पाठ्यक्रम के पूर्व अंशों में समय-समय पर भी परीक्षा ली जा सकती है। परीक्षक योग्य होना चाहिए तथा

उनका चुनाव सावधानी से किया जाये। प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने के लिए ७० प्रतिशत, द्वितीय श्रेणी के लिए ६९ से ५५ प्रतिशत तथा तृतीय श्रेणी के लिए ४० प्रतिशत अंक प्राप्त करना आवश्यक समझा जाये। परीक्षा का स्तर सभी जगह एक-सा होना चाहिए।

५. मौखिक परीक्षा केवल स्नातकोत्तर तथा व्यावसायिक उपाधि की परीक्षाओं के लिए ही रखी जाये।

विद्यार्थी :

भरती करने में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए तथा प्रथम उपाधि के समय तो विषयों की अधिक-से-अधिक विभिन्नता होनी चाहिए। आर्थिक सहायता चाहने वाले विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियाँ दी जायें। विद्यार्थियों की भरती के समय तथा अन्य समयों पर डाक्टरी परीक्षा अच्छी तरह की जाये। महाविद्यालयों में राष्ट्रीय छात्र सैनिक दल की टुकड़ियाँ रहें तथा इसका प्रबन्ध केन्द्र करे। सामाजिक कार्य को प्रोत्साहित किया जाये। विश्वविद्यालयों को छात्रावास तथा सहकारिता की क्रियाओं की अच्छी व्यवस्था करनी चाहिए एवं इनका स्तर ऊँचा रहना चाहिए। विश्वविद्यालयों के छात्रों के संगठन राजनैतिक संगठनों से परे रहना चाहिए। छात्रों के अनुशासन तथा देखरेख के लिए एक डीन या प्रमुख अधिकारी होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा :

स्त्री-शिक्षा में कोई कमी नहीं होनी चाहिए। महिलाओं को समाज में उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयत्न किया जाये। नये ऐसे महाविद्यालय खोले जायें जिनमें छात्र तथा छात्राएँ साथ-साथ पढ़ें।

विधान तथा अधिकार :

१. अनुदान देने के लिए केन्द्रीय अनुदान आयोग की स्थापना की जाये।
२. केवल मान्यता देने वाले विश्वविद्यालय स्थापित न किये जायें।
३. विश्वविद्यालय में निम्न अधिकारी रहें—विजिटर (गवर्नर जनरल), चान्सलर या कुलपति (सामान्यतः प्रान्त के गवर्नर), वाइस चान्सलर

या उप कुलपति, सीनेट, कार्यकारिणी समिति, फैकल्टी, बोर्ड ऑफ स्टडीज, अर्थ-समिति, चुनाव-समिति ।

अर्थ :

१. उच्च शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने का उत्तरदायित्व राज्य पर होना चाहिए ।

२. शिक्षा के लिए अधिक-से-अधिक आर्थिक सहयोग देने के लिए आयकर के नियम बदले जायें ।

३. सरकार को अगले ५ वर्षों में १० करोड़ रुपये की अतिरिक्त रकम विश्वविद्यालयीन शिक्षा पर खर्च करना चाहिए ।

बनारस, अलीगढ़ तथा दिल्ली विश्वविद्यालय

बनारस तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालयों का हिन्दू तथा मुस्लिम विश्वविद्यालय पुकारा जाना बन्द होना चाहिए । इनके संगठन तथा प्रबन्ध में साम्य होना चाहिए । बनारस में डाक्टरी तथा अलीगढ़ में डाक्टरी तथा कृषि महाविद्यालय खोलने की सम्भावनाओं पर विचार किया जाये ।

दिल्ली विश्वविद्यालय में कला, विज्ञान, व्यापार या अर्थ तथा कानून के स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षण को केन्द्रित किया जाये । केन्द्र में होने के कारण दिल्ली विश्वविद्यालय को भारत के हर भाग के छात्रों के लिए निश्चित संख्या में स्थान सुरक्षित रखना चाहिए ।

इन विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम संघीय भाषा होनी चाहिए । तथा अगले ६ वर्षों तक अंग्रेजी तथा संघीय दोनों भाषाओं में शिक्षण होना चाहिए ।

नये विश्वविद्यालय—इसी तरह अन्य विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में भी सुझाव दिये गए हैं ।

१. शान्तिनिकेतन में विश्वभारती तथा दिल्ली के पास जामिया मिलिया को विश्वविद्यालय बनाने की अस्थायी अनुमति दे दी जाये । इनके लिए आर्थिक सहायता की व्यवस्था की जाये ।

२. नये विश्वविद्यालय बनाने में शिक्षा-पद्धति के प्रयोग आदि का सन्तुलन का ध्यान रखा जाये ।

३. देश की शैक्षणिक आवश्यकताओं को देखते हुए ग्रामीण तथा शहराती क्षेत्रों में विश्वविद्यालय खोले जायें।

४. विश्वविद्यालयीन अनुदान आयोग विश्वविद्यालयों को योग्यता के आधार पर मान्यता देने वाली संस्था होनी चाहिए।

ग्रामीण विश्वविद्यालय :

ग्रामीण क्षेत्रों की उच्च शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाये। देश की उच्च शिक्षा के विकास तथा विस्तार के समय ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति का भी ध्यान रखा जाये।

आयोग की अनेक सिफारिशें मौलिक, व्यावहारिक तथा उपयोगी थीं। अधिकांश भारतीय जनता गाँवों में निवास करती है। आयोग ने इसका ध्यान
रखकर पाश्चात्य तथा भारतीय ग्राम्य संस्कृति के समन्वय के
आयोग की शिक्षा- प्रयत्न किये हैं। आयोग ने शिक्षण पद्धतियों के उचित होने
रिशों की समीक्षा तथा उनमें सुधार करने की आवश्यकता को प्रतिपादित किया
तथा ट्यूटोरियल विधि के उपयोग से शिक्षक-शिष्य सम्बन्ध तथा
सम्पर्क बढाने का सुझाव दिया। वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक शिक्षाओं पर भी इसमें उचित ध्यान दिया गया। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानव-कल्याण रहा है। इस दृष्टि से भारतीय शिक्षा में विश्व-कल्याण को प्रमुखता दी गई है तथा संसार के सामने एक आदर्श उपस्थित किया गया है। मानवीय शास्त्रों के अध्ययन से छात्रों में विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास करने के सुझाव को कल्याणकारी तथा उपयोगी ही समझा जायेगा। इसके साथ-साथ आयोग ने उच्च शिक्षा की अनेक समस्याओं का उचित व्यावहारिक समाधान सुझाया है, जैसे शिक्षा के स्तर, धार्मिक शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव, परीक्षा, पाठ्यक्रम, विश्व-विद्यालय की आन्तरिक व्यवस्था, शिक्षकों की दशा आदि। आयोग ने विश्व-विद्यालयों में शोध तथा अनुसंधान कार्यों को प्रमुख रूप से आवश्यक बताया है। साथ-ही-साथ राजनीति से पृथक् रहने का सुझाव भी दिया है। विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग तथा ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना देश की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को देखते हुए बड़ी उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

परन्तु इतना सब होते हुए भी शिक्षा के माध्यम तथा स्त्री-शिक्षा पर कोई

स्पष्ट तथा व्यावहारिक मत व्यक्त नहीं किया गया। ललित कलाओं के शिक्षण, यौन-शिक्षा, शासकीय महाविद्यालयों में शिक्षकों की समस्याओं आदि पर विचार ही नहीं किया गया या यदि किया भी गया तो सूक्ष्म रूप से ही। फिर भी यह आयोग उच्च शिक्षा के इतिहास में अपने ढंग का निराला ही है तथा इससे भारतीय उच्च शिक्षा को उपयोगी तथा कल्याणकारी मार्गदर्शन प्राप्त हुआ।

केन्द्रीय-शिक्षा-सलाहकार परिषद (१९५०)

आयोग के वृहत् प्रतिवेदन पर विचार करने के लिए केन्द्रीय-शिक्षा परिषद की बैठक २२,२३ अप्रैल १९५० में हुई। इस बैठक में परिषद ने अनेक सुझावों को मौलिक रूप तथा कुछ को संशोधित करके मान लिया। बोर्ड ने स्नातकोत्तर शिक्षा, अनुसंधान कार्य, शिक्षा के माध्यम, शिक्षकों का वर्गीकरण, वेतनमान, परीक्षा, पाठ्यक्रम, नये विश्वविद्यालयों की स्थापना, गरीब प्रतिभाशाली छात्रों की सहायता आदि के सम्बन्ध में दिए गए सुझावों को मौलिक रूप से मान लिया। व्यावसायिक शिक्षा में कृषि, व्यापार, चिकित्सा, इंजीनियरिंग तथा टेक्नालाजी, धार्मिक शिक्षा-सम्बन्धी सुझाव कुछ संशोधनों के साथ माने गए। विश्वविद्यालयीन शिक्षा को केन्द्रीय सरकार की तालिका में रखने-सम्बन्धी सुझाव को नहीं माना गया।

विश्वविद्यालय विधेयक १९५१

सन् १९५२ में गणतन्त्रात्मक रीति से चुनावों के पश्चात् देश में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर तथा संगठन को ठीक करने की दृष्टि से एक 'विश्वविद्यालय विधेयक' संसद के सामने प्रस्तुत करना चाहा। इस विधेयक की जानकारी सर्वसाधारण को नहीं कराई जा सकी, पर राज्य-सरकारों तथा उपकुलपतियों के पास अवश्य भेजी गई है। इस विधेयक में निम्नलिखित बातें हैं :

१. केन्द्रीय सरकार का विश्वविद्यालयों पर नियन्त्रण आवश्यक हो। इसके लिए एक 'विश्वविद्यालयीन शिक्षा केन्द्रीय परिषद' की स्थापना की जावे।

२. इस परिषद को विश्वविद्यालय की आन्तरिक स्थिति में हस्तक्षेप करने का अधिकार होगा।

३. यह परिषद देश के सभी विश्वविद्यालयों की जाँच करेगी ।

४. उच्च शिक्षा प्रदान करनेवाली सभी शिक्षण संस्थाएँ विश्वविद्यालय का रूप धारण करेंगी ।

५. इस परिषद का सगठन केन्द्रीय सरकार द्वारा होगा तथा इसके दो-तिहाई सदस्य देश के विश्वविद्यालयों के उपकुलपति होंगे ।

६. विश्वविद्यालयीन उपाधि पाने के लिए सैद्धान्तिक तथा प्रयोगात्मक परीक्षा पास करना आवश्यक होगा ।

पर यह विधेयक अभी तक प्रकाशित नहीं किया गया है। इस विधेयक के स्वीकार होने पर विश्वविद्यालय 'केन्द्रीय शिक्षा परिषद' के हाथ की कठपुतली बन जायेंगे, जो उच्च शिक्षा के लिए उचित नहीं है। उच्च शिक्षा को स्वतन्त्र तथा उन्मुक्त होना चाहिए। इसके पारित होने पर विश्वविद्यालयों की स्वायत्त शासन-प्रणाली भी समाप्त हो जायेगी। परन्तु साथ ही आज विश्वविद्यालयों में चल रही दलबन्दियों के कुचक्रों को इससे दूर अवश्य किया जा सकेगा।

विश्वविद्यालय अनुदान-आयोग

विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति सुधारने तथा नियन्त्रित करने के ध्येय से केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५३ में एक 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' की स्थापना की है। आज इस आयोग के अध्यक्ष डॉ० डी० एस० कोठारी हैं। इस आयोग के कार्य से प्रभावित होकर केन्द्रीय सरकार ने इसे स्थायी तथा वैधानिक अधिकार दे दिये हैं। अब इसके सदस्यों की संख्या, जो पहिले ४ थी, बढ़ाकर ९ कर दी गई है, जिनका क्रम इस प्रकार होगा—२ केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि, ३ उपकुलपति तथा ४ प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री।

इस आयोग के निम्नलिखित कार्य होंगे :

१. विश्वविद्यालय शिक्षा का समन्वय करके उसके शिक्षा-स्तर को उठाना।

२. विश्वविद्यालयों की आर्थिक स्थिति की जाँच करना तथा आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता देने के लिए केन्द्रीय सरकार को सलाह देना।

३. विभिन्न विश्वविद्यालयों में धन-राशि वितरण करना।

४. नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों की कठिनाइयों तथा समस्याओं का समाधान करना।

५. केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों को विश्वविद्यालयों द्वारा प्रदान की गई उपाधियों का विभिन्न सेवाओं के लिए निर्धारण करने में परामर्श देना।

६. उच्च शिक्षा के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को आवश्यकतानुसार सलाह देना।

इस अनुदान आयोग ने विश्वविद्यालयीन शिक्षकों के वेतन को सुधारने में बड़ी सहायता पहुँचाई है। इसके साथ-साथ प्रतिवर्ष उच्च शिक्षा में हो रहे विकास का श्रेय भी इसी को है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में विश्वविद्यालयों तथा उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों की आर्थिक स्थिति सुधारने और स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार उनका विस्तार तथा पोषण करने का ध्येय रखा गया था।

प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में उच्च शिक्षा

प्रचलित रीति के अनुसार अनेक सरकारी सेवाओं के लिए विश्वविद्यालयीन उपाधियाँ आवश्यक समझी जाती थीं। अतः प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव रखा गया कि सरकारी सेवाओं की नियुक्तियाँ स्वतन्त्र प्रतियोगिता परीक्षाओं के आधार पर हों तथा इस परीक्षा में बैठने के लिए विश्वविद्यालयीन उपाधि आवश्यक न हो।

इस योजना में ग्रामीण विश्वविद्यालय की योजना को सहमति दी गई तथा निश्चय किया गया कि कम-से-कम एक ग्रामीण विश्वविद्यालय अवश्य स्थापित किया जाये। यह विश्वविद्यालय उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित किये जायें जहाँ पूर्व-बुनियादी, बुनियादी और उत्तर-बुनियादी प्रयोग किये गए हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उच्च तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसे संगठित करने के ही कार्यक्रम रखे गए थे, पर द्वितीय योजना में इसके विकास के लिए ७ नये विश्वविद्यालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई। साथ ही-साथ पाठ्यक्रम में सुधार, त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम चालू करने, ट्यूटोरियल कक्षा प्रणाली अपनाने, शोध-कार्यों को प्रोत्साहन देने, पुस्तकालय तथा प्रयोगशालाओं को समृद्ध बनाने, भवन व्यवस्था, सेमीनार, कान्फ्रेंसों का आयोजन करने आदि की ओर ध्यान देने का प्रावधान है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल से उच्च शिक्षा पर चौगुनी राशि व्यय करने का प्रावधान है। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में कुल शिक्षा व्यय का ८·८ प्रतिशत ही व्यय किया गया था। अर्थात् लगभग १८ करोड़ रुपये, पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में कुल शिक्षा व्यय का १८·६ प्रतिशत व्यय किये जाने का प्रावधान है, जो लगभग ३४·४ करोड़ रुपयों के लगभग होगा। उच्च शिक्षा के लिए स्वीकृत राशि का अधिकांश भाग प्राविधिक, व्यावसायिक एवं वैज्ञानिक शिक्षा पर ही व्यय किया जायेगा। अनुसन्धान पर भी समुचित व्यय की व्यवस्था द्वितीय योजना-काल में की गई है।

मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा

नवीन मध्यप्रदेश राज्य द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के प्रारम्भ होने के कुछ समय बाद सन् १९५६ में गठित हुआ था। नये राज्य के गठित होने के पश्चात् सन् १९५६-५७ सत्र में विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर तथा ठाकुर रणमतसिंह महाविद्यालय, रीवाँ में स्नातकोत्तर कक्षाएँ प्रारम्भ की गईं। साथ-ही-साथ इसी सत्र में होल्कर महाविद्यालय, इन्दौर, विक्टोरिया महाविद्यालय, ग्वालियर तथा हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल में उर्दू तथा वाणिज्य विषयों की स्नातकोत्तर कक्षाएँ भी शुरू की गईं। अन्य महाविद्यालयों में भी नये विषयों के शिक्षण की सुविधाएँ उपलब्ध की गईं। रतलाम में एक स्नातक महाविद्यालय तथा इन्दौर में महिला स्नातक महाविद्यालय स्थापित किया गया।

राज्य पुनर्गठन के समय चारों क्षेत्रों में उच्च शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ विभिन्न तथा अलग-अलग थीं। महाकोशल क्षेत्र में गैर-सरकारी महाविद्यालय अधिक थे तथा अन्तर-महाविद्यालय भी केवल एक ही था। पर राज्य के अन्य तीनों क्षेत्रों में सभी महाविद्यालय सरकारी थे तथा अन्तर-महाविद्यालयों की संख्या भी अधिक थी। मध्यभारत, भोपाल तथा विन्ध्यप्रदेश क्षेत्रों के महाविद्यालय आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे। प्राविधिक वाणिज्य तथा स्नातकोत्तर स्तर की शिक्षा की सुविधाएँ भी पृथक-पृथक थीं। इसलिए, नये राज्य के गठन के बाद सबसे पहिले इस ओर ध्यान देना आवश्यक था कि राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में समान सुविधाएँ प्रदान की जायँ तथा विभिन्नता न रखकर एकरूपता स्थापित की जाये। इस दिशा में निम्नलिखित कार्य किये गए।

नये विश्वविद्यालयों की स्थापना

राज्य में जबलपुर, विक्रम तथा इन्दिरा कला-संगीत विश्वविद्यालयों के अधिनियम तो राज्य-पुनर्गठन के पूर्व ही स्वीकृत हो चुके थे, पर इन विश्वविद्यालयों की स्थापना सन् १९५७-५८ में ही हुई है। इन विश्वविद्यालयों की स्थापना के बाद राज्य के सभी महाविद्यालयों को इन्हीं विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध किया गया। जबलपुर विश्वविद्यालय का क्षेत्र जबलपुर जिले तक ही सीमित है। सागर विश्वविद्यालय में महाकोशल के शेष जिले तथा विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र शामिल किये गए तथा विक्रम-विश्वविद्यालय का क्षेत्र भोपाल तथा मध्यभारत क्षेत्रों तक रखा गया। इस प्रकार अब राज्य के सभी महाविद्यालय राज्य के इन्हीं विश्वविद्यालयों से संबद्ध हैं।

खैरागढ़ स्थित इन्दिरा कला-संगीत विश्वविद्यालय में संगीत तथा नृत्य का शिक्षण दिया जाता है।

राज्य में स्थित विश्वविद्यालयों के आय-व्यय का लेखा निम्नलिखित प्रकार है :

विश्वविद्यालय का नाम	योजनान्तर्गत प्रावधान	३१-३-५८ तक आय	५८-५९ आय-व्यय का प्रावधान
१. जबलपुर विश्वविद्यालय तथा इन्दिरा कला-संगीत विश्वविद्यालय	२५·०० लाख	६·०५ लाख	३·०० लाख
२. विक्रम विश्वविद्यालय	२३·०० लाख	६·६२ लाख	२·०० लाख
३. सागर विश्वविद्यालय	२६·६७ लाख	६·०० लाख	४·०० लाख

इसके अतिरिक्त सागर-विश्वविद्यालय को प्रतिवर्ष राज्य सरकार से ८ लाख तथा विक्रम विश्वविद्यालय को ५ लाख रुपये संधारण-अनुदान के रूप में मिलते हैं।

राज्य के बस्तर, सिवनी, रायगढ़, बालाघाट, झाबुआ तथा रायसेन जिलों में किसी प्रकार की उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। अतः इन जिलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था को अत्यन्त आवश्यक समझा गया। इन स्थानों में उच्च

नये महाविद्यालयों की स्थापना

शिक्षा की माँग थी तथा यहाँ से इस हेतु अर्थ के रूप में जन-सहयोग भी प्राप्त था। अतः बिलासपुर और रायगढ़ में नये शासकीय महाविद्यालयों की स्थापना की गई। सन् १९५८ में दुर्ग में भी महाविद्यालय की स्थापना की गई। राज्य के एक लाख से अधिक आबादी वाले पाँच शहरों में रायपुर में ही महिला स्नातक महाविद्यालय स्थापित किया गया है। ये महाविद्यालय जनता के आर्थिक सहयोग देने पर ही सरकार द्वारा खोले गए हैं। इन महाविद्यालयों में स्नातक स्तर तक कला और विज्ञान की शिक्षा देने की सुविधाएँ हैं।

राज्य में दूसरी योजनावधि में २८ नये स्नातक महाविद्यालय खोले जायेंगे। सन् १९६०-६१ में दो नये महाविद्यालय बस्तर और झाबुआ में स्थापित किये जायेंगे। सीधी तथा शिवपुरी के अन्तर-महाविद्यालय स्नातक में विकसित किये जायेंगे।

राज्य-पुनर्गठन के समय महिला उच्च शिक्षा की व्यवस्था बहुत कम थी तथा जहाँ थी भी वहाँ विभिन्न विषयों की कक्षाएँ कम और सीमित थीं। राज्य के विभिन्न महिला महाविद्यालयों को सुविधाओं की वृद्धि करके निम्नलिखित कार्य किये गए :

क्रमांक	महाविद्यालय का नाम	स्तर जहाँ तक शिक्षा-सुविधाएँ थीं	पुनर्गठन उपरान्त बढ़ाई गई सुविधाएँ
१.	राजकीय गृह-विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर	बी० ए० कला, बी० एस-सी० गृहविज्ञान	बी० ए० कला बी० एस-सी० गृहविज्ञान बी० एस-सी०
२.	राजकीय कमला राजा कन्या महाविद्यालय ग्वालियर	बी० ए० कला	बी० ए० कला बी० एस सी०
३.	कन्या-महाविद्यालय, इन्दौर	बी० ए० कला	बी० ए० कला बी० एस-सी०

४. विजयाराजे कन्या महाविद्यालय, उज्जैन — इण्टर आर्ट्स — बी० ए० कला
५. शासकीय महिला अन्तर-महाविद्यालय, भोपाल — इण्टर आर्ट्स, इण्टर साइंस — बी० ए० कला, बी० एस-सी०
६. महिला महाविद्यालय, रायपुर — सन् १९५८ में प्रारम्भ किया गया है।

इस प्रकार राज्य में महिलाओं की उच्च शिक्षा के लिए ६ महाविद्यालय राजकीय तथा २ गैर-राजकीय महाविद्यालय चालू हैं।

नये विषयों के शिक्षण की सुविधाओं की वृद्धि

राज्य के अनेक महाविद्यालयों में स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर तक की शिक्षा देने की सुविधाओं की वृद्धि के साथ-साथ नये नये विषयों की शिक्षण-सुविधाओं को बढ़ाया गया है। इसका विवरण निम्नलिखित प्रकार है :

विषय	महाविद्यालयों के नाम
भौतिक-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, प्राणि शास्त्र गणित	कन्या महाविद्यालय, इन्दौर गृह-विज्ञान, महाविद्यालय, जबलपुर कमला राजा कन्या महाविद्यालय, ग्वालियर
वाणिज्य तथा [illegible]	शासकीय महाविद्यालय रतलाम, धार, गुना तथा बड़वानी
वाणिज्य, दर्शन-शास्त्र	शासकीय महाविद्यालय, मन्दसौर
राजनीति तथा समाज शास्त्र	महारानी लक्ष्मीबाई महाविद्यालय, ग्वालियर
भूगोल	हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल
समाजशास्त्र	होल्कर महाविद्यालय, इन्दौर

इसी वर्ष हमीदिया कालेज, भोपाल में स्नातकोत्तर स्तर की भूगोल विषय की और होल्कर महाविद्यालय इन्दौर में स्नातकोत्तर स्तर की राजनीति विषय की कक्षाएँ आरम्भ की गईं।

राज्य में माध्यमिक शिक्षा के प्रसार से महाविद्यालयों में छात्र संख्या की वृद्धि बहुत अधिक हुई है। अतः विज्ञान तथा कला दोनों विषयों के अतिरिक्त

वर्ग राज्य के अनेक महाविद्यालयों में खोले गए हैं। साथ-ही-साथ अनेक महाविद्यालयों में प्रवेश संख्या की वृद्धि भी हुई है।

विश्वविद्यालयीन शिक्षा आयोग की सिफारिशें

विश्वविद्यालयीन शिक्षा के पुनर्गठन के लिए राधाकृष्णन् विश्वविद्यालयीन शिक्षा आयोग की सिफारिशों पर भारत सरकार ने त्रिवर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम बनाने की योजना बनाई है।

त्रिवर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम की कार्यान्विति

राज्य के विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों से परामर्श करके मध्यप्रदेश सरकार ने यह निश्चय किया है कि सन् १९५९-६० सत्र से राज्य के महाविद्यालयों में यह त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम लागू किया जाये। इसके लिए शासन आधा तथा निजी अर्थ-सहायता से आधा व्यय आवश्यक है। इसकी प्राप्ति पर ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग आर्थिक सहायता देगा। अतः राज्य ने निर्णय किया है कि शासकीय महाविद्यालयों को त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम चलाने के लिए आवश्यक व्यय का ५० प्रतिशत तथा गैर-सरकारी महाविद्यालयों को २५ प्रतिशत अनुदान दिया जायेगा। गैर-सरकारी महाविद्यालयों को २५ प्रतिशत व्यय व्यवस्थापकों की ओर से दिया जायेगा। इस व्यय के आधार पर अगले तीन वर्षों के लिए सम्पूर्ण राज्य के लिए २·१५ करोड़ रुपयों की योजना बनाई गई है। इस योजना को भारत सरकार से मान्यता भी मिल चुकी है। इस योजना से अनेक महाविद्यालयों ने लाभ उठाया है तथा वे स्नातक महाविद्यालयों में परिवर्तित किये गए हैं। जो महाविद्यालय इस योजना के पूर्व ही स्नातक स्तर के बन गए थे वे भी इसी साँचे में ढाले जा रहे हैं।

राज्य में १५ शासकीय अन्तर-महाविद्यालय स्नातक स्तर के किए जा चुके हैं। इन अन्तर महाविद्यालयों को स्नातक स्तर का बनाने में जनता ने भी ५० से ६० हजार रुपया आर्थिक सहयोग दिया है या देने का वायदा किया है। अब राज्य में स्नातक महाविद्यालयों की संख्या निम्नलिखित है :

	१९५६-५७	५९-६०
स्नातक-महाविद्यालय	२८	६१

इसके साथ-साथ महाविद्यालयों के पुस्तकालय एवं प्रयोगशालाएँ भी उन्नत

तथा विकसित की जा रही है। फर्नीचर के तथा अन्य साधनों और उपकरणों की व्यवस्था भी की जा रही है।

१९६०-६१ में अन्तर महाविद्यालयों के व्याख्याताओं के ११६ पदों को स्नातक व्याख्याताओं में उन्नत किया जायेगा। कुछ स्नातक व्याख्याताओं के पदों को जूनियर प्रोफेसर के पदों में भी उन्नत किया जायेगा। इससे महाविद्यालय में शिक्षा-स्तर उच्च होगा। साथ ही साथ आवश्यकतानुसार व्याख्याताओं के अतिरिक्त पद भी बनाये जाने का प्रावधान १९६०-६१ के लिए किया गया है।

राज्य के अनेक महाविद्यालयों में विज्ञान-शिक्षण की सुविधाएँ न होने के कारण अनेक छात्रों को योग्यता होते हुए भी कला की शिक्षा **गैर-सरकारी महा-** लेनी पड़ती थी। अतः गैर-सरकारी महाविद्यालयों को विज्ञान विद्यालयों में कक्षाएँ खोलने के लिए प्रोत्साहित करने के हेतु अनुदान विज्ञान-शिक्षण की दरें बढ़ा दी गई हैं। अनुदान की दरों में निम्नलिखित की सुविधाएँ प्रकार वृद्धि की गई है :

1. भवन अनुदान ३३१/३ से ५० प्रतिशत
2. साधारण अनुदान ३३१/३ से ५० प्रतिशत
3. उपकरण अनुदान ५० से ६५ प्रतिशत

इन सुविधाओं के मिलने से अनेक गैर-सरकारी महाविद्यालयों ने सन् १९५८-५९ में विज्ञान कक्षाएँ खोली हैं।

इसके साथ सरकारी महाविद्यालयों में भी विज्ञान शिक्षा की सुविधाएँ बढ़ाई गई हैं। मध्यभारत क्षेत्र के सभी सरकारी अन्तर-महाविद्यालयों में सन् १९५७-५८ में विज्ञान कक्षाएँ आरम्भ की गईं। जहाँ अभी बी० एस-सी० कक्षाएँ नहीं थीं वहाँ भी उन्हें आरम्भ किया गया तथा विज्ञान के शिक्षण की सुविधाएँ भी दी गईं। अनेक महाविद्यालयों में जहाँ विज्ञान शिक्षण पहिले से था वहाँ प्रवेश संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गई।

अध्याय ७

शिक्षक-प्रशिक्षण

विश्व के विभिन्न देशों में शिक्षकों का प्रशिक्षण

प्राचीनकाल में

प्राचीनकाल में पढ़ाये जाने वाले विषयों का समुचित ज्ञान ही शिक्षक की योग्यता का आधार माना जाता था। अतः शिक्षक का समाज में आदर या ख्याति उसके पढ़ाये जानेवाले विषय के महत्त्व तथा उससे सम्बन्धित ज्ञान की परिधि के विस्तार पर आधारित रहती थी। प्राचीनकाल में लिखना तथा पढ़ना प्रमुखतः पुरोहितों का ही काम माना जाता था। अतः ये सभी के आदर के पात्र होते थे। हमारे भारत में तो ब्राह्मण, जो शिक्षा देने का काम करते थे, बड़े आदर के पात्र समझे जाते थे। आज भी समाज उनका आदर करता है चाहे वह आदर उतना अधिक न हो।

चीन में भी समाज में न्यायकीय सेवा वाले नौकरों के बाद शिक्षक आते थे। यहूदी लोग तो शिक्षक को आध्यात्मिक पिता मानते थे। माँ-बाप के साथ-साथ वे गुरु का आदर भी करते थे। यूनानी लोगों ने अन्य प्राचीन देशों के समान शिक्षकों को इतना अधिक आदर न देकर अपने कवियों को उच्च स्थान दिया। यूनान में मौलिक शिक्षा का प्रसार भी अधिक हुआ, अतः सामान्य ज्ञान देने वाले शिक्षकों की स्थिति वहाँ अच्छी न रही, पर उच्च ज्ञान, जैसे दर्शन आदि, देने वाले शिक्षकों का आदर यूनानी समाज में अवश्य था।

रोम तथा यूनान के अनेक शिक्षक—जैसे क्विनटिलियन, आइसोक्रेटस बहुत ही प्रतिभाशाली हुए, फिर भी इन देशों में साधारण शिक्षकों की स्थिति ठीक नहीं रही। उस काल में शिक्षकों को कम वेतन तथा छात्रों के अभिभावकों की डाँट-फटकार सुननी पड़ती थी। इसका कारण यह था कि उस समय शिक्षकों में बहुत मामूली बातें, जैसे बड़े-बड़े लोगों की नसों आदि के नाम याद रखने

आदि की अपेक्षा की जाती थी। अतः कालान्तर में तो वहाँ शिक्षक बनना एक दुःख की बात मानी जाने लगी थी। इसी लिए यूनानी-रोमन लूसियन कहता था कि "ईश्वर जिसे घृणा करता है वही शिक्षक बनता है।" उसका कथन था कि इसके बाद दूसरे जीवन में अन्य किसी दण्ड की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

शिक्षकों की स्थिति खराब होने के और भी कई कारण थे, जैसे (१) जीवन में अलग ऐसी बातों का ज्ञान देना जिनका कोई उपयोग ही न हो। (२) समाज की उन्नति के कार्यों में सहयोग देने को ज्ञान देने के कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना। (३) केवल कण्ठस्थ कराने पर बल देना, जो कोई भी कर सकता है।

इस प्रकार शैक्षणिक कार्य की निपुणता नैसर्गिक मानी जाती थी। उसे परिश्रम से अर्जित कराने की ओर इसी लिए ध्यान गया ही नहीं।

मध्यकाल में

यूनानी और रोमन सभ्यता के पतन के बाद मध्यकाल में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। इन विश्वविद्यालयों में कानून, चिकित्सा, कला, धर्म आदि विषय पढ़ाये जाते थे। इनकी प्रगति के लिए अच्छे शिक्षकों का होना आवश्यक माना जाता था। अतः इन विषयों को अच्छी तरह पढ़ा सकने की क्षमता ही इनकी परीक्षाओं में पास होने के लिए आवश्यक मानी जाने लगी। लैटिन 'docene' का अर्थ ही 'to teach' होता है। 'master' का अर्थ भी [illegible] मास्टर है। इस प्रकार मध्य युग में विषय का ज्ञान ही शिक्षक के लिए आवश्यक माना जाता था तथा उसी से उसे प्रशिक्षित भी किया जाता था।

नवजागरण तथा उसके बाद के काल में शिक्षकों की परिस्थितियाँ [illegible] बिगड़ गईं। न केवल शिक्षक अपने विषय में अनभिज्ञ रहने [illegible] उनकी मर्यादाएँ भी अनगढ़-सी (crude) होती थीं। [illegible] ने इनकी भर्त्सना की है। उस समय तो परिस्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि लोग अपने पुत्र के पुर्जों की मिलाई कराने समय किसी का शिक्षक होना [illegible] लगे थे। इसका कारण यह था कि उस समय [illegible] का [illegible] अधिक था। [illegible] ने (१८८३ से १८८६) [illegible] के [illegible]

१

बड़ा योग दिया। उसने उच्छृङ्खल बालकों को पढ़ाने के कार्य को उतना ही महत्वपूर्ण माना जितना कि युद्ध के मैदान में शूरवीरों की शूरता को।

पर अभी तक शिक्षकों की इस बुरी परिस्थिति का कारण यही था कि शैक्षणिक कार्य का कोई नियम या व्यवस्थित पद्धति नहीं थी।

जेस्यीटो की 'Ratio Studrorum' (माध्यमिक शालाओं के अच्छे शिक्षक बना सकें) और क्रिश्चियन ब्रदर्स के 'Conduct of Schools' ने भी (humility, prudence, piety, generosity) शिक्षकों के आचरण-सम्बन्धी नियम ही निर्धारित किये।

वर्तमान काल में शिक्षकों का

प्रशिया में पेस्टालाजी ने शिक्षण-कार्य में विज्ञान तथा दर्शन का समावेश किया—इसकी वस्तु-पाठ-विधि कालान्तर में क्लिष्ट हो गई तथा उसके सम्बन्ध में लोगों ने और भी अधिक खोज की। मनोविज्ञान का समावेश भी अब शिक्षकों के प्रशिक्षण में विधिवत प्रशिक्षण किया जाने लगा।

पहिले सेमीनरी में शिक्षकों का प्रशिक्षण होता था तथा बाद में शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए नार्मल स्कूल खोले जाने लगे। धीरे-धीरे नार्मल स्कूलों में केवल प्राथमिक शिक्षकों तथा परीक्षण महाविद्यालयों में माध्यमिक शिक्षकों का प्रशिक्षण किया जाने लगा। कुछ काल तक शिक्षण संस्थाओं की स्कूल समिति शिक्षकों को प्रशिक्षण का सर्टिफिकेट देती थी। बाद में जिला संस्थाएँ, जैसे जिला बोर्ड आदि इस प्रकार के सर्टिफिकेट देने लगीं।

पर मनोविज्ञान तथा शिक्षा-सिद्धान्तों के विकास के परिणामस्वरूप शिक्षकों के लिए प्रारम्भिक प्रशिक्षण के साथ-साथ सेवा करते हुए प्रशिक्षण भी आवश्यक माने जाने लगा है। साथ ही मनोविज्ञान, शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षण विधियों-सम्बन्धी नई खोजों तथा ज्ञान से शिक्षकों को परिचित कराते रहने की दृष्टि से शिक्षकों के लिए शिक्षा-सम्बन्धी पाक्षिक, मासिक या त्रैमासिक पत्रिकाएँ, निकालना आवश्यक-सा हो गया है। इनके माध्यम से दूरस्थित शिक्षक अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं। शिक्षकों की दशा सुधारने, उनके साथ होने वाले अत्याचारों तथा उपेक्षा को दूर करने तथा उनके शैक्षणिक

कार्य का आदर और महत्व बढ़ाने के उद्देश्य से अब शिक्षकों के संगठन जिला, राज्य, देश तथा विश्व के स्तर के होते हैं।

वर्तमान काल में एक और नई प्रवृत्ति संसार के विभिन्न देशों में दिखलाई देती है। आजकल शैक्षणिक कार्य करने के लिए प्रायः स्त्रियाँ ही उपयुक्त समझी जाती हैं। अमेरिका, इंगलैंड आदि देशों में तो पूर्व-माध्यमिक स्तर पर केवल महिलाएँ ही शैक्षणिक कार्य करती हैं। माध्यमिक स्तर पर भी अधिकांशतः महिला शिक्षिकाएँ ही होती हैं। महाविद्यालयीन स्तर पर भी इनकी संख्या बढ़ती जाती है। इसलिए अमेरिका की शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों में शिक्षकों के लिए 'she' सर्वनाम का उपयोग किया जाता है।

भारत में शिक्षक-प्रशिक्षण

हमारे देश में शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर आज से लगभग ७० वर्ष पूर्व तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। वैसे हमारे देश में प्राचीन काल से ही शिक्षकों को बड़े आदर से देखते हैं। प्राचीन काल में हमारे देश के ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मण ही बालकों तथा जनता को शिक्षित करने का कार्य किया करते थे। अंग्रेजों के आने के पूर्व तक भी ब्राह्मण या मुल्ला शिक्षक का कार्य करते तथा बालकों को शिक्षा देते थे। पर न तो अब प्राचीन काल के ज्ञानी-ध्यानी ऋषि, ब्राह्मण, मुल्ला रह गए हैं और न शिक्षकों की हमारी भारतीय प्राचीन परम्पराएँ ही रहने पाई हैं। हमारे देश में शिक्षकों की इतनी उच्च तथा मान्य परम्पराएँ होते हुए भी हमारे शिक्षकों के विधिवत प्रशिक्षण का इतिहास बहुत ही नया है तथा इसका आधार भी विदेशी तथा पाश्चात्य ही है। पाश्चात्य देशों में भी शिक्षक-प्रशिक्षण ऐसे समय में प्रारम्भ हुआ था जब लोग यह समझते थे कि जो व्यक्ति पुस्तक पढ़ सकता है वह शिक्षा भी कर सकता है। उस काल में गरीब शिक्षा से वंचित ही रहते थे। उस काल में शिक्षक प्रशिक्षण को समाज, राजनैतिक परिस्थिति, सांस्कृतिक परिवर्तन आदि से कोई मतलब नहीं रहता था। उस समय का शिक्षकों का प्रशिक्षण केवल शिक्षण-सम्बन्धी बातों के किताबी तथा व्यावहारिक ज्ञान तक ही सीमित रहता था। उसका शिक्षा की समस्याओं से कोई सम्बन्ध या सरोकार नहीं होता था।

इस प्रकार की परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ पाश्चात्य देशों का शिक्षण-प्रशिक्षण हमारे भारतीय शिक्षक-प्रशिक्षण का आधार रहा है। हमारे देश में सन् १८८२ तक कोई विधिवत शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था नहीं थी। हालाँकि कुछ राज्यों तथा शैक्षणिक संस्थाओं ने नार्मल स्कूल खोले थे, पर उनमें विधिवत प्रशिक्षण का स्वरूप स्थिर न हुआ था। सन् १८८२ ई० तक देश में केवल मद्रास तथा लाहौर में ही शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाएँ थीं। सन् १८८२ के भारतीय शिक्षा समीक्षा-मण्डल ने प्रथम बार शिक्षकों के प्रशिक्षण के महत्व को माना तथा सिफारिश की कि शिक्षा के सिद्धान्तों तथा अभ्यास में परीक्षा की व्यवस्था की जाये तथा सरकारी या गैर-सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त माध्यमिक शाला में पक्की तौर पर शिक्षक के स्थान के लिए इस परीक्षा में पास होना आवश्यक माना जाये। इस समीक्षा-मण्डल ने स्नातक तथा उससे कम स्तर के शिक्षा-प्राप्त शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था अलग-अलग करने को महत्वपूर्ण माना। पर शिक्षक-प्रशिक्षण को वास्तविक महत्व १९०४ (मार्च) के सरकारी प्रस्ताव में उल्लिखित शिक्षा-नीति के फलस्वरूप ही मिला। इसमें शिक्षक-प्रशिक्षण के महत्व, विधि तथा प्रशिक्षण सुविधाओं की वृद्धि की ओर ध्यान दिया गया था। इसके पश्चात् १९१३ में पुनः एक सरकारी प्रस्ताव द्वारा शिक्षक-प्रशिक्षण के महत्व को स्वीकार किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार ऐसे नियम बनाने की बात सोची गई कि कोई भी शिक्षक बिना प्रशिक्षण योग्यता की प्राप्ति के शिक्षण-कार्य न कर सके।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने १९१९ में शिक्षक-प्रशिक्षण के विचार को विस्तृत रूप दिया। इसके पूर्व इसका स्वरूप संकुचित ही था। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने न केवल शिक्षक प्रशिक्षण को महत्वपूर्ण मानकर प्रशिक्षण की सुविधाओं की वृद्धि की सिफारिश की वरन् शिक्षण-प्रशिक्षण कार्यक्रम में भी परिवर्तन को आवश्यक समझा, क्योंकि शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का कार्य शिक्षण का प्रशिक्षण तथा प्रमाणपत्र देने-मात्र से पूर्ण नहीं हो जाता। उनके लिए तो देश की शैक्षणिक समस्याओं का विधिवत अध्ययन भी करना आवश्यक है। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने प्रत्येक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्था से एक-एक अभ्यास शाला संलग्न करने की सिफारिश भी की। अभी तक शिक्षक-

प्रशिक्षण संस्थाओं के साथ शैक्षिक कार्य के व्यावहारिक अभ्यास के लिए अभ्यास-शाला संलग्न नहीं रहती थी।

बुनियादी शिक्षा के विकास ने शिक्षक-प्रशिक्षण के इतिहास में एक नये दृष्टिकोण का आविर्भाव किया। बुनियादी शिक्षा तो जड़-मूल से शिक्षा बदलने तथा नये क्रान्तिकारी विचारों का प्रादुर्भाव करने के लिए प्रारम्भ की गई थी। अतः स्वाभाविक है कि इन शालाओं के शिक्षकों को एक विशेष प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाये। बुनियादी शाला समाज का केन्द्र होती है। उनमें सम-वायी शिक्षण अनिवार्य रूप से चलता है। इनमें न कोई ऊँचा या अमीर होता और न कोई नीचा या गरीब। इनमें सब सभी के हित के लिए कार्य करते हैं। अतः ऐसे शिक्षकों के प्रशिक्षण का उद्देश्य शिक्षकों में इस प्रकार के गुणों, भावनाओं, प्रवृत्तियों, आदर्शों आदि का विकास करना ही होना चाहिए। प्रारम्भ में बुनियादी शिक्षा प्राथमिक स्तर पर ही प्रयोग के रूप में चली थी। अतः बुनियादी शिक्षक-प्रशिक्षण प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक स्तर तक ही सीमित रहा। अब इसका विकास माध्यमिक स्तर तक हो रहा है। साथ-ही-साथ प्राथमिक एवं पूर्व-माध्यमिक स्तर के बुनियादी शिक्षकों की प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए शिक्षकों तथा बुनियादी शालाओं के निरीक्षकों के प्रशिक्षण की आवश्य-कता भी अब पड़ती ही जाती है। अतः प्रायः प्रत्येक राज्य ने स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित किये हैं। ऐसे स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालयों की संख्या अब दिन-पर-दिन बढ़ती ही जा रही है। चूँकि अब बुनियादी शिक्षा ने राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप ले लिया है तथा नीति-निर्धारण में बुनियादी और गैर-बुनियादी का भेद मिटता जा रहा है, प्रशिक्षण संस्थाओं—स्नातकोत्तर तथा पूर्व स्नातक स्तर दोनों—का बुनियादी में परिवर्तन शीघ्रता से हो रहा है। इन बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं में बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी शोध कार्य भी किये जा रहे हैं।

१९४८ में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की स्थापना डॉ० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में की गई थी। इस आयोग ने भी शिक्षक-प्रशिक्षण को एक नया मोड़ देकर विकसित किया। आयोग ने स्नातकोत्तर प्रशिक्षण-संस्थाओं में दिये जाने वाले सैद्धान्तिक ज्ञान पर तो असन्तोष व्यक्त किया पर इन विद्यालयों

की व्यावहारिक शिक्षा पर और अधिक बल देने की सिफारिश की। इस आयोग ने कहा कि जब हमारी वास्तविक शिक्षा केवल कुछ पाठ याद करना या पढ़ लेना ही नहीं है तथा जीवन में जीकर सोद्देश्यपूर्ण क्रियाओं में भाग लेना है तब यह आवश्यक हो जाता है कि हमारे विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शिक्षण-संस्थाओं में भी इस प्रकार से परिवर्तन किया जाये। इसको ध्यान में रखते हुए आयोग ने सुझाया कि शिक्षकों के व्यावहारिक प्रशिक्षण पर और अधिक बल दिया जाना चाहिए, अभ्यास के लिए उपयुक्त अभ्यास-शालाओं को चुना जाना चाहिए, शिक्षा के सिद्धान्त लचीले बनाये जाने चाहिए जिससे उन्हें स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल ढाला जा सके; तथा अखिल भारतीय स्तर पर शैक्षणिक शोध-कार्य इन प्रशिक्षण संस्थाओं द्वारा अपनाया जाना चाहिए।

राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप ही १९५० में बड़ौदा में प्रथम अखिल भारतीय प्रशिक्षण-संस्थाओं की सभा बुलाई गई। इस सभा में विश्वविद्यालयीन स्तर पर शिक्षक-प्रशिक्षण के कार्यों एवं गतिविधियों पर विचार किया गया तथा भविष्य के लिए सिद्धान्त और नीति निश्चित की गई। मैसूर में १९५१ में इसकी द्वितीय सभा का आयोजन हुआ, जिसमें स्नातकोत्तर स्तर पर शैक्षणिक शोध-कार्य तथा स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण का अध्ययन विशेष रूप से किया गया।

केन्द्रीय शिक्षा-विभाग ने शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के कार्य के समन्वय तथा मार्गदर्शन के हेतु पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरम्भ किया है। 'शिक्षा त्रैमासिक' तथा 'बुनियादी तालीम' त्रैमासिक पत्रिकाएँ इस दिशा में उपयोगी मार्गदर्शन का कार्य कर रही हैं। इसके साथ-साथ केन्द्रीय शिक्षा-विभाग शिक्षण-प्रशिक्षण-सम्बन्धी जानकारी पुस्तिकाओं के रूप में भी समय-समय पर निकालती रहती है।

भारत में शिक्षा संगठनों तथा निरीक्षकों के प्रशिक्षण की स्थिति भी गिरी हुई है। अभी तक शिक्षा-सचिव आई० ए० एस० के स्तर का व्यक्ति ही बनता है। शिक्षा-मन्त्री तथा विधान सभा के सदस्यों से तो शिक्षक-प्रशिक्षण की अपेक्षा भी ही नहीं जा सकती। अतः ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि शिक्षा-सचिव शिक्षा-प्रशिक्षित हो। शिक्षा-सचालक तो अब शिक्षा-प्रशिक्षित ही होने लगे हैं,

पर १८५४ में जब इनकी नियुक्तियाँ प्रारम्भ की गई थीं तब ऐसा नहीं था। प्रारम्भ में तो शाला-निरीक्षकों का भी शिक्षा-प्रशिक्षित होना आवश्यक नहीं माना जाता था। पर आज भी शाला-निरीक्षकों को किसी विशेष प्रकार का शिक्षा-संगठन का प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा-संगठन एक विज्ञान के रूप में अभी तक उपेक्षित ही है। शिक्षा-विभाग में कार्य कर रहे लिपिक, गणित आदि के शिक्षा प्रशिक्षण की तो भारत में कोई व्यवस्था ही नहीं है। ये लोग 'भूल-तथा-सुधार' या दैनिक कार्य करते समय जो भी समस्याएँ आती जाती हैं उनके आधार पर अपना काम सीखते तथा सरकारी कार्यालयों, जनपदों, जिला बोर्डों तथा अन्य स्वायत्त संस्थाओं में शिक्षा की व्यवस्था तथा संगठन-सम्बन्धी कार्य करते रहते हैं। इसका कारण यह है कि अभी तक भारत में शिक्षा-प्रबन्ध तथा शिक्षा-संगठन के प्रशिक्षण को उपयोगी समझा ही नहीं जाता है। पर यदि वास्तव में हमें शिक्षा का स्तर सुधारना है तथा शिक्षा का उचित विकास करना है तब शिक्षक-प्रशिक्षण के समान शिक्षा-निरीक्षकों, शिक्षा-लिपिकों तथा शिक्षा-प्रबन्ध तथा संगठन में सम्बन्धित अन्य कर्मचारियों के उचित प्रशिक्षण तथा सेवा के कार्यकाल में सेवा करते हुए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करनी ही चाहिए।

मध्यप्रदेश में शिक्षक-प्रशिक्षण

मध्यप्रदेश में शिक्षक प्रशिक्षण की व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं :

१. प्राथमिक तथा पूर्वमाध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।
२. उच्चतर तथा उच्च माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।
३. उच्चतर तथा उच्च माध्यमिक एवं प्रशिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों के सेवा करते हुए प्रशिक्षण की व्यवस्था।
४. शिक्षकों के सैद्धान्तिक मार्गदर्शन के हेतु विस्तार-सेवाओं की व्यवस्था।
५. शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार की व्यवस्था।

६. शिक्षकों कि नियुक्ति में मनोवैज्ञानिक ढग आयोजित करने के हेतु जिला तथा सभाग स्तरों पर चुनाव समितियों की स्थापना आदि।

७. अल्पकालीन बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना।

८. शिक्षा सगोष्ठियों की व्यवस्था।

प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों का प्रशिक्षण

मध्यप्रदेश में शासन ने सभी प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने की नीति अपना ली है। अतः राज्य की सभी प्राथमिक तथा पूर्व-माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण सस्थाओं को बुनियादी में परिवर्तित कर दिया गया है। इससे बुनियादी प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी न होगी। राज्य में अभी ५२ बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय हैं। इनमे ८वीं पास तथा मेट्रिक पास शिक्षक बुनियादी में प्रशिक्षित किये जाते हैं। इनमें प्रतिवर्ष कुल ५,५४८ शिक्षक-शिक्षिकाएँ प्रशिक्षित की जाती हैं। इनमें महिलाओं के लिए जबलपुर, भोपाल, ग्वालियर, इन्दौर, उज्जैन भी शामिल हैं। इनमे मराठी तथा उर्दू के शिक्षकों के लिए एक-एक प्रशिक्षण विद्यालय भी शामिल है।

इसके अतिरिक्त परम्परागत पद्धतियों में प्रशिक्षित शिक्षकों को बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों तथा विधियों से परिचित करने के हेतु राज्य में सिवनी तथा फरोदीमल्लनगर (रायगढ) में दो अल्पकालीन प्रशिक्षण केन्द्र चल रहे हैं।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में अनिवार्य बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था के लिए, बहुत बड़ी सख्या में बुनियादी प्रशिक्षण प्राप्त शिक्षकों की आवश्यकता-पूर्ति के लिए राज्य में द्वितीय पचवर्षीय योजनान्तर्गत सन् १९५९ में २ अक्तूबर से २३ बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय खोले गए हैं। इनमें प्रत्येक में १०० प्रशिक्षार्थी भरती किये जाते हैं, जिनमें १२ महिलाएँ होती हैं। इनमें से एक ग्वालियर में केवल महिलाओं के लिए तथा दो कांकेर तथा झाबुआ में आदिवासियों के लिए हैं। १९६०-६१ सत्र में २७ बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा ३ अल्पकालीन प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायेंगे।

इसके साथ-साथ पहिले के अनुसार राज्य के बाहर बुनियादी में प्रशिक्षण के लिए महिलाश्रम, वर्धा, राष्ट्रीय बुनियादी विद्यालय, दिल्ली आदि स्थानों में

शिक्षकों तथा प्रशासकीय अधिकारियों को भेजा जाता है।

आदिवासी क्षेत्रों में काम करनेवाले शिक्षकों के बुनियादी में प्रशिक्षण के लिए, सिहोरा तथा बस्तर में २२५ शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

नवीन मध्यप्रदेश के गठन के बाद राज्य के प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाओं में २५ प्रतिशत की वृद्धि की गई थी। अब तो यह प्रतिशत और भी बढ़ता जा रहा है।

योजना और विकास-विभाग द्वारा आयोजित अनुस्थापना योजना का कार्य शिक्षा-विभाग द्वारा किया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक शिक्षकों को विकास कार्य-सम्बन्धी जानकारी दी जाती है। सन् १९५९ तक लगभग ४०० शिक्षक तथा २०० शिक्षिकाएँ अनुस्थापित की जा चुकी हैं।

राज्य के मध्यभारत क्षेत्र के प्रशिक्षण विद्यालयों तथा उनके शिक्षकों के लिए भवन-निर्माण की योजना भी है। इसके लिए क्रमशः ९.९९ लाख तथा ४.५० लाख रुपये का प्रावधान है। महाकोशल क्षेत्र में बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों के लिए भवन निर्माण के हेतु ३२ लाख रुपये का प्रावधान है। विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र में बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं के छात्रावास के लिए ११.५० लाख लागत के १२ भवन बनाने की योजना है।

राज्य के इन प्रशिक्षण विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में शिक्षकों को वेतन या छात्रवृत्ति मिलती है।

मध्यप्रदेश राज्य में सन् १९५६-५७ में माध्यमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए केवल ६ प्रशिक्षण महाविद्यालय थे। इस समय माध्यमिक स्तर राज्य में ८ सरकारी तथा १ अशासकीय प्रशिक्षण शालाओं के प्रशि॰ महाविद्यालय हैं। इसके अतिरिक्त जबलपुर में भी बी॰ टी॰ क्रम की व्यवस्था की गई हैं। इन प्रशिक्षण महाविद्यालयों में अब १,११८ स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण लेते हैं। राज्य में ३ स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय (जबलपुर, भोपाल तथा उज्जैन) भी इनमें शामिल हैं।

जबलपुर, भोपाल, ग्वालियर, रायपुर, देवास, उज्जैन तथा रीवाँ के प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रत्येक में १० प्रशिक्षार्थियों के लिए एम॰एड॰ की शिक्षा की

महाविद्यालयों में पत्रोपाधि
व्यवस्था है। रायपुर, जबलपुर, खण्डवा के प्रशिक्षण
स्तर के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। इनमें मैट्रिक पास शिक्षक दो वर्ष तक प्रशिक्षण
लेते हैं। जावरा के प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रमाणपत्र स्तर के प्रशिक्षण की
सुविधा है।

प्रशिक्षण की अवधि में प्रशिक्षार्थियों को वेतन या छात्रवृत्ति दी जाती है।
इन प्रशिक्षण महाविद्यालयों में सन् १९५८-५९ से अतिरिक्त स्थान भी बढ़ाये
गए हैं। इन अतिरिक्त स्थानों में से ५० प्रतिशत शिक्षकों के लिए तथा ५०
प्रतिशत द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण स्नातकों के लिए हैं। शिक्षकों से कोई शुल्क नहीं
लिया जाता, पर इन अतिरिक्त स्थानों में लिये गए स्नातकों से १२०) प्रति सत्र
शुल्क लिया जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय में शैक्षणिक मनोविज्ञान तथा
समाज-सेवा से सम्बन्धित मनोविज्ञान की एम० ए० (मनोविज्ञान) शिक्षा की
व्यवस्था भी है। इसके लिए ३० छात्रों के हेतु प्रबन्ध है। इनसे कोई शुल्क नहीं
लिया जाता।

प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय, जबलपुर में राज्य-स्तर पर एक शैक्षणिक
व्यावसायिक मार्गदर्शन केन्द्र है, जिसमें शैक्षणिक तथा व्यावसायिक मार्गदर्शन
और अनुसन्धान का कार्य किया जाता है।

इसके सिवाय प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय जबलपुर में अनुस्थापन प्रशिक्षण
विभाग तथा संगोष्ठी विभाग भी है। इनकी चर्चा इसी अध्याय में अन्यत्र की
जा रही है।

सन् १९६०-६१ में ग्वालियर में एक स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महा
विद्यालय खोलने का प्रावधान रखा गया है। इसके साथ
उच्चतर तथा उच्च साथ बिलासपुर में भी एक स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्ष
माध्यमिक एवं महाविद्यालय खोलने का विचार चल रहा है।
प्रशिक्षण विद्यालयों इसके लिए राज्य में प्रान्तीय शिक्षण महाविद्या
के शिक्षकों के सेवा- जबलपुर में अनुस्थापन प्रशिक्षण विभाग तथा संगोष्ठी वि
कालीन प्रशिक्षण खोले गए हैं। अनुस्थापन प्रशिक्षण विभाग शिक्षकों, प्रधाना-
की व्यवस्था ध्यापकों आदि को सेवाकाल में शिक्षा की नवीन प्रणालियां

तथा नवीन दृष्टिकोणों से परिचित कराता है।

गंगोत्री विभाग वर्ष भर कार्यरत रहता है तथा इसमें बहुउद्देशीय उच्चतर, उच्च माध्यमिक शालाओं तथा प्रशिक्षण विद्यालयों के शिक्षक, शिक्षिकाएँ लगभग एक-एक माह के अल्पकालिक प्रशिक्षण के लिए आते हैं। इस अल्पकालिक प्रशिक्षण की अवधि में उन्हें शिक्षा की वर्तमान गतिविधियों, सिद्धान्तों तथा शिक्षण विधियों से परिचित कराया जाता है।

शिक्षकों के शैक्षणिक मार्गदर्शन के हेतु विस्तार कार्यों की व्यवस्था

राज्य के निम्नलिखित प्रशिक्षण महाविद्यालयों में अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद के तत्त्वावधान में विस्तार सेवा केन्द्र स्थापित किये गए हैं :

१. प्रान्तीय शिक्षण महाविद्यालय, जबलपुर।
२. शासकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय, रायपुर।
३. शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय, देवास।
४. शासकीय स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, भोपाल।

ये विस्तार-केन्द्र अपने आसपास के ५० मील तक की माध्यमिक शालाओं का शैक्षणिक मार्गदर्शन करते हैं। मार्गदर्शन के हेतु माध्यमिक शिक्षा परिषद ने इन विस्तार केन्द्रों में विविध प्रकार के आधुनिकतम शैक्षणिक उपकरण, जैसे दृश्य श्रव्य साधन, प्रयोगशाला आदि प्रदान किये हैं। इन विस्तार-केन्द्रों में समय-समय पर शिक्षकों तथा प्रधानाध्यापकों की बैठकें होती हैं जिनमें शैक्षणिक समस्याओं पर विचार-विनिमय होता है। इन विस्तार केन्द्रों से शैक्षणिक पत्रिका बुलेटिनों के रूप में निकलती है जिनमें शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं तथा विधियों-सम्बन्धी बातें रहती हैं। शैक्षणिक फिल्मस स्लाइडों का प्रदर्शन तथा शैक्षणिक साहित्य का आदान-प्रदान भी इन विस्तार केन्द्रों के अन्तर्गत चलता ही रहता है।

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार देने की योजना सन् १९५८-५९ से प्रारम्भ की गई है। इस योजना का उद्देश्य शिक्षकों का समाज में मान-सम्मान बढ़ाना, उन्हें कार्यक्षेत्र में प्रोत्साहित करना तथा उनका सामाजिक स्तर उच्च बनाना है। इस योजना के अन्तर्गत माध्यमिक एवं

शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार की व्यवस्था

प्राथमिक दोनों प्रकार के शिक्षकों को राष्ट्रीय पुरस्कार दिया जाता है। यह पुरस्कार प्रतिवर्ष दिल्ली में २६ जनवरी के दिन राष्ट्रपति द्वारा प्रदान किया जाता है। इसमें पाँच सौ रुपया नकद, सोने का पदक तथा प्रमाणपत्र रहता है। मध्यप्रदेश में सन् ५८-५९ में दो तथा १९५९-६० में चार शिक्षकों को यह राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया है।

शिक्षकों की नियुक्ति में मनोवैज्ञानिक ढंग आयोजित करने के हेतु जिला तथा सम्भाग स्तरों पर चुनाव समितियों की स्थापना आदि

इस सिलसिले में राज्य में शिक्षकों के चुनाव के हेतु निर्देश स्थिर किये गए हैं। इन निर्देशों के अनुसार जिला तथा सम्भाग स्तरों पर चुनाव समितियों की स्थापना की गई है, शैक्षणिक कार्य के लिए आवेदन-पत्रों का पंजीयन होता है, अनुभव तथा प्रशिक्षण आदि के आधार पर अंक दिये जाते हैं तथा प्रत्यक्ष भेंट के द्वारा शिक्षकों का चुनाव किया जाता है। इससे शिक्षा विभाग को अच्छे शिक्षक उपलब्ध होने तथा नौकरी देने आदि में विधिवत कार्य चलता है।

अल्पकालीन बुनियादी प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना

राज्य के परम्परागत विधि से प्रशिक्षित प्राथमिक शिक्षकों को बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों, विधियों तथा तत्वों से परिचित कराने के उद्देश्य से सिवनी तथा रायगढ़ (करोंदीमल्लगर) में अल्पकालीन प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है। इन केन्द्रों में प्रशिक्षण की अवधि ४९ दिनों की होती है तथा प्रत्येक सत्र में ७५ शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं। सन् १९६०-६१ में ऐसे तीन केन्द्रों के खोलने की व्यवस्था और की जा रही है, क्योंकि राज्य में गैरबुनियादी शालाओं की संख्या देखते हुए इस प्रकार के और भी केन्द्र खोलना आवश्यक है।

शिक्षा-संगोष्ठियों की व्यवस्था

शिक्षा-विभाग के अधिकारियों तथा शिक्षकों के विशेष प्रशिक्षण के लिए राज्य के सभी विभागों में ग्रीष्म तथा शरद्कालीन अवकाशों में शिविर तथा विचार-संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इस योजना के अनुसार १९५७-५८ तक ३०२ शिविर आयोजित किये जा चुके हैं। ये संगोष्ठियाँ बुनियादी तथा माध्यमिक

स्तर के विद्यालयों के शिक्षकों तथा अधिकारियों के लिए होती है।

सन् १९५८-५९ में शरद्कालीन अवकाश के समय में दो माह के अल्प-कालिक प्रशिक्षण की व्यवस्था भी राज्य के समस्त बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में शिक्षित बेकारी उन्मूलन योजना के अन्तर्गत नियुक्त शिक्षकों के लिए की गई थी।

इसके साथ-साथ प्रतिवर्ष राज्य की सभी बुनियादी संस्थाओं में २० जनवरी से २६ जनवरी तक बुनियादी शिक्षा सप्ताह मनाया जाता है। इसके अन्तर्गत राज्य स्तरीय तथा सम्भागीय स्तरीय संगोष्ठियों का भी आयोजन किया जाता है। जिला तथा तहसील स्तर पर भी संगोष्ठियों की व्यवस्था है। साथ ही जहाँ कहीं भी बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन या संगोष्ठियाँ होती हैं, वहाँ शासन अपने प्रतिनिधि काफी संख्या में भेजता है। इससे राज्य के बुनियादी क्षेत्र में कार्य करनेवाले कार्यकर्ता बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी नवीन गतिविधियों से परिचित होते रहते हैं।

भारत में शिक्षक-प्रशिक्षण की समस्याएँ

१. प्रशिक्षण विद्यालयों तथा महाविद्यालयों की कमी।
२. प्रशिक्षण-विद्यालयों तथा महाविद्यालयों का सम्पूर्ण देश में समुचित-रूप से विधिवत वितरित न होना।
३. शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की ओर सरकार का उचित ध्यान न देना।
४. शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का सुसंगठित न होना, अर्थात् शिक्षा के प्रत्येक स्तर, जैसे पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, माध्यमिक आदि के प्रशिक्षण विद्यालयों तथा संस्थाओं का आपसी सम्बन्ध न रखते हुए अलग कार्यरत रहना।
५. शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का अलग-थलग तथा उनके कार्यों में विलगता रहना।
६. शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का संकुचित क्षेत्र में कार्य करना। अनेक संस्थाओं का अपने कार्यों तथा गतिविधियों को सीमित क्षेत्र तक ही रखना।

७. प्रशिक्षण संस्थाओं का शैक्षणिक समस्याओं के सम्बन्ध में शोध-कार्य न करना। जो थोड़ा बहुत शोध-कार्य किया गया हो उससे दूसरों को अवगत न कराना या न करा सकना।

८. प्रशिक्षण संस्थाओं में बुनियादी और गैर-बुनियादी का भेद होना।

भारत में शिक्षक-प्रशिक्षण समस्याओं के समाधान के उपाय

भारत में शिक्षक-प्रशिक्षण की समस्याओं के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की जाये। इन प्रशिक्षण संस्थाओं को उचित रूप से सभी क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार वितरित करना भी आवश्यक है। इससे सभी क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की ओर सरकार को समुचित ध्यान देना चाहिए, क्योंकि बिना अच्छे प्रशिक्षित शिक्षकों के शिक्षा में कोई सुधार तथा उन्नति करना असम्भव-सा ही है। सभी स्तर की प्रशिक्षण संस्थाओं को आपस में सम्बद्ध करने की दिशा में भी प्रयत्न किया जाना आवश्यक है। इससे उनका दृष्टिकोण भी विकसित होगा तथा एक दूसरे का सहयोग समस्याओं के समाधान के लिए मिलेगा। अतः यह आवश्यक है कि यदि अधिक कुछ सम्भव न हो तो कम-से-कम सम्भागीय स्तर पर तो सभी प्रकार की शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का आपसी सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ बनाने के प्रयत्न किये जाना चाहिए। प्रशिक्षण संस्थाओं को सम्बद्ध अभ्यास-शालाओं से और भी अधिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। इसके लिए प्रशिक्षण संस्थाओं तथा अभ्यास-शालाओं के शिक्षकों की अदला-बदली, प्रशिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों तथा निरीक्षकों की अदला-बदली बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इसके साथ-साथ प्रत्येक विश्वविद्यालय या प्रत्येक राज्य के उपयुक्त क्षेत्रों में 'इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन' खोलने की व्यवस्था भी करनी चाहिए। शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं का कार्य प्रशिक्षार्थियों को केवल शिक्षा-सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान-सम्बन्धी बातों से अवगत करना ही नहीं है वरन् उन्हें लगन, श्रम, सत्य, अहिंसा से कार्य करना सिखाना भी है। यदि हम शिक्षा द्वारा सामाजिक उन्नति तथा सुधार चाहते हैं तो आवश्यक है कि शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएँ प्रशिक्षण के लिए आये शिक्षकों

…त्याग, आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता में काम करना भी सिखलायें। इसका मतलब यह हुआ कि प्रशिक्षण संस्थाओं को प्रशिक्षण के लिए आये शिक्षकों के विचारों, आदर्शों, रहन-सहन सभी में आमूल तथा अनुकूल परिवर्तन करने की दिशा में काम करना होगा। इसके साथ-साथ शिक्षा-क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में शोध-कार्य भी प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए करना आवश्यक है। पर शोध-कार्य करके उसे अपनी अलमारियों में रखने-मात्र से कार्य न चलेगा। प्रशिक्षण संस्थाओं को अपनी जानकारी का उचित प्रचार तथा आदान-प्रदान भी करना चाहिए। इसके लिए सम्भागीय तथा राज्य-स्तर पर बुलेटिनों का प्रकाशन करना ठीक होगा। अखिल भारतीय स्तर पर भी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से इस दिशा में समुचित कार्य किया जा सकता है। आपसी सहयोग से शैक्षणिक समस्याओं-सम्बन्धी शोध-कार्य सरलता, कम व्यय तथा शीघ्रता से किया जा सकता है। जैसा कि बुनियादी शिक्षा की जाँच के हेतु गठित 'मूल्यांकन समिति' ने व्यक्त किया है कि अब चूँकि बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा नीति के रूप में मान्यता मिल चुकी है अतः बुनियादी और गैर-बुनियादी का भेद शीघ्र ही समाप्त होना चाहिए। इस दृष्टि से सभी प्रशिक्षण संस्थाओं को भी बुनियादी बना देना ही उपयुक्त होगा। प्रशिक्षण संस्थाओं को अपने पाठ्यक्रम में शाला-संगठन तथा प्रबन्ध के सिद्धान्तों तथा उनके व्यावहारिक स्वरूप की ओर भी अधिक तथा विस्तृत ध्यान देना चाहिए जिससे उनका पाठ्यक्रम न केवल शिक्षकों के लिए उपयोगी रहे बल्कि यह शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करनेवाले निरीक्षकों, प्रबन्धकों तथा अन्य कर्मचारियों के लिए भी उपयोगी सिद्ध हो सके। प्रशिक्षण संस्थाओं को विस्तार-कार्य की ओर और भी अधिक ध्यान देना चाहिए। जब तक प्रशिक्षण संस्थाएँ विस्तार-कार्य को अपना अभिन्न अंग न बनायेंगी तब तक वे वास्तविक तथा प्रभावशाली ढंग से सामाजिक उन्नति में सहायक न हो सकेंगी और न वे प्रशिक्षण के लिए आये शिक्षकों में समाज-सेवा की भावना भर सकेंगी।

से महत्वपूर्ण है। इस काल के पूर्व प्राथमिक शिक्षा की ओर कोई रुचि नहीं ली गई, पर इस काल में भारतीयों ने संगठित होकर तत्सम्बन्धी आन्दोलन प्रारम्भ किया।

२. सन् १८८२ से १९१० तक

इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के आन्दोलन प्रारम्भ होने के निम्नलिखित कारण थे :

१. अंग्रेजों के भारत में आने तथा अनेक भारतीयों के इंग्लैंड जाने तथा अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से भारतीय समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ।

२. १९वीं शताब्दी में भारत में धार्मिक सुधार के अनेक प्रयत्न किये गए। ये सुधार के प्रयत्न ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा रामकृष्ण मिशन द्वारा किये गए थे। इन सुधारों में ऊँच-नीच का भेद मिटाना, पर्दा-प्रथा को दूर करना, विधवा-विवाह करना, हरिजनों की उन्नति, बाल-विवाह रोकना, स्त्रियों की दशा सुधारना आदि को अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इसका प्रभाव भारतीय सामाजिक दशा पर भी पड़ा।

३. भारत में लोकतंत्र के सिद्धान्तों को मान्यता देने से भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला।

४. धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के फलस्वरूप देश की पददलित निम्न जातियों में उन्नति की भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इससे अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आन्दोलन को बल मिला।

५. भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावनाओं के विकास के कारण अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आन्दोलन संगठित होने की दिशा में प्रोत्साहन मिला।

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९वीं शताब्दी में भारत में सामाजिक एकता, ऊँच-नीच का भेदभाव दूर करने की भावनाओं के विकास, हरिजन, स्त्रियों आदि के उत्थान के प्रयत्नों आदि के फलस्वरूप अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-आन्दोलन को प्रोत्साहन मिला, पर यह आन्दोलन सरकारी नीति को प्रभावित करने के योग्य सुसंगठित न हो सकने के कारण सफल न हो सका। साथ ही-साथ जो अंग्रेज १८८२ के पूर्व अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सिद्धान्त रूप में

स्वीकार करके भारत में इसके प्रसार के इच्छुक थे वे देश की बदलती राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इसके विरुद्ध हो गए। अभी तक भारतीय अंग्रेजों के भक्त थे तथा अंग्रेजी शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव रखते थे, पर राष्ट्रीयता के आन्दोलन के विकसित होने के कारण यह सब सम्भव न रहा। फलस्वरूप अंग्रेजों ने केवल कुछ गिने-चुने लोगों को शिक्षित करके जन-सामान्य में अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने को बढ़ावा देने की नीति को पहले तो उपयुक्त समझा, पर बाद में इसे भी इसलिए त्याग दिया कि ये गिने-चुने शिक्षित व्यक्ति जनता की ओर से अनेक माँगें उपस्थित करने लगे थे।

इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रश्न को उठाने का प्रथम महत्वपूर्ण अवसर १८८२ के भारतीय शिक्षा-आयोग की स्थापना से मिला। इस शिक्षा-आयोग के समक्ष अनेक भारतीयों, अंग्रेजों, मिशनरियों आदि ने बयान दिये तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को अपनाने पर बल दिया। पर इस शिक्षा-आयोग ने इस पर ध्यान न दिया। अतः शासन ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के विचार को आदर्शात्मक माना। अंग्रेज सरकार के अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त को कार्यान्वित न करने के निम्नलिखित कारण थे :

१. भारत में जनसंख्या तथा मृत्युसंख्या बहुत अधिक है। अतः अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करना बड़ा महँगा पड़ेगा।
२. अंग्रेज सरकार का भारतीयों पर अपने बच्चों को शालाओं में भेजने के लिए जबर्दस्ती करना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि इससे द्वेष ही बढ़ेगा।
३. अनेक प्रशासनात्मक कठिनाइयों, जैसे शाला-भवन, शिक्षकों का चुनाव तथा उनका प्रशिक्षण, उपयुक्त हाकिमों निरीक्षकों के अभाव आदि के कारण यह सब सम्भव नहीं है।
४. भारत में जन-सामान्य भी अभी इसके लिए तैयार नहीं है।
५. अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को प्रारम्भ करने से अंग्रेजों की धर्म निरपेक्ष नीति का पालन न हो सकेगा, क्योंकि इसमें हिन्दू बच्चों के साथ हरिजनों का बैठना तथा बालिकाओं को शालाओं में पढ़ने के लिए भेजना अनिवार्य करना पड़ेगा।

इन सब कारणों से अंग्रेज सरकार ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रश्न

को टाला, पर इस प्रकार के आन्दोलन को भारतीयों ने छोड़ा नहीं। इस दिशा में सबसे अधिक सहयोग बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव ने दिया। उन्होंने अपनी रियासत में १८८१ से (जब से वे गद्दी पर बैठे) १८९२ तक प्राथमिक शिक्षा का अधिक-से-अधिक प्रसार किया। इतना ही नहीं, प्रयोग के लिए उन्होंने १८९३ में अपनी रियासत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की। तथा सन् १९०६ में सम्पूर्ण रियासत मे इसे लागू किया। इस प्रकार भारत में सर्वप्रथम अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने का श्रेय बड़ौदा-नरेश को ही है।

इसके बाद बम्बई में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला तथा सर चिमनलाल सेतलवाड के प्रयत्नों के फलस्वरूप, १९०६ में सरकार द्वारा अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल के लिए एक समिति का निर्माण हुआ। पर इस समिति ने यह निर्णय दिया कि अभी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने का उपयुक्त समय नहीं आया है।

सन् १९१० में श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने केन्द्रीय विधान सभा में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव रखा। इसमें यह सुझाया गया था कि इस सम्बन्ध में जाँच के लिए एक आयोग की स्थापना की जाये। अंग्रेजी शासन द्वारा इस प्रश्न की जाँच को उचित महत्त्व देने के आश्वासन पर यह प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। पर १९११ में पुनः श्री गोखले ने एक निजी प्रस्ताव के रूप में केन्द्रीय विधान सभा में इस प्रश्न को उठाया तथा अंग्रेजों के सभी आक्षेपों तथा कठिनाइयों का उत्तर अपने चिरस्मरणीय भाषण में दिया।

२. सन् १९१० से १९१८ तक

इस काल में श्री गोखले द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को सरकार द्वारा मान्य किये जाने के सम्बन्ध में स्मरणीय प्रयत्न किये गए। सन् १९११ में जो निजी प्रस्ताव श्री गोखले ने प्रस्तुत किया था उसमें उन्होंने सरकारी कठिनाइयों तथा आक्षेपों को दूर करने के लिए यह प्रावधान रखा कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कार्य स्वायत्त संस्थाओं के जिम्मे ही किया जाये तथा इसे प्रारम्भ करने के पूर्व शासन की मंजूरी आवश्यक समझी जाये। जिस क्षेत्र में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की जा रही है उस क्षेत्र मे एक निश्चित प्रतिशत में बालक

शालाओं में पढ़ने के लिए भर्ती होना चाहिए। इसके साथ-साथ अनेक सामाजिक तथा आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से इस बिल में अनिवार्य शिक्षा की अवधि ४ वर्ष (६ वर्ष से १० वर्ष) की रखी गई थी तथा अनिवार्य शिक्षा केवल बालकों तक ही सीमित रखने का सुझाव था। बालिकाओं के लिए इसकी व्यवस्था उपयुक्त समय आने पर ही करने का सुझाव भी इसमें दिया गया था। इस प्रकार यह प्रस्ताव बहुत ही सोच विचार कर बनाया गया था तथा यह आशा की जाती थी कि यह मंजूर हो जायेगा। श्री गोखले के इस बिल को सभी क्षेत्रों के भारतीय नेताओं, व्यापारिक संस्थाओं तथा कुछ अंग्रेजों का समर्थन प्राप्त था, पर चूँकि केन्द्रीय विधान सभा में सरकारी पक्ष के सदस्यों का बहुमत था तथा सरकार इसके विरुद्ध थी, यह बिल पास न हो सका। इस अवसर पर श्री गोखले का भाषण अभूतपूर्व प्रतिभा-सम्पन्न तथा जोशीला था।

श्री गोखले तथा अन्य भारतीय नेताओं के प्रयत्न इस सम्बन्ध में असफल अवश्य रहे, पर इनसे प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी अभी तक चली आई सरकारी नीति में अनुकूल परिवर्तन हुए तथा इस ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इससे भारतीय जनता का ध्यान भी शिक्षा की ओर गया। फलस्वरूप १९०१-२ से १९१६-१७ तक प्राथमिक शिक्षा की, निजी प्रयासों के फलस्वरूप, अच्छी प्रगति हुई।

यह काल अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के नवीन युग का प्रारम्भ था, क्योंकि इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के सिद्धान्त को मान्यता दी गई तथा अनेक प्रान्तों तथा रियासतों में 'अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून' बने।

४. सन् १९१८ से १९३० तक

प्रथम महायुद्ध के बाद भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक जीवन में बड़े परिवर्तन हुए। राजनैतिक दृष्टि से दो परिवर्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे—(१) शिक्षा विभाग को जनता के चुने प्रतिनिधियों के हाथ में सौंपना, तथा (२) शिक्षा सेवा का भारतीयकरण; क्योंकि १९२१ के बाद ५० प्रतिशत भारतीय शिक्षा सेवा के स्थानों पर भारतीयों की नियुक्ति का सिद्धान्त मान लिया गया।

इसके पूर्व इन स्थानों पर अंग्रेजों की नियुक्ति ही होती थी। सन् १९२४ से अखिल भारतीय शिक्षा सेवा की प्रथा ही बन्द कर दी गई तथा प्रान्त अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्रान्तीय शिक्षा सेवा के अन्तर्गत नियुक्तियाँ करने लगे।

शिक्षा के प्रसार, महायुद्ध के समय जागृति तथा महात्मा गांधी के हरिजन-उत्थान आन्दोलन तथा अन्य अथक परिश्रमों के फलस्वरूप भारतीय सामाजिक जीवन के क्षेत्र में भी अनेक परिवर्तन हुए। सामाजिक एकता तथा बराबरी की भावनाओं का विकास इस काल में हुआ तथा इससे अनिवार्य शिक्षा के आन्दोलन को बल मिला।

इस काल में भारत में लोकतन्त्र को मान्यता प्राप्त हुई तथा देश में अनेक लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास प्रारम्भ हुआ। साथ-ही-साथ देश की जनता का शिक्षा में विश्वास बढ़ा तथा वह अपनी उन्नति के लिए शिक्षा को आवश्यक समझने लगी। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों ने—लोकतन्त्र में बढ़ते हुए विश्वास तथा शिक्षा में आस्था—अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा आन्दोलन को बढ़ावा दिया। फलस्वरूप अनेक प्रान्तों में अनिवार्य शिक्षा कानून पास किये गए।

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून को बनाने का सर्वप्रथम श्रेय बम्बई को है। सन् १९१७ में श्री विट्ठल भाई पटेल ने बम्बई विधान परिषद में म्युनिसिपल क्षेत्रों के लिए अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव रखा। यह गोखले के बिल के आधार पर ही बनाया गया था, पर इसमें इसे म्युनिसिपल क्षेत्रों तक ही सीमित करके सरकार को अनुदान देने या न देने की स्वतन्त्रता थी। अतः यह प्रस्ताव पारित हो गया। यह 'पटेल एक्ट' के नाम से जाना जाता है। इसके बाद तो अनेक प्रान्तों तथा रियासतों में तत्सम्बन्धी कानून पास हुए, जैसे बंगाल (२७ मार्च १९१९), बिहार और उड़ीसा (१३ मार्च १९१९), पंजाब (७ मार्च १९१९), संयुक्त प्रान्त (१३ मार्च १९१९), मध्यप्रान्त (१३ मार्च १९२०), मद्रास (४ अक्तूबर १९२०), बम्बई शहर (२७ सितम्बर १९२०), बम्बई जिला बोर्डों के लिए (१६ दिसम्बर १९२२), आसाम (७ जुलाई १९२६), संयुक्त प्रान्त जिला बोर्ड (२५ फरवरी १९२६), बंगाल (ग्रामीण २६ अगस्त १९३०)। बड़ौदा रियासत तो १९०६ में ही अपनी रियासत में इस प्रकार का कानून बना

चुकी थी। कोल्हापुर ने १९१७ तथा मैसूर ने १९३१ में तत्सम्बन्धी कानून बनाये।

ये सभी कानून गोखले के बिल के आधार पर ही बनाये गए थे। इनकी निम्न बातें प्रमुख थीं :

१. इन कानूनों के द्वारा स्वायत्त संस्थाओं पर ही अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व छोड़ा गया।
२. सभी कानूनों में थोड़े-बहुत परिवर्तनों से बच्चों की गैरहाजिरी के सम्बन्ध में नियम बनाये गए।
३. सभी कानूनों में प्राथमिक शिक्षा का पर्याप्त विस्तार अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए आवश्यक माना गया। अतः स्वायत्त संस्थाएँ अनिवार्य शिक्षा को एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्रों में प्रारम्भ कर सकती थीं।
४. सभी कानूनों में बालिकाओं के लिए अनिवार्य शिक्षा सतर्कता से तथा उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर ही प्रारम्भ करने का प्रावधान था।
५. प्रारम्भिक काल में बने कानूनों में शासन को स्वतन्त्रता थी कि वह अनिवार्य शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता दे या न दे, पर बाद के बने कानूनों में सरकार के लिए ५० से ६६⅔ प्रतिशत आर्थिक सहायता देने का प्रावधान है।
६. सभी कानूनों में अनिवार्य शिक्षा की अवधि सम्बन्धी प्रावधान है। कुछ कानूनों में ४ वर्ष, कुछ में ५ वर्ष तथा कुछ में ७ वर्ष की अवधि का प्रावधान है। बालिकाओं के लिए कम अवधि ही रखी गई है।

यह काल अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रारम्भिक प्रयोग का था। इसमें कुछ चुने हुए क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की गई। अभी तक के अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध में किये गए कार्यों से पता चलता है कि केवल स्वायत्त संस्थाओं को कानून बनाकर अनिवार्य शिक्षा लागू करने की अनुमति ही देने का कार्य ही किया गया था। इस काल में इन स्वायत्त संस्थाओं ने इन कानूनों के द्वारा दी गई अनुमति को कार्यरूप में परिणत करने का कार्य प्रारम्भ किया।

५. सन् १९३० से १९५० तक

जब हम १९३० से १९५० तक के अनिवार्य शिक्षा के विस्तार पर विचार

करते हैं तब पता चलता है कि १९२१-२२ तक भारतीयो के हाथ मे शिक्षा का
मगठन तथा उसकी व्यवस्था आ जाने पर भी केवल ८ शहरो मे अनिवार्य
शिक्षा प्रारम्भ की जा सकी। हमारा देश गॉवो का देश होते हुए भी अभी तक
एक भी गॉव मे अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ न की जा सकी थी (बडौदा रियासत
को छोडकर)। अगले १६-१७ वर्षों मे भी अनिवार्य शिक्षा की प्रगति बहुत
मन्द ही रही, क्योंकि १९३६-३७ में देश के २,७०३ शहरों में से केवल १६७
शहरी क्षेत्रों तथा ६,५५,८९२ देहाती क्षेत्रो मे से १३,०६२ क्षेत्रों मे अनिवार्य
प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ हो सकी थी। इस मन्द गति मे दो प्रमुख कारण थे :

१. भारतीय शिक्षा सेवा अधिकारियो की उपेक्षा क्योंकि वे श्री गोखले तथा
अन्य भारतीय नेताओं द्वारा अनिवार्य शिक्षा के लिए किये गए प्रयत्नो
के विरुद्ध थे तथा अब यह बतलाना चाहते थे कि उनका कथन ठीक
था। अत. अनिवार्य शिक्षा के सम्बन्ध मे कोई जल्दबाजी के कदम नहीं
उठाये गए।

२. दूसरा कारण आर्थिक था। १९१९ के एक्ट के अनुसार प्रान्तों की जो
अर्थ-व्यवस्था की गई थी वह ठीक न थी। प्रान्तों को केन्द्र के घाटे की
पूर्ति के लिए बहुत धन देना पडता था। इससे प्रान्तों के पास आमदनी
के साधन होते हुए भी शिक्षा के लिए अधिक धन नहीं बचता था।
सन् १९२७-२८ मे केन्द्रों को पैसा देना अवश्य बन्द कर f-या गया
था पर फिर १९३० का आर्थिक मन्दी का काल (depression)
आया तथा इसका प्रभाव लगभग १९३५-३६ तक बना रहा। इसका
स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अनिवार्य शिक्षा की अनेक योजनाएँ
मञ्जूर ही नहीं हो सकीं।

सन् १९३७ मे भारत के अधिकाश प्रान्तो मे जनता के चुने हुए प्रति-
निधियों ने सरकार बनाई तब यह आशा की जा सकती थी कि अनिवार्य शिक्षा
की अच्छी प्रगति होगी। पर दुर्भाग्यवश राजनैतिक कारणों से १९३९ में जनता
के प्रतिनिधियों की सरकारों को त्यागपत्र देना पड़ा। इसके स्थान मे जो काम-
चलाऊ सरकार बनी उसने जैसी स्थिति थी वैसी ही बनी रहने देने की नीति

अपनाई। फलस्वरूप १९४६ तक अनिवार्य शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ तथा जनता की सरकार ने देश की बागडोर सँभाली। स्वाभाविक था कि अब स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अनिवार्य शिक्षा का समुचित प्रसार होती। पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ देश पर नयी जिम्मेदारियाँ आ गईं। देश-विभाजन के फलस्वरूप झगड़े तथा दंगे हुए, करोड़ों विस्थापित लोग पंजाब, बंगाल, सिंध आदि प्रान्तों से अपनी जायदाद और घर बार छोड़ कर जैसे-तैसे भागकर आये। इन सभी की समुचित व्यवस्था करना परम आवश्यक था। देश में शान्ति बनाये रखना भी अपरिहार्य था। देश विभाजन से कृषि के अच्छे उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए तथा वर्षा आदि की गड़बड़ी के कारण अनाज की एकदम कमी पड़ गई। विदेशों से करोड़ों रुपयों का अनाज मँगवाना पड़ा। देश में पाँच ५०० से भी अधिक देशी रियासतों का विलयन करके उनके नये राज्य बनाने की व्यवस्था भी बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा कठिन कार्य था। इन सब कारणों से अनिवार्य शिक्षा में आशातीत प्रगति न हो सकी। फिर भी आँकड़ों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी १९३७ के पूर्व की प्रगति से १९३७ के बाद की प्रगति अपेक्षाकृत अच्छी रही।

पर हमें यह न भूलना चाहिए कि अनेक स्थानों में अनिवार्य शिक्षा लागू होने के बाद भी कानूनों की धाराओं से उपस्थिति की अनिवार्यता केवल कागजी ही थी। इसे वास्तविक स्वरूप नहीं दिया जा सका था। अनेक स्थानों पर पाठशालाएँ नहीं खोली गईं, तथा कानूनों के उल्लंघन करने पर कोई सख्ती नहीं बरती जाती थी। इस प्रकार यह कानून प्रायोगिक ही रहा। कोई ठोस प्रगति इस कानून से सम्पन्न न हो सकी। पर हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इन प्रयोगों का कोई मूल्य ही नहीं है। आगे की योजना बनाने तथा कठिनाइयों का पता लगाने की दृष्टि से ये प्रयोग बड़े महत्त्व के हैं।

यह भार देश में सार्वजनिक दृष्टि से अनिवार्य शिक्षा लागू करने का है। इस काल में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए निश्चित तथा ठोस कदम उठाये जा रहे हैं। हमारे संविधान की

६. १९५० से वर्तमान काल तक ४५ वीं धारा में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि "इस संविधान के प्रारम्भ होने से १० वर्षों के भीतर ही देश के प्रत्येक बालक-बालिका को १४ वर्ष की आयु तक निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रयत्न राज्य करेगा।"

भारत में अनिवार्य शिक्षा के अभी तक के विकास से पता चलता है कि देश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा बहुत देर या बाद में प्रारम्भ की गई, प्रारम्भ होने में ही बहुत अधिक समय लग गया, प्रारम्भ होने के बाद इसकी गति बहुत मन्द रही, देश के बहुत कम क्षेत्रों में इसका विकास हो सका। जहाँ हुआ भी वहाँ केवल नाम-मात्र के लिए हुआ तथा अभी भी इसकी स्थिति सन्तोष-जनक नहीं कही जा सकती है। सन् १९५० के बाद इसके कारणों पर ठोस रीति से विचार किया गया तथा अनिवार्य शिक्षा को विधिवत रूप से कार्यान्वित करने के उपाय किये गए।

अनिवार्य शिक्षा के विकास के बाधक कारण

भारत में अनिवार्य शिक्षा के विकास के कारणों पर हम भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा प्रशासनात्मक आदि दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं।

भौतिक कारण भारत गाँवों का देश है। देश की ग्रामीण परिस्थितियाँ ही अनिवार्य शिक्षा के विकास में बड़ी भारी कठिनाई रही हैं। गाँवों में आवागमन के साधनों की कमी, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि की सुविधाओं का अभाव रहता है। अतः शालाओं, शिक्षकों, निरीक्षण आदि की सुविधाएँ न होने के कारण गाँवों में शिक्षा का प्रसार कम ही होता है।

इसके साथ-साथ हमारे देश में पहाड़ी तथा जंगल वाले क्षेत्र अधिक हैं। यहाँ का जीवन कठिन, गाँव छोटे तथा दूर-दूर बसे होते हैं। यहाँ के लोगों को अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यहाँ-वहाँ भटकना भी पड़ता है। आबहवा, पानी आदि के अनुकूल न होने से बीमारियाँ भी बहुत

होती है अतः ऐसे स्थानों में शालाएँ खोलना बहुत कठिन ही होता है। शिक्षक भी ऐसे स्थानों में रहना पसन्द नहीं करते हैं।

गाँवों में बीमारी अधिक होती है। मलेरिया, विषम ज्वर आदि तो यहाँ होता ही रहता है। देश में अनेक स्थान तो बुरी अवस्था के लिए सरकार द्वारा भी मान्य किये गए हैं। ऐसे क्षेत्रों में शिक्षा का प्रसार तो बहुत ही कठिन कार्य होता है।

उपरोक्त कारण देश के प्रत्येक प्रान्त में थोड़े-बहुत अंश में पाये जाते हैं। यह दूसरी बात है कि देश के पहाड़ी तथा जंगली क्षेत्रों वाले प्रदेशों, जैसे आसाम उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि में ये कठिनाइयाँ अधिक हैं। गंगा, यमुना के मैदान, बिहार आदि में ये बहुत ही कम हैं।

सामाजिक कारण

भारत में वर्ग-भेद तथा जाति-पाँति का भेद बहुत अधिक है। अनिवार्य शिक्षा तो ऐसे समाज में शीघ्रता से विकसित तथा प्रसारित की जा सकती है जिसमें वर्गभेद न हो। अनिवार्य शिक्षा में ऊँच नीच का भेद-भाव काम नहीं करता क्योंकि सभी बालक शाला में आते तथा शिक्षा पाते हैं। इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा एक लोकतन्त्रीय प्रक्रिया हो जाती है। हमारे भारतीय समाज में, जो अनेक वर्गों तथा जातियों के सदस्यों के मेल से बना है, इस प्रकार की एकता अभी तक नहीं आई है। विज्ञान के ज्ञान तथा पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क ने हमारे देश के वर्गभेद को कम अवश्य किया है। महात्मा गाँधी के हरिजनों तथा महिलाओं के उत्थान के प्रयत्नों के फलस्वरूप भी परिस्थिति में अन्तर आया तथा प्रचुर सुधार हुआ है। फिर भी भारतीय महिलाओं की बुरी दशा अनिवार्य शिक्षा के विकास में बड़ी बाधा रही है। बाल विवाह का प्रचार, विधवा विवाह पर रोक, पर्दा आदि महिलाओं की शिक्षा के मार्ग के रोड़े थे। हम यह जानते हैं कि महिला शिक्षा ही कुटुम्ब की शिक्षा है, क्योंकि बच्चों का लालन-पालन महिलाएँ ही करती हैं। अतः महिला शिक्षा के अभाव में समाज में उचित शिक्षा प्रसार सम्भव ही न हो सका।

हरिजन समस्या भी देश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में बाधक रही है। हरिजन गरीब, गन्दी बस्तियों में रहने वाले तथा समाज के अन्य लोगों

के द्वारा न छुए जाने योग्य ही माने जाते रहे हैं। समाज में हरिजन उच्च वर्ग की कृपा पर ही आश्रित रहते आये हैं। आज महात्मा गाँधी तथा अन्य नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप इनकी परिस्थिति पहिले की अपेक्षा अधिक अच्छी है, पर फिर भी इनकी शिक्षा-व्यवस्था इनकी गरीबी आदि के कारण आज भी समस्या ही बनी हुई है।

हरिजनों के समान आदिम तथा जंगली जातियों की स्थिति भी अच्छी नहीं है। इनका जीवन सरल तथा अविकसित है। शिक्षा की दृष्टि से ये बहुत ही अधिक पिछड़े हुए हैं। इनकी भाषा भी अलग होती है तथा ये किसी भी प्रकार के सुधार के लिए तैयार नहीं होते हैं। इनकी शिक्षा-समस्या भी भारतीय अनिवार्य शिक्षा के विकास में बाधक रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय सामाजिक परिस्थितियाँ, विशेषतः भारतीय समाज का वर्ग-भेद, भारतीय महिलाओं की हीन दशा, हरिजनों की निम्न परिस्थिति तथा आदिम और जंगली जातियों का अत्यन्त पिछड़ा एवं अविकसित होना अनिवार्य-शिक्षा के समुचित विकास में बाधक रहे हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से अनिवार्य शिक्षा के विकास में भारतीय भाषाओं तथा बोलियों की विपुलता एवं विविधता एक महत्वपूर्ण बाधा के रूप में रही है।

सांस्कृतिक कारण

अनेक स्थानों की बोलियों का न तो कोई लिखित साहित्य है और न लिपि। अतः ऐसी परिस्थिति में इन लोगों को किस भाषा के माध्यम से शिक्षित किया जावे यह बड़ी कठिन समस्या है। इन क्षेत्रों की बोलियों की लिपि तथा साहित्य का विकास कर के शिक्षा देना भी कोई साधारण काम नहीं है।

यह तो अविकसित बोलियों तथा भाषाओं के सम्बन्ध की कठिनाई हुई। विकसित भाषाओं की अधिकता तथा एक ही क्षेत्र में दो या अधिक भाषाओं के उपयोग के कारण भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। इन द्विभाषी या बहुभाषी क्षेत्रों में अल्पसंख्यकों की भाषा के माध्यम से शिक्षा देना आर्थिक दृष्टि से बड़ा मँहगा पड़ता है, क्योंकि इनकी संख्या काफी कम होती है।

भाषाओं तथा बोलियों की अधिकता के साथ-साथ भारतीय जनता का अज्ञान भी अनिवार्य शिक्षा के विकास में बाधक रहा है। हम यह जानते हैं कि

शिक्षित अभिभावक अशिक्षित अभिभावक की अपेक्षा अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के लिए अधिक तत्पर तथा उत्सुक होता है। आज भी अधिकतर भारतीय जनता अशिक्षित तथा अज्ञ है। अतः स्वाभाविक था कि अनिवार्य शिक्षा के मार्ग में ये एक बड़े रोड़े के रूप में रहते।

धन की कमी भारतीय अनिवार्य शिक्षा के विकास में सब से बड़ी तथा अनुल्लंघनीय बाधा रही है। यह धन की कमी दोतरफा है। एक तो शासन के पास धन की कमी रही तथा दूसरे अभिभावक गरीब रहे। यदि शासन धन दे भी सकता तो शायद भारतीय अभिभावक गरीबी के कारण अपने बच्चों को स्कूल न भेज सकता। अंग्रेजी शासन काल में तो भारतीयों की गरीबी और भी अधिक बढ़ गई थी। इसकी वृद्धि के कारणों में जनसंख्या की वृद्धि, देशी उद्योगों का ह्रास, अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का शोषण, कृषि की दशा का ठीक न होना प्रमुख थे।

आर्थिक कारण

भारतीय जनता के पास धन की कमी के कारण स्थानीय संस्थाएँ भी जनता पर अनिवार्य शिक्षा के लिए कर लगाने की हिम्मत नहीं करती थीं। धन की कमी के कारण शासन भी अनिवार्य शिक्षा की अनेक योजनाओं को स्वीकार नहीं करता था। अनिवार्य शिक्षा का तात्पर्य यह है कि उस क्षेत्र के सभी बालकों को शाला में स्थान मिले। पर देश की जनसंख्या की वृद्धि के कारण जहाँ अनिवार्य शिक्षा लागू की भी गई वहाँ इतनी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं की जा सकीं। अनिवार्य शिक्षा में केवल प्रारम्भिक व्यय की पूर्ति से ही काम नहीं चल सकता है; क्योंकि भविष्य में बालकों की संख्या की वृद्धि होने पर स्थान तथा शिक्षकों की समुचित वृद्धि भी आवश्यक होती है। यदि इसकी व्यवस्था न की जाये तो अनिवार्यता पर बल न देने के कारण अनिवार्य शिक्षा ऐच्छिक शिक्षा ही रह जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्थिक कठिनाइयाँ अनिवार्य शिक्षा के विकास में अनेक प्रकार से बाधक सिद्ध होती हैं। सन् १९५० में हमारे संविधान में १० वर्षों के भीतर १४ वर्ष की आयु तक बच्चों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था का निश्चय किया गया था। पर प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिक शिक्षा के विकास के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि धन के

अभाव के कारण ही सभी को ६ से १० वर्ष तक शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं की जा सकी तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक भी शायद यह सम्भव न हो सकेगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से हमारी भारतीय राजनैतिक परिस्थिति बदल गई है पर इसके पूर्व अंग्रेज सरकार इंगलैंड की सरकार के प्रति उत्तरदायी थी। अतः ऐसी विदेशी सरकार से तो देश की भलाई तथा हित के लिए अनिवार्य शिक्षा को महत्त्व देने की बात केवल दुराशा थी। पर आज भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के राजनैतिक दल अनिवार्य शिक्षा को प्राथमिकता नहीं देते हैं। यही कारण कि अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न दबता ही जा रहा है।

राजनैतिक कारण

अनिवार्य शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शाला जाने योग्य बालकों की गणना की जाये, शिक्षा के लिए शालाओं की व्यवस्था की जाये तथा उन्हें अनिवार्य शिक्षा की अवधि तक शाला में रखने की व्यवस्था हो। इन सब कार्यों से अनेक प्रकार की प्रशासकीय समस्याएँ सम्बन्धित हैं, जैसे शिक्षा का स्थान, शिक्षा के संगठन तथा व्यवस्था में प्राथमिक शिक्षा का स्थान, शिक्षा-व्यवस्था की संस्थाएँ, अनिवार्यता लागू करने की विधियाँ आदि।

प्रशासनात्मक कारण

शालाओं की उचित व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि शैक्षणिक सर्वेक्षण किया जाये तथा इस सर्वेक्षण के आधार पर उचित स्थानों पर शालाओं को खोला जाये। अंग्रेज सरकार ने तो सन् १९११ में ही इस प्रकार के सर्वेक्षण की उपयोगिता प्रदर्शित की थी, पर अभी दो वर्ष ही हुए राज्यों में इस प्रकार का सर्वेक्षण किया जा सका, जिसके आधार पर अनिवार्य शिक्षा योजनाएँ बनाई गई हैं।

सम्पूर्ण शासन के संगठन में शिक्षा के स्थान तथा शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा के स्थान का प्रश्न भी शासन से ही सम्बन्धित है। अंग्रेज सरकार तो एक विदेशी सरकार थी तथा स्वाभाविक था कि वह पुलिस, न्याय, राजस्व विभाग को अधिक महत्त्व देती। सड़कों, यातायात आदि के लिए भी वह अपने शासन को कायम रखने के लिए ही अधिक महत्त्व देती थी। इसके बाद कहीं शिक्षा का

प्रश्न आता था। पर वर्तमान जनता की सरकार भी शिक्षा को प्राथमिकता नहीं देती है। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के प्रावधानों पर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि कृषि, उद्योग आदि के बाद ही शिक्षा का नम्बर आता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में तो शिक्षा पर कुल बजट का केवल ८ प्रतिशत खर्च करने का ही प्रावधान था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इसे अवश्य बढ़ाया गया है।

शिक्षा के अन्तर्गत जब प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि प्राथमिक शिक्षा पर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा से कम व्यय किया जाता है। इससे पता चलता है कि शिक्षा के मद में ही प्राथमिक शिक्षा को कम महत्त्वपूर्ण माना जाता है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर किये जाने वाले कुल व्यय का लगभग ५१ प्रतिशत व्यय अवश्य ही प्राथमिक शिक्षा पर किये जाने का प्रावधान रखा जा रहा है।

अभी हमारे यहाँ प्राथमिक शिक्षा स्वायत्त शासन-सम्बन्धी संस्थाओं के अधिकार में है। इन संस्थाओं के आय के साधन सीमित हैं तथा अधिकांश ये शिक्षा के लिए सरकारी आर्थिक सहायता पर ही अवलम्बित रहती हैं। ऐसी दशा में इनसे अनिवार्य शिक्षा पर समुचित ध्यान देने की आशा करना व्यर्थ है। यदि हम वास्तव में इन स्वायत्त संस्थाओं से अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी ठोस कार्य करवाना चाहते हैं तब यह आवश्यक है कि इनकी आय के साधनों में समुचित वृद्धि की जाये। आय के अभाव में अनिवार्य शिक्षा का कार्य-भार उठाने में स्वायत्त संस्थाएँ असमर्थ ही रहेंगी।

अनिवार्य शिक्षा के लिए बहुत अधिक संख्या में प्रशिक्षित शिक्षक आवश्यक होंगे। इनके प्रशिक्षण तथा तनख्वाह आदि की व्यवस्था भी शासन से ही सम्बन्धित है। शाला-भवन के निर्माण का प्रश्न भी केवल निजी प्रयासों से हल नहीं हो सकता है।

शालाओं का निरीक्षण, उचित पाठ्यक्रम, पुस्तकें आदि अनेक बातों का सम्बन्ध शासन से ही अधिक है। अतः जब तक शासन इनके सम्बन्ध में उचित तथा ठोस कदम नहीं उठाता तब तक अनिवार्य शिक्षा की समुचित प्रगति नहीं हो सकती।

अभाव के कारण ही सभी को ६ से १० वर्ष तक शिक्षा देने की व्यवस्था नहीं की जा सकी तथा तृतीय पन्चवर्षीय योजना काल के अन्त तक भी शायद यह सम्भव न हो सकेगा ।

राजनैतिक कारण

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से हमारी भारतीय राजनैतिक परिस्थिति बदल गई है पर इसके पूर्व अंग्रेज सरकार इंगलैंड की सरकार के प्रति उत्तरदायी थी । अतः ऐसी विदेशी सरकार से तो देश की भलाई तथा हित के लिए अनिवार्य शिक्षा को महत्त्व देने की बात केवल दुराशा थी । पर आज भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के राजनैतिक दल अनिवार्य शिक्षा को प्राथमिकता नहीं देते हैं । यही कारण कि अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न दबता ही जा रहा है ।

प्रशासनात्मक कारण

अनिवार्य शिक्षा के लिए यह आवश्यक है कि शाला जाने योग्य बालकों की गणना की जाये, शिक्षा के लिए शालाओं की व्यवस्था की जाये तथा उन्हें अनिवार्य शिक्षा की अवधि तक शाला में रखने की व्यवस्था हो । इन सब कार्यों से अनेक प्रकार की प्रशासनीय समस्याएँ सम्बन्धित हैं, जैसे शिक्षा का स्थान, शिक्षा के संगठन तथा व्यवस्था में प्राथमिक शिक्षा का स्थान, शिक्षा-व्यवस्था की समस्याएँ, अनिवार्यता लागू करने की विधियाँ आदि ।

शालाओं की उचित व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि शैक्षणिक सर्वेक्षण किया जाये तथा इस सर्वेक्षण के आधार पर उचित स्थानों पर शालाओं को खोला जाये । अंग्रेज सरकार ने तो सन् १९११ में ही इस प्रकार के सर्वेक्षण की उपयोगिता प्रदर्शित की थी, पर अभी दो वर्ष ही हुए राज्यों में इस प्रकार का सर्वेक्षण किया जा सका, जिसके आधार पर अनिवार्य शिक्षा योजनाएँ बनाई गई हैं ।

सम्पूर्ण शासन के संगठन में शिक्षा के स्थान तथा शिक्षा में प्राथमिक शिक्षा के स्थान का प्रश्न भी शासन से ही सम्बन्धित है । अंग्रेज सरकार तो एक विदेशी सरकार थी तथा स्वाभाविक था कि वह पुलिस, न्याय, राजस्व विभाग को अधिक महत्त्व देती । सड़कों, यातायात आदि के लिए भी वह अपने शासन को कायम रखने के लिए ही अधिक महत्त्व देती थी । इसके बाद यहाँ शिक्षा का

प्रश्न आता था। पर वर्तमान जनता की सरकार भी शिक्षा को प्राथमिकता नहीं देती है। प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के प्रावधानों पर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि कृषि, उद्योग आदि के बाद ही शिक्षा का नम्बर आता है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में तो शिक्षा पर कुल बजट का केवल ८ प्रतिशत खर्च करने का ही प्रावधान था। तृतीय पंचवर्षीय योजना में इसे अवश्य बढ़ाया गया है।

शिक्षा के अन्तर्गत जब प्राथमिक शिक्षा के स्थान पर हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि प्राथमिक शिक्षा पर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा से कम व्यय किया जाता है। इससे पता चलता है कि शिक्षा के मद में ही प्राथमिक शिक्षा को कम महत्त्वपूर्ण माना जाता है। तृतीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा पर किये जाने वाले कुल व्यय का लगभग ५१ प्रतिशत व्यय अवश्य ही प्राथमिक शिक्षा पर किये जाने का प्रावधान रखा जा रहा है।

अभी हमारे यहाँ प्राथमिक शिक्षा स्वायत्त शासन-सम्बन्धी संस्थाओं के अधिकार में है। इन संस्थाओं के आय के साधन सीमित हैं तथा अधिकांश ये शिक्षा के लिए सरकारी आर्थिक सहायता पर ही अवलम्बित रहती हैं। ऐसी दशा में इनसे अनिवार्य शिक्षा पर समुचित ध्यान देने की आशा करना व्यर्थ है। यदि हम वास्तव में इन स्वायत्त संस्थाओं से अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी ठोस कार्य करवाना चाहते हैं तब यह आवश्यक है कि इनकी आय के साधनों में समुचित वृद्धि की जाये। आय के अभाव में अनिवार्य शिक्षा का कार्य-भार उठाने में स्वायत्त संस्थाएँ असमर्थ ही रहेंगी।

अनिवार्य शिक्षा के लिए बहुत अधिक संख्या में प्रशिक्षित शिक्षक आवश्यक होंगे। इनके प्रशिक्षण तथा तनख्वाह आदि की व्यवस्था भी शासन से ही सम्बन्धित है। शाला-भवन के निर्माण का प्रश्न भी केवल निजी प्रयासों से हल नहीं हो सकता है।

शालाओं का निरीक्षण, उचित पाठ्यक्रम, पुस्तकें आदि अनेक बातों का सम्बन्ध शासन से ही अधिक है। अतः जब तक शासन इनके सम्बन्ध में उचित तथा ठोस कदम नहीं उठाता तब तक अनिवार्य शिक्षा की समुचित प्रगति नहीं हो सकती।

इस प्रकार अनिवार्य शिक्षा के विकास में अनेक प्रकार की बाधाएँ तथा कठिनाइयाँ हैं जिनका उचित निराकरण आवश्यक है। जब तक इनकी ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जायेगा इस दिशा में ठीक प्रगति न हो सकेगी।

अनिवार्य शिक्षा के विकास के लिए सुझाव

भारतीय शिक्षा में अनिवार्य शिक्षा की समस्या सबसे कठिन तथा बृहत् है। अर्थाभाव ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कठिनाई है। यदि यह कठिनाई हल हो जाये तो अन्य कठिनाइयाँ धीरे-धीरे हल हो जायेंगी। अनिवार्य शिक्षा की विकास-सम्बन्धी कठिनाइयों का हल निम्न उपायों द्वारा सम्भव है :

सरकार द्वारा धन जुटाने के उपाय

सार्जेंट रिपोर्ट में २०० करोड़ रुपये भारत की तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के हेतु लगने का अनुमान लगाया गया था। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। कीमतें बहुत अधिक बढ़ गई हैं। शिक्षकों को वेतन भी अधिक देना आवश्यक हो गया है। श्री देसाई ने अपनी पुस्तक Compulsory Education in India में अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी खर्च के निम्न आनुमानिक आँकड़े प्रस्तुत किये हैं :

आयु	बालकों की संख्या	प्रति बालक खर्च	कुल खर्च
६ से ११ वर्ष	६ करोड़	५० रुपया	३०० करोड़ रुपये
११ से १४ वर्ष	२ करोड़	५० रुपया	१०० करोड़ रुपये
६ से १४ वर्ष	८ करोड़	५० रुपया	४०० करोड़ रुपये

४०० करोड़ रुपये वार्षिक केवल अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए जुटाना देश की क्षमता के बाहर है। फिर भी निम्न उपायों से धन की व्यवस्था बहुत कुछ अंशों में हो सकेगी :

(१) केन्द्र अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी अपनी जिम्मेदारी को समझे तथा अनिवार्य रूप से राज्यों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पर होने वाले व्यय का ३० प्रतिशत खर्च वहन करे।

(२) राज्यों में अभी विभिन्न परिमाण में शिक्षा, विशेषतः प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाता है। अन्दमान-निकोबार में ५४५.२ रुपये

प्रति बालक खर्च होता है तो बिहार में ०·८१७ रुपये प्रति बालक। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार सभी राज्यों का प्रति बालक औसत खर्च १·८ रुपया आता है। राज्य की आमदनी का अजमेर में २६ प्रतिशत से लेकर अन्दमान में १·३ प्रतिशत व्यय किया जाता है। इसका औसत १४·८ प्रतिशत ही आता है। प्राथमिक शिक्षा पर व्यय भी विभिन्न राज्यों में विभिन्न परिमाण में किया जाता है। बम्बई ६६·५ प्रतिशत व्यय करता है। शिक्षा को मद के प्रावधान में से प्राथमिक शिक्षा पर किये जाने वाले व्यय का सम्पूर्ण देश का औसत ५०·२ प्रतिशत आता है। यदि इस प्रतिशत को बढ़ा दिया जाये तो धन की कमी कुछ अंशों में तो दूर होगी ही। श्री देसाई ने सुझाया है कि प्रत्येक राज्य अपने कुल राजस्व का २० प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करे तथा शिक्षा के लिए निश्चित की गई रकम का ७५ प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाये। मेरी राय में यह प्रत्येक राज्य के लिए सम्भव होगा तथा इसमें कोई विशेष कठिनाई उपस्थित न होगी। इससे प्राथमिक-शिक्षा के लिए काफी धन मिलने लगेगा।

(३) स्वायत्त संस्थाओं के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि अनेक क्षेत्रों की ये संस्थाएँ शिक्षा पर बिल्कुल ही व्यय नहीं करती क्योंकि ये 'ब' तथा 'स' श्रेणी के राज्यों में पहले थीं तथा इनमें सभी शालाएँ सरकारी होती थीं। अतः यह आवश्यक है कि स्वायत्त शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में भी यह निश्चित कर दिया जाये कि उन्हें अपनी आमदनी का कम-से-कम कितना भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करना होगा। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी आमदनी के साधनों को बढ़ाया जाये। यह किये बिना उनसे यह आशा करना ठीक नहीं है।

(४) फीस से भी थोड़ी-बहुत आमदनी की जा सकती है। पर सरकारी प्राथमिक शालाओं में कोई फीस न ली जाये। निजी प्रयासों से जो प्राथमिक शालाएँ चल रही हैं उनमें फीस ली जा सकती है तथा अनेक पालक ऐसे मिल सकते हैं जो फीस देकर अपने बच्चों को पढ़ायेंगे।

इसके साथ-साथ आयु के अनुसार शुल्क माफ न करके कक्षा के अनुसार शुल्क माफ की जानी चाहिए, जैसे अनिवार्य शिक्षा पहली तथा दूसरी तक ही है तो ७ वर्ष तक की आयु के बालकों का शुल्क माफ न करके पहली तथा दूसरी में पढ़ने वाले बालकों का शुल्क ही माफ रहे।

उपर्युक्त सुझाव केन्द्र, राज्य, स्वायत्त संस्थाओं तथा शुल्क आदि के द्वारा धन की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में हुए, पर कुछ अन्य उपाय भी ऐसे किये जा सकते हैं जिनसे अनिवार्य शिक्षा पर धन कम व्यय हो। इस सम्बन्ध में श्री पहलकर महोदय ने जो सुझाव दिये हैं उनमें से निम्न मुख्य हैं :

१. अनिवार्य शिक्षा की अवधि ७ वर्ष की न रखकर केवल ४ वर्ष की ही रखी जाये तथा जैसे-जैसे देश की आर्थिक स्थिति सुधरती जाये अनिवार्य शिक्षा की अवधि बढ़ाई जाये।

२. अनिवार्य शिक्षा ६ वर्ष से प्रारम्भ न करके ७ वर्ष की आयु से प्रारम्भ की जाये। क्योंकि इस आयु में भारतीय बालक बीमारियाँ आदि को जल्दी न पकड़ता तथा स्वस्थ रह सकता है। भारतीय वर्णमाला तथा प्राचीन शिक्षण-पद्धतियों के कारण इस आयु में वह ठीक से पढ़ भी सकेगा। कनाडा, आस्ट्रेलिया, फिनलैण्ड, ग्रीस, तुर्की आदि अनेक देशों में अनिवार्य शिक्षा की निम्नतम आयु ७ वर्ष ही है। अतः हमारे देश में भी इसे मान्य किया जा सकता है।

३. एक शिक्षक के पास ३० बालक ही न रखकर ५० या ६० बालक रखे जायं। अन्य देशों में निम्न संख्या में प्रति शिक्षक बालक रखे जाते हैं :

देश का नाम		प्रति शिक्षक अधिक-से-अधिक बालकों की संख्या
इंगलैण्ड	(१८९४ के बाद)	६०
फ्रांस	(१९०६)	५०
जर्मनी	(१८९६)	८०
जर्मनी	(१९०१)	७०

जर्मनी	(१९२३)	६०
हंगरी	(१९१०)	६०
इटली	(१९३२)	६०
जेकोस्लोवाकिया	(१९२४)	८०
जापान	(१९१५)	७० (साधारण प्राथमिक शाला)
जापान	(१९२३)	६० (उच्च प्राथमिक शाला)

(इसके अतिरिक्त अमेरिका में अनेक विद्वानों ने खोज करके यह सिद्ध किया है कि ५० से अधिक बालक-बालिका वाली कक्षा में सहयोग, भाई-चारे की भावना आदि सामाजिक गुणों का विकास कम बालकों की कक्षा के बालक-बालिकाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा में होता है। साथ-ही-साथ वे पढ़ाई में भी पिछड़े नहीं रहते हैं। इस दृष्टि से यदि भारत में भी प्रति शिक्षक ६० बालकों के पढ़ाने की व्यवस्था की जाय तो कम शिक्षक अधिक बालकों को पढ़ा सकेंगे। फलस्वरूप अनिवार्य शिक्षा में शिक्षकों पर किये जानेवाले व्यय का आधा ही आवश्यक होगा।)

४. श्री जे० पी० नायक का सुझाव है कि पढ़ाई के घण्टों को घटाकर केवल तीन ही रखा जाये तथा इन्हें स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार दिन में कभी भी रखा जा सकता है। इससे गरीब पालक अपने बच्चों को शाला भेज सकेंगे तथा उनका अधिक नुकसान भी नहीं होगा। प्राथमिक शिक्षा स्तर के लिए तीन घण्टे का शिक्षण समुचित है। इससे एक शिक्षकवाली शालाओं की समस्या भी हल हो जायेगी। अभी एक शिक्षकवाली शालाओं में एक शिक्षक को ५ कक्षाएँ पढ़ाना पड़ती हैं तथा वह प्रति कक्षा मुश्किल से १ घण्टा दे पाता है। यदि शाला दो बार लगाई जावे तथा तीन घण्टे ही पढ़ाई की जाये तो प्रति कक्षा अधिक समय दिया जा सकेगा तथा बालकों का समय व्यर्थ नष्ट न होगा। इससे शालाओं का अपव्यय भी कम होगा क्योंकि अनेक गरीब पालक अपने बच्चों को शाला से इसलिए निकाल लेते हैं कि वे पूर्ण समय के लिए अधिक वर्षों तक बालक को शिक्षा के लिए घर के काम से छुट्टी

नहीं दे सकते हैं। इस प्रकार इस विधि से भी धन का व्यय कम किया जा सकता है।

५. श्री राजगोपालाचार्य ने भी अपना एक मौलिक और अनोखा सुझाव इस सम्बन्ध में दिया है। उनका कथन है कि शाला तो पूरे समय लगाई जाये पर हफ्ते में केवल तीन दिन ही लगाई जाये, बाकी ४ दिन बालक अपने घरों में माँ-बाप के काम में हाथ बटायें। इससे दो बार में दूने बालक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे तथा एक दिन बीच में छुट्टी का भी मिल जायेगा।

६. गाँधीजी ने उत्पादक-उद्योग के माध्यम से शिक्षा का सुझाव शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने की दृष्टि से दिया है। अब तो यह राष्ट्रीय शिक्षा भी निरूपित कर दी गई है। यहाँ इसके स्वावलम्बी पक्ष पर विस्तार से चर्चा करना तो सम्भव नहीं है पर प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि बिहार में बुनियादी शिक्षा ने ५५ प्रतिशत स्वावलम्बन प्राप्त किया है। कहीं-कहीं यह अधिक भी हुआ है। यदि इतना स्वावलम्बन न भी हो तो कम-से-कम ३० प्रतिशत तो हो ही सकेगा। इस दृष्टि से भी बुनियादी शिक्षा अनिवार्य शिक्षा-सम्बन्धी आर्थिक कठिनाई को हल कर सकेगी।

७. इन सुझावों के सिवाय अनेक विद्वान दोहरी पाली में कक्षाओं को लगाने का सुझाव देते हैं। इससे इमारत, फर्नीचर आदि का खर्च बच सकता है। शहरों में तो आजकल यह आम रिवाज-सा ही हो गया है।

भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक कठिनाइयों का हल

१. भौतिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए आवागमन के साधनों का विकास, गाँवों के जीवन को स्वस्थ और मनोरंजक बनाने, वहाँ अस्पताल, डाकघर, प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्र आदि खोले जाने की व्यवस्था होना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं होगा शिक्षक गाँवों में रहना पसन्द नहीं करेंगे तथा अनेक गाँवों में उपयुक्त शिक्षा-व्यवस्था सम्भव भी नहीं होगी। यदि शाला खुल ही गई तो बालक बीमारी आदि के

कारण शाला में कम दिन आयेंगे तथा अनिवार्यता लागू करने में कठिनाई होगी। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत अनेक विकास कार्य चल रहे हैं तथा आशा है कि ये कठिनाइयाँ शीघ्र ही दूर हो सकेंगी।

२. सामाजिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए तो सामाजिक ढाँचे में ही आमूल परिवर्तन करना आवश्यक है। बुनियादी शिक्षा समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन तो अवश्य लायेगी पर अभी तो उसके प्रसार का ही प्रश्न है। पंडित जवाहरलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप अभी कुछ वर्ष हुए हिन्दू कोड बिल बड़ी कठिनाई से पास हो सका है। इस बिल ने समाज में महिलाओं की स्थिति, अधिकार आदि के सम्बन्ध में बड़े अनुकूल क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। इससे महिलाओं की दशा सुधारने में बड़ा योग मिलेगा।

बाल-विवाह के लिए भी 'शारदा एक्ट' चालू है, पर उसका और अधिक कड़ाई से पालन किया जाना आवश्यक है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद संसार के अन्य देशों के साथ अधिकाधिक सम्पर्क के कारण भारतीय दकियानूसी दृष्टिकोण स्वस्थ रूप में विकसित हो रहा है।

हरिजन-उद्धार, आदिम तथा जंगली जातियों के कल्याण के प्रयत्न भी अधिक-से-अधिक किये जा रहे हैं।

अतः इन सब सुधारों से हम यह आशा कर सकते हैं कि भारतीय समाज का पुनरुत्थान अवश्य होगा, पर आवश्यकता इस बात की है कि प्रयत्न निश्चित दिशा में किये जाने चाहिए; क्योंकि किसी कानून को बनाकर ही सामाजिक उत्थान का कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

३. देश के राजनीतिक दलों को अनिवार्य-सामाजिक शिक्षा के विकास को अपना प्रमुख कर्तव्य मानना चाहिए। कम-से-कम सत्ता वाले दल को तो ऐसा मानकर ही चलना चाहिए।

प्रशासन तथा संगठन सम्बन्धी कठिनाइयों का हल

१. सबसे पहले तो शैक्षणिक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए जिससे यह पता

लग सके कि किस क्षेत्र में शालाएँ कम हैं तथा कहाँ किस प्रकार शालाएँ खोली जानी चाहिए। अभी दो-तीन वर्ष हुए शैक्षणिक सर्वेक्षण किया गया था तथा उसके आधार पर अनिवार्य शिक्षा की योजना भी तैयार की गई थी, पर इस दिशा में कार्य होता ही रहना चाहिए, जिससे कि रास्ते की कठिनाइयाँ दूर होती रहें। सर्वेक्षण-सम्बन्धी शोधकार्य भी किया जाना उपयोगी होगा; इससे सर्वेक्षण की कमियों का पता चल सकेगा।

२. अनिवार्य शिक्षा को क्रमशः लागू किया जाये जैसे ६ से ७ वर्ष की आयु तक सभी स्थानों में तथा बाद में धीरे-धीरे अवधि बढ़ाई जाये। सार्जेंट कुछ क्षेत्रों में सम्पूर्ण अवधि तक अनिवार्य शिक्षा लागू की जाये। सार्जेंट आयोग के प्रतिवेदन में यही सुझाव दिया गया है। पर इसमें क्षेत्रों के चुनाव में बड़ी कठिनाई होती है। श्री जे० पी० नायक के निम्न चार सुझाव अनिवार्य शिक्षा को प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में हैं :

(क) ऐसे क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया जाये जहाँ कोई शालाएँ नहीं हैं तथा वहाँ शालाएँ खोलने की योजना बनाई जाये। प्रतिवर्ष आवश्यक शालाओं की २० प्रतिशत शालाएँ खोली जावें।

(ख) जिन क्षेत्रों की शालाओं में जनसंख्या के ८ से १० प्रतिशत बालकों की हाजिरी नहीं है वहाँ जनता के द्वारा शिक्षा में रुचि लेने के लिए प्रचार कार्य किया जाना चाहिए। १० वर्षों में इन क्षेत्रों में जनसंख्या का कम-से-कम १० प्रतिशत भाग शालाओं में पढ़ने के लिए आने लगना चाहिए।

(ग) जिन क्षेत्रों में जनसंख्या का ८ से १० प्रतिशत भाग हाजिर होता है वहाँ ४ या ५ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करना चाहिए।

(घ) जहाँ ४ या ५ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा चल रही है तथा कार्य अच्छा है वहाँ ७ या ८ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा अवधि करना चाहिए।

यह चार सूत्रीय योजना लाभदायक है। इससे पिछड़े क्षेत्रों में शालाएँ हो जायेंगी तथा अनिवार्य शिक्षा का कार्य भी आगे बढ़ता जायेगा। इसके लिए एकदम अधिक धन की आवश्यकता भी नहीं होगी।

३. शिक्षकों की कमी के लिए अधिक योग्य शिक्षकों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसे भी शिक्षक मिलें कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए तथा धीरे-धीरे उनके स्तर-सुधार के प्रयत्न होते रहने चाहिए।
४. शालाओं की इमारतों की व्यवस्था के लिए निम्न उपाय काम में लाये जा सकते हैं :
   (अ) शाला भवन बनाने के लिए जनता से कर्ज लिया जाये।
   (आ) स्थानीय उत्साह तथा उदारता का उचित उपयोग करके इमारत तैयार कराई जाये।
   (इ) सस्ते तथा उपयोगी प्रकार की इमारतें बनवाई जायें।
   (ई) दुहरी पाली में शालाएँ लगाई जायें।
   (उ) प्रारम्भ में ग्राम पञ्चायत भवन, मन्दिर आदि में ही कुछ समय तक शालाएँ लगाई जायें।
५. जनता शिक्षा में रुचि लेने लगे, इसके लिए समाज-शिक्षा की उचित व्यवस्था की जाये। अमेरिका में प्रयोगों तथा शोध-कार्य द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 'प्रौढ़ शिक्षा से शाला में बालकों की हाजिरी का सीधा-सम्बन्ध है।' अतः प्रौढ़ या समाज-शिक्षा की उचित व्यवस्था से अनिवार्य शिक्षा का कार्य हल्का होगा।
६. प्रारम्भ में केवल बालकों के लिए ही शिक्षा अनिवार्य की जाये तथा बाद में बालिकाओं पर भी इसे लागू किया जाये या अनिवार्यता अवस्था के अनुसार निर्धारित की जाये।
७. बालकों की शाला में हाजिरी के सुधार के प्रयत्न किये जायें। गैरहाजिरी के आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा-व्यवस्था का अरुचिकर होना, पालकों की उपेक्षा आदि कारण ही हो सकते हैं। इन कारणों का पता लगाकर इन्हें दूर करने के उपाय किये जाने चाहिए।
८. इसके साथ-साथ अनिवार्य शिक्षा-क्षेत्र के गैरहाजिर बालकों के प्रति कार्यवाही करने का तरीका भी सरल तथा सुगम बनाया जाना चाहिए, जिससे शीघ्र तथा उचित कार्यवाही शिक्षक या गाँव के लोग कर सकें।

इन उपरोक्त सुझावों के आधार पर भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का उचित विकास किया जा सकता है। आज वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि सभी को अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा दी जा सके। तभी हमारा लोकतन्त्र टिक सकेगा। अतः स्तर तथा गुणात्मक उन्नति का ध्यान रखकर सभी को शिक्षित करने का ध्यान अधिक होना चाहिए। धीरे-धीरे स्तर तो बन ही जायेगा। अनिवार्य शिक्षा हमारे भारतीय जीवन के विकास की नींव है, यह हमारे लोकतन्त्र की सुरक्षा की दवा है, यह हमारे वर्ग-भेद को मिटाने वाली अग्नि है। अतः हमें हर प्रकार कोशिश करके इसे साकार बनाना चाहिए। सभी कठिनाइयों के हल के लिए यदि हम बैठे रहेंगे तो यह कार्य हो ही नहीं सकेगा। अतः हमें कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। आज दिखाई देने वाली कठिनाइयों में से अनेक तो आगे चलकर उपस्थित ही नहीं होंगी।

मध्यप्रदेश में अनिवार्य शिक्षा

सम्पूर्ण देश में तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक देश के ६ से ११ वर्ष की आयु तक के बालक-बालिकाओं को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की सुविधाएँ जुटाने की व्यवस्था के प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस दृष्टि से मध्यप्रान्त में भी अनिवार्य शिक्षा की व्यापकता आँकने तथा लक्ष्यपूर्ति के प्रयास किये जा रहे हैं।

सन १९५६ के पूर्व राज्य के महाकोशल क्षेत्र में १२ जनपदों के ४०४ देहाती क्षेत्रों तथा २४ शहरी क्षेत्रों में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा चल रही थी। पुराने मध्यप्रदेश में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का कानून १३ मार्च १९२० में लागू किया गया था। अतः हम यह कह सकते है कि पुराने मध्यप्रदेश के महाकोशल क्षेत्र में लगभग ३६ वर्षों में केवल उपरोक्त क्षेत्रों में ही अनिवार्य शिक्षा लागू की जा सकी। जबलपुर नगर-निगम क्षेत्र में भी पहली तथा दूसरी दो कक्षाओं में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की गई है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत महाकोशल क्षेत्र के अन्य सभी शहरी क्षेत्रों तथा ६५ सामुदायिक विकास खण्डों में भी अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ करने का प्रस्ताव है। महाकोशल के शहरी क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने में विशेष अड़चनें नहीं आ रही है पर देहाती क्षेत्रों में गरीबी आदि के कारण अनेक समस्याएँ उठती है।

मध्यभारत क्षेत्र में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा कानून सन् १९४९ में बना था। इस कानून के अनुसार सन् १९५१-५२ में ६ से ११ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं की अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था के प्रयोग के लिए प्रत्येक जिले के आसपास के ५ से १० मील के क्षेत्रों तथा कुछ तहसील के केन्द्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की गई थी। इन क्षेत्रों में १५६५ नई प्राथमिक शालाएँ खोली गईं, ३२२१ नये शिक्षकों तथा ९२ असिस्टेंट अटेंडेन्स अफसरों की नियुक्तियाँ की गई थीं। निम्न आँकड़े मध्यभारत क्षेत्र में अनिवार्य शिक्षा की प्रगति के सूचक हैं :

	क्षेत्र	शालाओं की संख्या	छात्रों की संख्या	व्यय
१	शहरी क्षेत्र	८३५	६७,५६५	१७,००,१४९
२	देहाती क्षेत्र	७३०	३४,१०६	६,७०,२६०

विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र में सन् ५३-५४ में २६ तहसीलों के केन्द्रों में अनिवार्य शिक्षा लागू की गई। अनिवार्य शिक्षा के विकास के लिए यह निश्चित किया गया कि प्रत्येक कानूनगो हल्के में एक महत्त्वपूर्ण गाँव में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ की जाये। बाद में सरकार ने विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र के सभी सामुदायिक विकास खण्डों के क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारम्भ करने का निश्चय किया। विकास खण्डों में नई शालाएँ न खोलकर जो शालाएँ थीं उन्हीं में अतिरिक्त शिक्षकों की नियुक्तियाँ करके अनिवार्य शिक्षा का कार्य चलाया गया। इस प्रकार सन् १९५७ में विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र में ८३१ अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा केन्द्र स्थापित हो चुके थे।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में ६ से ११ वर्ष के बालक-बालिकाओं के लिए अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा को प्राथमिकता दी गई। इसके लिए सन् १९५८ में शैक्षणिक सर्वेक्षण भी किया गया था। इसके आधार पर राज्य की अनिवार्य शिक्षा योजना तैयार की गई है। इस हेतु जो योजना बनाई गई है वह निम्न प्रकार है :

बालक-बालिकाओं की संख्या :

मध्यप्रदेश का क्षेत्रफल १,७१,२०० वर्गमील तथा जनसंख्या (१९५१ की गणना के अनुसार) २,६१,००,००० है। सन् १९५५-५६ में यह अनुमानतः २,९६,१०,००० हो जायेगी, जिसमें पुरुष १,५०,५२,००० तथा स्त्रियाँ १,४५,५७,००० होंगी। इस जनसंख्या में से बालक-बालिकाओं की संख्या लगभग १५ प्रतिशत आँकी गई है, जो ४३·५५ लाख होगी। सन् १९५७ में कुल बालक-बालिकाओं की संख्या ११·२१ लाख आँकी गई थी।

कार्यक्रम का विभाजन :

राज्य के ६ से ११ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा योजना के अन्तर्गत सम्मिलित किया जायेगा तथा सम्पूर्ण कार्य पाँच वर्षों में विभाजित रहेगा।

योजना के कार्यान्वय के लिए व्यय का अनुमान :

क्रमांक	शीर्षक	व्यय करोड़ रुपयों में
१.	प्रशासन	१·५६
२.	प्राथमिक शालाओं के शिक्षक	२०·५७
३.	निरीक्षक	·७६
४.	उपस्थिति अधिकारी	१·८६
५.	मध्याह्न भोजन, शालेय सामग्री तथा अन्य सुविधाएँ अनुसूचित बालक-बालिकाओं के लिए	१०·७७
६.	ग्रामीण क्षेत्रों के शिक्षकों के लिए निवास-गृहों की व्यवस्था	१·७७
७.	बालिकाओं की शालाओं के लिए शिक्षिकाओं की व्यवस्था	·७२
८.	शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था	·२६
९.	अतिरिक्त शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था	२·७१
	योग	४०·९८

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तिम दो वर्षों के लिए १६७'८० लाख रुपयों का खर्च आँका गया है। इस खर्च का ब्योरा निम्न प्रकार है :

		लाख रुपये
१.	प्रशासन	३९'०१
२.	अतिरिक्त शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था	१२३'५९
३.	शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था	५'२०
	योग	१६७'८०

इस व्यय के सम्बन्ध में ५९-६० के लिए ८३'४३ लाख तथा ६०-६१ के लिए ९१'३० लाख रुपयों का प्रावधान रखा गया है। इस व्यय के लिए १०० प्रतिशत अनुदान के आधार पर केन्द्रीय सरकार से प्रार्थना की गई है। यदि केन्द्र से सहायता न मिल सकी तो ८७'४३ (अनावर्ती व्यय) लाख रुपयों की निधि को तृतीय पंचवर्षीय योजना में शामिल किया जायेगा।

इस प्रकार राज्य में अनिवार्य प्राथमिक निःशुल्क शिक्षा के लिए समुचित प्रयत्न किये जा रहे हैं।

अध्याय ९

बुनियादी शिक्षा का स्वरूप तथा प्रगति

बुनियादी शिक्षा का स्वरूप

बुनियादी शिक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों तथा जनता में बड़ा विचार वैभिन्य है। इसलिए विभिन्न लोग बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार से सोचते हैं। साधारण जनता इसे 'तकली या चरखा द्वारा शिक्षा' समझती है, इसलिए जिन शालाओं में तकली तथा चरखा चलाया जाता है वे शालाएँ बुनियादी मानी जाती हैं। कुछ लोग इसे एक फैशन या शक के रूप में मानते हैं। कुछ अन्धभक्त लोग केवल गाँधीजी के नाम से चलनेवाली तकली या चरखा की शिक्षा मानते हैं तथा इसके वास्तविक स्वरूप की ओर ध्यान नहीं देते। कुछ अन्य पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित तथा उसी रंग में रंगे हुए विद्वान इसे मशीन युग में बैलगाड़ी का रूप मानते हैं।

यह आम जनता की, जो शिक्षा के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान नहीं रखती, बात हुई। पढ़े-लिखे शिक्षा-सिद्धान्त के ज्ञाता भी, जिन्होंने बुनियादी शिक्षा पर पुस्तकें पढ़ी हैं, इसे योजना-प्रणाली का भारतीयकरण कहते हैं। कुछ समवाय पर बहुत अधिक विचार करते रहते हैं तथा इसे समवायी प्रणाली ही मानते हैं। कुछ गाँधीजी के "तकली को एक अच्छा खिलौना" कहने पर इसे खेल प्रणाली का एक भिन्न रूप ही मानते हैं। अन्य विद्वान इसे औद्योगिक शिक्षा का रूप या उसकी पूर्व-तैयारी मानते हैं।

कुछ पढ़े-लिखे, शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं में कार्य करने वाले विद्वान इसे केवल प्रशिक्षण संस्थाओं के लिए, बुनियादी कार्यकर्ताओं एवं शिक्षकों का निर्माण करने में ही सहायक मानते हैं। उनके अनुसार यह सब बुनियादी बेकार है तथा देश की माध्यमिक शालाओं तथा उच्च शिक्षा के लिए इसका कोई उपयोग नहीं है।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में जनता तथा विद्वान दोनों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। जनता यदि नहीं समझती है तो एक तरह से क्षम्य भी है; पर विद्वानों तथा विशेषकर शिक्षण-प्रशिक्षण संस्थाओं के बड़े-बड़े उपाधि-धारी विद्वानों के कम अध्ययन, दूषित दृष्टिकोण पर तरस आता है। बुनियादी शिक्षा पर एकांगी दृष्टिकोण से विचार करने के कारण ही ऐसा होता है। बुनियादी शिक्षा के किसी एक अंग को विशेष महत्त्व देने के कारण ही इस तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। बुनियादी शिक्षा की स्पष्ट कल्पना तथा रूपरेखा समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जानकारी करें कि बुनियादी शिक्षा के प्रणेताओं ने इसे किस रूप में मान्य किया है तथा उनके अनुसार इसका क्या स्वरूप होना चाहिए।

२२-२३ अक्तूबर १९३७ को वर्धा में अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् के सामने भाषण करते हुए गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये थे। उन विचारों का सार तत्त्व निम्न है :

१. प्राथमिक शिक्षा कम-से-कम ७ वर्ष की हो।

२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

३. शिक्षा का माध्यम मूलोद्योग हो।

४. शिक्षा स्वावलम्बी हो।

इन प्रमुख बातों तथा बुनियादी शिक्षा के स्वरूप पर विचार करने के लिए डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई थी। इस समिति ने बारीकी से छानबीन करके अपना प्रतिवेदन गाँधीजी के सामने रखा। जाकिर हुसैन समिति के प्रतिवेदन को सन् १९३९ में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में स्वीकार किया गया। यही जाकिर हुसैन समिति का प्रतिवेदन बुनियादी शिक्षा का प्रमुख ढाँचा है। इसी ढाँचे के आधार पर बुनियादी शिक्षा का महल खड़ा है। इस ढाँचे का स्वरूप भी वही है जो गाँधीजी ने १९३७ में २२ तथा २३ अक्टूबर को अपने भाषण में व्यक्त किया था।

इस प्रारम्भिक ढाँचे में अनेक परिवर्तन तथा बुनियादी शिक्षा-दर्शन में अनेक प्रकार के विकास हुए हैं। इनकी विस्तृत चर्चा तो 'बुनियादी शिक्षा का विकास' शीर्षक के अन्तर्गत की जायेगी, पर यहाँ यह विचार करना आवश्यक

है कि केन्द्रीय सरकार ने बुनियादी शिक्षा के स्वरूप को किस रूप में माना है,
क्योंकि यही रूप हमारी बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का है तथा भविष्य में
भी रहेगा।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के अन्तर्गत बुनियादी शिक्षा उपसमिति ने
बुनियादी शिक्षा के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा उसके सम्बन्ध में जनता तथा
विद्वानों की भ्रान्तियों को दूर करने के लिए एक प्रपत्रक १९५५-५६ में तैयार
किया था। केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने उसे स्वीकार किया। इस प्रपत्रक में
बुनियादी शिक्षा के प्रमुख तत्वों को निम्न प्रकार बताया गया है :

बुनियादी शिक्षा का स्वरूप वैसा ही है जैसा कि जाकिर हुसैन समिति के
प्रतिवेदन में बताया गया है तथा जिसे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने
स्पष्ट किया है। अतः यह स्पष्ट है कि जाकिर हुसैन समिति के प्रतिवेदन में
दर्शाये गए बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त तथा विधियाँ ही हमारी भारतीय राष्ट्रीय
शिक्षा के पुनर्गठन के आधार होंगे। जाकिर हुसैन समिति ने सातवर्षीय बुनियादी शिक्षा
दिये गए आठवर्षीय (जाकिर हुसैन समिति ने इसे आठवर्षीय बनाने
की कल्पना की थी। बाद में १९३९ में खेर समिति अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा तथा
की सिफारिश की जिसे मान्य किया गया।) न तो कोई मतभेद है और न कोई
मातृभाषा को माध्यम बनाने के सिद्धान्तों में बुनियादी शिक्षा जूनियर
भ्रांति। हाँ केवल इस बात का ध्यान रखा जाये कि
तथा सीनियर बेसिक स्तर दोनों को मिलाकर मानी जाये। अतः उनके

बुनियादी शिक्षा के अन्य सिद्धान्तों पर मतभेद अधिक है।
निम्न स्वरूप को उपयुक्त समझना ठीक होगा :

गाँधीजी बुनियादी शिक्षा को जीवन द्वारा जीवन की शिक्षा मानते हैं। यह
वास्तव में जीवन द्वारा शिक्षा अधिक है। यह शिक्षा के द्वारा एक ऐसे समाज का
निर्माण करना चाहती है जो स्वतन्त्र हो, जिसमें शोषण न हो,
बुनियादी शिक्षा जो अहिंसा पर आधारित हो, जिसमें ऊँच और नीच का
जीवन की तथा कोई भेद न हो।[1] ऐसे शोषण विहीन, वर्गहीन, अहिंसात्मक

1. इसके विस्तृत विवेचन के लिए श्रीमती शिवरानी सक्सेना की 'प्राचीन तथा नवीन
शिक्षण विधियाँ', तथा 'बुनियादी शिक्षण विधि' नामक पुस्तकें देखिए।

जीवन द्वारा शिक्षा है

स्वतन्त्र समाज के निर्माण के लिए ही उत्पादक सामाजिक उद्योग वर्गभेद छोड़कर सभी बालक-बालिकाओं की शिक्षा का माध्यम रखा गया है।

बुनियादी शिक्षा-स्तर पर किसी उत्पादक मूलोद्योग के माध्यम से शिक्षा आवश्यक तथा प्रभावी होती है। यदि उपयुक्त रीति से यह विधिवत् चले तो इससे सम्बन्धित बातों का ज्ञान ठोस तथा वास्तविक होता है।

उत्पादक उद्योग शिक्षा का माध्यम

यह ढंग चरित्र तथा व्यक्तित्व के विकास में बहुत अधिक सहायक भी होता तथा उपयोगी सामाजिक कार्य या श्रम के प्रति आदर या आस्था की भावनाओं का विकास भी करता है। बालकों द्वारा बनाये गए सामान की बिक्री से जो आमदनी होगी वह शाला के कुछ खर्च के लिए उपयोग में आयेगी या बनाया गया उत्पादित सामान बालकों के दोपहर के भोजन, स्कूल-ड्रेस या शाला फर्नीचर तथा सामान-सज्जा जुटाने के काम में आयेगा।

बुनियादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालक या बालिका के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करना है तथा साथ-ही-साथ उसकी उत्पादक-क्षमता की वृद्धि करना भी। उत्पादक मूलोद्योग के शिक्षण स्तर को अच्छा रखने तथा

उत्पादक मूलोद्योग की बुनियादी शाला में स्थिति

उसमें बालकों का कौशल बढ़ाने के साथ-साथ शैक्षणिक सम्भावनाओं का समुचित उपयोग करने के लिए यह आवश्यक है कि बनाया गया सामान अच्छे स्तर का हो। कहने का तात्पर्य यह है कि उस स्तर का हो जैसा कि उस आयु तथा अन्य दृष्टि से निश्चित ढंग बना सकते हैं। बनाया गया सामान सामाजिक दृष्टि से उपयोगी तथा बेचने योग्य भी होना चाहिए। सामान्यतः क्रियाओं को महत्त्व देने वाली शालाओं में कच्चे सामान तथा उपकरणों से खेलने की तरफ ही अधिक ध्यान दिया जाता है। पर केवल खेलने से अधिक शैक्षणिक महत्त्व तो उद्योग की क्रियाओं में कौशल प्राप्त करना तथा अच्छा कार्य करने की योग्यता प्राप्त करना है। अतः उत्पादन के इस तत्त्व को कम महत्त्वपूर्ण मानकर अनुपयोगी न समझना चाहिए। प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से किसी भी उद्योग में कौशल बालक की क्षमता की वृद्धि करता है तथा सभी दृष्टियों से उसका विकास

करने में सहायक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि उद्योग के अभ्यास से प्राप्त कौशल से बालक को सर्वांगीण विकास में सहायता मिलती है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उद्योग के उत्पादन के पक्ष को उसके शैक्षणिक पक्ष से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं समझा जाये। उत्पादन कार्य को आवश्यक महत्त्व देने से बालक की उत्पादन क्षमता का विकास होता, उसमें काम करने की ठीक तथा उपयोगी आदतों का विकास होता, उसकी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ विकसित होकर वाञ्छनीय दिशाओं की ओर उन्मुख होती हैं, उसमें एकाग्रता, लगन, परिश्रम, अध्यवसाय, विवेक से कार्य करने तथा योजना बनाने की आदतों और प्रवृत्तियों का विकास होता है। मूलोद्योग-सम्बन्धी लक्ष्य शिक्षक अपनी स्थानीय परिस्थितियों को देखकर निर्धारित कर सकते हैं। पर उत्पादक उद्योग के शैक्षणिक उद्देश्यों को कभी भी कम महत्त्वपूर्ण न माना जाये। प्रत्येक राज्य को जूनियर तथा सीनियर बेसिक स्तर के लिए अनुभवों के आधार पर लक्ष्य निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

उत्पादक मूलोद्योग का चुनाव

बुनियादी शाला के लिए मूलोद्योग का चुनाव उनकी शैक्षणिक उपयोगिता, सम्भावनाओं तथा ज्ञान के क्रमशः विकास के आधार तथा व्यावहारिक योग्यता तथा क्षमता बढ़ाने की सम्भावनाओं को देखकर करना उचित होगा। मूलोद्योग बुनियादी शाला के सामाजिक और स्वाभाविक वातावरण के अनुकूल हो तथा उसमें शैक्षणिक सम्भावनाएँ अधिक होनी चाहिए। यह गलत विचार है कि कताई या बुनाई मूलोद्योग के रूप में चलाने पर ही शाला बुनियादी कहलाने लगेगी। उद्योग कोई भी हो सकता है केवल उसमें निम्न गुण होने चाहिए :

१. शैक्षणिक सम्भावनाएँ।
२. ज्ञान के क्रमशः विकास की क्षमता।
३. समाज तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल।
४. व्यावहारिक क्षमता के विकास की शक्ति।

सभी प्रकार की अच्छी शिक्षा, विशेषतः बुनियादी शिक्षा, में ज्ञान का सम्बन्ध

समवाय

क्रिया, अनुभव तथा अवलोकन से होना आवश्यक है। इस दृष्टि से बुनियादी शिक्षा में ज्ञान को निम्न तीन केन्द्रों से समवायित करने का सिद्धान्त बनाया गया है :

१. मूलोद्योग
२. समाज
३. प्रकृति

बुनियादी शिक्षक यदि योग्य है तो वह इनमें से किसी भी केन्द्र से समवाय करके शिक्षा दे सकेगा या अपने पाठ्यक्रम के विषयों को पढ़ा सकेगा, क्योंकि ये तीन केन्द्र बालक की रुचि तथा प्रवृत्तियों के स्वाभाविक केन्द्र हैं। पर यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो उसके निम्न दो कारण हो सकते हैं :

१. उसमें आवश्यक योग्यता की कमी है; या
२. पाठ्यक्रम में स्तर-विशेष की दृष्टि से अनावश्यक बातें भर दी गई हैं।

पर यदि ये दोनों बातें नहीं हैं तथा पाठ्यक्रम में ऐसी बातों का समावेश किया गया है जो उपर्युक्त किसी भी केन्द्र से समवाय करके नहीं पढ़ाई जा सकतीं और ऐसी बातों का पढ़ाना आवश्यक है तब ऐसे ज्ञान को किसी अच्छी शाला में पढ़ाये जाने वाले ढंग या विधि से देना चाहिए। पर ऐसे पाठों में भी रुचि, उत्प्रेरण, रचनात्मक तथा स्वयं अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कार्यों पर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

बहुधा लोगों का विचार रहता है कि बुनियादी शिक्षा में उत्पादन पर अधिक बल दिया जाता है अतः पुस्तकों के पठन तथा उपयोग की आवश्यकता नहीं है। बुनियादी शिक्षा पुस्तकों को ही ज्ञान प्रदान करने का साधन नहीं मानती। वह पुस्तकों को ही संस्कृति का ज्ञान करानेवाली भी नहीं मानती। बुनियादी शिक्षा तो यह मानती है कि उचित रूप, व्यवस्थित उत्पादक उद्योग बालक के व्यक्तित्व के विकास तथा ज्ञान-प्राप्ति में और भी अधिक प्रभावी ढंग से सहायक होता है। पर व्यवस्थित ज्ञान देने के अतिरिक्त मनोरंजन करने के साधन के रूप में पुस्तकों का भी महत्त्व है। इस दृष्टि से बुनियादी शाला में एक वाचनालय और अच्छा पुस्तकालय होना अत्यन्त आवश्यक है।

पुस्तकों का स्थान

बुनियादी शिक्षा शाला तथा समाज के ऐसे समन्वय की अपेक्षा करती है जो शिक्षा तथा बालक को सामाजिक तथा सहयोगी बनाती है इसलिए बुनियादी शिक्षा इस ध्येय की पूर्ति के लिए निम्न दो साधनों का उपयोग करती है :

शाला तथा समाज का समन्वय

१. शाला की एक कर्मशील जीवित समुदाय या समाज के रूप में रचना करके;

२. बालक-बालिकाओं को आसपास के सामाजिक जीवन में भाग लेने के अवसर देकर तथा उस समाज की सेवा करने को प्रोत्साहित करके।

इस प्रकार बुनियादी शिक्षा बुनियादी शाला को समाज का एक अभिन्न तथा उपयोगी अंग बनाने पर बल देती है।

बालकों का स्वायत्त शासन

बुनियादी शिक्षा की विशेषता उसके बालक बालिकाओं का स्वायत्त शासन है। यह एक लगातार चलने वाला कार्यक्रम है जो बालक-बालिकाओं को उत्तरदायित्वपूर्ण लोकतन्त्रात्मक जीवन व्यतीत करने के अवसर देता रहता है। इस तरह बुनियादी शिक्षा बालक-बालिकाओं को आत्मविश्वास, सहकारिता, श्रम के महत्त्व आदि से परिचित ही नहीं कराती है वह एक प्रगतिशील समाज-व्यवस्था करने में बड़े प्रभावोत्पादक तथा महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करती है।

बुनियादी शिक्षा केवल ग्रामों के लिए ही नहीं

यह समझना भी भारी भूल होगी कि बुनियादी शिक्षा केवल ग्रामीण क्षेत्रों के लिए ही उपयोगी होगी। यह शहरी तथा देहाती दोनों क्षेत्रों के लिए समान रूप से उपयोगी है तथा दोनों प्रकार के क्षेत्रों में लागू की जाना चाहिए। इससे लोगों का यह विचार या भ्रम दूर होगा कि गाँवों के लिए कोई निम्न प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था की जा रही है। इसके लिए यह आवश्यक है कि शहरों के लिए उपयोगी उद्योग चुने जायें तथा पाठ्यक्रम में आवश्यक परिवर्तन किये जायें। पर बुनियादी शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त तथा विधि ज्यों-की-त्यों रहनी चाहिए।

बुनियादि शिक्षा का विकास तथा प्रगति

बुनियादी शिक्षा के लिए महात्मा गाँधी ने शोषण-विहीन, वर्गहीन, कर्मयोगी, स्वतंत्र समाज-व्यवस्था को आवश्यक माना है। बुनियादी शिक्षा की योजना को देश के सामने रखने से पहिले महात्मा गाँधी ने इसके मूल सिद्धान्तों तथा इसकी अच्छाइयों के सम्बन्ध में प्रयोग कर लिये थे। अपने इन प्रयोगों की सफलता के आधार पर उन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। उनके इस प्रयोगकाल को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहिला काल गाँधीजी के अफ्रीका-निवास से प्रारम्भ होता है। वहाँ 'टाल्सटाय फार्म' में इसी तरीके से शिक्षा का कार्य प्रारम्भ किया गया था। इसके पश्चात् सन् १९२० में जब विदेशी शासन का अन्त करने के लिए सहयोग आन्दोलन आरम्भ किया गया तब से राष्ट्रीय बुनियादी शिक्षा का यह प्रयोग भारत में भी प्रारम्भ हो गया। इस कार्य में गुजरात विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, तिलक विद्यालय, नागपुर तथा अन्य राष्ट्रीय संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। राजनैतिक आन्दोलनों के कारण इन संस्थाओं का कार्य अधिक सगठित रूप से आगे न बढ़ पाता था क्योंकि आन्दोलनों के प्रारम्भ होते ही इन संस्थाओं में काम करने वाले शिक्षक तथा छात्र राजनैतिक कार्यों में लग जाते थे। इतना होते हुए भी इन प्रयोगों से गाँधीजी के मन में शिक्षा की यह योजना एक निश्चित और स्पष्ट रूप धारण करती गई।

सन् १९३५ के संविधान के अनुसार चुनाव होने पर सन् १९३७ में भारत के अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बन गए। इसी अवसर पर अपनी शिक्षा योजना की ओर देश के विद्वानों का ध्यान खींचने के लिए गाँधीजी ने 'हरिजन' नामक पत्रिका में शिक्षा-सम्बन्धी लेख लिखकर इस विषय पर चर्चा आरम्भ की। इसी के बाद सन् १९३७ में २२ तथा २३ अक्तूबर को वर्धा में अखिल भारतीय शिक्षा-परिषद् बुलाई गई। इसमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों के शिक्षा-मन्त्री तथा राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य करने वाले शिक्षा-शास्त्रियों ने भाग लिया था। महात्मा गाँधी ने इस परिषद् के सामने नई शिक्षा प्रणाली के सम्बन्ध में अपने विचार रखे। उन्होंने संसार के शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा मान्य 'क्रिया द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त को आधार बनाया। पर अन्य देशों में शिक्षा केवल क्रिया

कराने के लिए तथा मनोरंजन के लिए करवाई जाती है। पाश्चात्य देशों में धन तथा साधन प्रचुर हैं, अतः वहाँ यह सब सम्भव है। भारत तो गरीब देश है। यहाँ तो अभी प्राकृतिक साधनों का उपयोग भी साधनों के अभाव में पूर्ण रूपेण नहीं हो पा रहा है। अतः गरीबी तथा साधनों की कमी के कारण महात्मा गाँधी ने शिक्षा का सम्बन्ध एक उत्पादक क्रिया से जोड़ा। यह क्रिया समाज में प्रचलित उद्योग के रूप में होगी तथा इस उत्पादक उद्योग की क्रियाओं की शैक्षणिक सम्भावनाओं के उचित उपयोग से जो ज्ञान प्राप्त होगा वह ठोस तथा वास्तविक भी होगा। इसके साथ-साथ गाँधीजी ने शिक्षा में स्वावलम्बन को आवश्यक माना। देश की गरीबी को दूर करने तथा इतने बृहत् देश में सभी को शिक्षित करने के लिए यह बड़ा व्यावहारिक साधन है। इसीलिए गाँधीजी ने कहा था कि "शिक्षा से मेरा तात्पर्य बालक के शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास से है। बालक की आन्तरिक शक्ति और सौन्दर्य को विकसित करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। साक्षरता ही शिक्षा नहीं है। साक्षरता न तो शिक्षा का आदि है और न अन्त। यह तो मनुष्य को शिक्षित बनाने का साधन-मात्र है अतः मैं बालक की शिक्षा का प्रारम्भ उसे उपयोगी उद्योग सिखलाकर तथा उसे अपनी शिक्षा के प्रारम्भ से ही उत्पादन करने योग्य बना-कर करूँगा। इस प्रकार, प्रत्येक शाला स्वावलम्बी बन सकेगी।

"मेरा विश्वास है कि ऐसी शिक्षा से बालक के मस्तिष्क तथा आत्मा का विकास सम्भव हो सकेगा। केवल आवश्यकता इस बात की है कि उद्योग केवल, जैसा कि आजकल किया जाता है, औपचारिक रूप से ही न पढ़ाया जाये वरन् उसे वैज्ञानिक विधि से उसमें सम्बन्धित कैसे तथा क्यों का ज्ञान कराते हुए पढ़ाया जाना चाहिए।

"मस्तिष्क की उत्प्रेरणा का प्रमुख साधन शारीरिक श्रम होना चाहिए।"

इन विचारों को उन्होंने पहिले 'हरिजन' में व्यक्त किया तथा वर्धा में होने वाली अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् में अपनी बुनियादी शिक्षा योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की। गाँधीजी की योजना के प्रमुख तत्व निम्न थे :

१. प्रारम्भिक शिक्षा कम-से-कम ७ वर्ष की हो।

२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

३. यह शिक्षा किसी मूलोद्योग के माध्यम से दी जाये।
४. शिक्षा स्वावलम्बी हो अर्थात् पूरी अवधि में बालकों के कार्य से शिक्षक का वेतन निकल सके।

अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् में गाँधीजी की शिक्षा-योजना पर विचार-विमर्श हुआ तथा अन्त में निम्न प्रस्ताव पास किये गए :

१. परिषद् का मत है कि सम्पूर्ण देश के लिए ७ वर्षीय निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाये।
२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।
३. परिषद् गाँधीजी के इस मत से सहमत है कि इस आयु के बालकों को शिक्षा किसी प्रकार के शारीरिक उत्पादक कार्य को केन्द्र मानकर दी जाये तथा अन्य क्षमताएँ, जिनका विकास करना है या प्रशिक्षण जो दिया जाना है, जहाँ तक हो सके, बालक के वातावरण के अनुकूल चुने हुए इस केन्द्रीय उद्योग से ही प्रदान किया जाये।
४. इस परिषद् की अपेक्षा है कि यह शिक्षा-विधि क्रमशः शिक्षकों के वेतन का खर्च भी निकाल ही लेगी।

अखिल भारतीय शिक्षा परिषद् के इन विचारों तथा प्रस्तावों पर पुन बारीकी से विचार करने के लिए डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गई। इस समिति में १० सदस्य थे। इस समिति ने काफी छान-बीन के बाद अपना प्रतिवेदन गाँधीजी के सामने रखा। महात्मा गाँधी के द्वारा स्वीकृत होने पर जाकिर हुसैन समिति का प्रतिवेदन फरवरी सन् १९३८ के अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में प्रस्तुत किया गया। कांग्रेस ने इस प्रतिवेदन को मंजूर किया तथा निम्न प्रस्ताव पारित किया गया :

"...कि कांग्रेस का मत है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर की शिक्षा के लिए बुनियादी शिक्षा निम्न सिद्धान्तों के आधार पर दी जाये :

१. निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा अखिल भारतीय स्तर पर ७ वर्ष की दी जाये।
२. शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से मातृभाषा हो।
३. इस शिक्षा-पद्धति में शिक्षा किसी रूप में शारीरिक श्रम तथा उत्पादक

कार्य को केन्द्र मानकर दी जाये तथा अन्य क्रियाएँ तथा प्रशिक्षण जो दिया जाना हो वह बालक के वातावरण के अनुकूल चुने हुए इस केन्द्रीय उद्योग से पूर्णतः समन्वित हो।

ये ही बुनियादी शिक्षा के प्रमुख तत्त्व हैं। कांग्रेस ने डा० जाकिर हुसैन तथा ई० डब्ल्यू० आर्यनायकम् को अधिकार दिये कि गाँधीजी के निर्देशन तथा सलाह से शीघ्र ही एक अखिल भारतीय शिक्षा-संघ या बोर्ड की स्थापना करें जिससे कि बुनियादी शिक्षा का कार्यक्रम सुसगठित किया जा सके तथा जो राज्य या निजी संस्थाएँ शिक्षा के अधिकार में हैं उन्हें उचित परामर्श दिया जा सके।

हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के प्रस्तावों तथा अखिल भारतीय शिक्षा-परिषद् के प्रस्तावों में साम्य होने हुए भी कुछ अन्तर दिखाई देता है। अखिल भारतीय शिक्षा-परिषद् के प्रस्तावों में स्वावलम्बन पर बल दिया गया है तथा अपेक्षा की गई है कि बुनियादी शिक्षा कम-से-कम शिक्षकों के वेतन का व्यय तो निकाल ही सकेगी, पर हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्तावों में स्वावलम्बन की बात नहीं रखी गई है।

हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार अप्रैल सन् १९३८ में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के नाम से एक अखिल भारतीय शिक्षा बोर्ड की स्थापना सेवाग्राम, वर्धा में की गई। प्रारम्भ से ही यह संघ बुनियादी शिक्षकों के प्रशिक्षण, बुनियादी शालाओं की व्यवस्था, बुनियादी-सम्बन्धी प्रयोग तथा शोधकार्य कर रहा है।

बुनियादी शिक्षा की इस नई योजना को देश के अनेक प्रान्तों में प्रश्रय प्राप्त हुआ, तथा इसके विस्तार तथा विकास के लिए अनेक कार्य किये गए। देश के उत्तरप्रान्त, मध्यप्रान्त, बम्बई, बिहार तथा उड़ीसा में बुनियादी शिक्षा बड़े उत्साह से प्रारम्भ की गई। पर इस बुनियादी शिक्षा-योजना की सबसे अधिक प्रगति बिहार में हुई।

बुनियादी शिक्षा का प्रथम वर्ष तो प्रमुखतः केवल शिक्षकों के प्रशिक्षण में ही व्यतीत किया गया। दूसरे वर्ष कुछ बुनियादी शालाओं की स्थापना की गई तथा उन शालाओं में बुनियादी में प्रशिक्षित शिक्षकों को रखा गया। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के प्रयोग प्रारम्भ किये गए। सन १९३९ तक देश में बुनियादी

शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं की संख्या १४ हो गई थी तथा बिहार के चम्पारन जिले में ३० नई बुनियादी शालाएँ, बम्बई में ५८ जिला बोर्ड शालाएं तथा २८ बुनियादी शालाएँ गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक में, एवं मध्यप्रदेश में ९८ विद्यामन्दिर स्थापित किये गए।

इसी बीच में अनेक प्रान्तों में बुनियादी शिक्षा की जाँच आदि के लिए अनेक शिक्षा-समितियों का गठन हुआ। इनमें उत्तर प्रदेश में स्थापित की गई नरेन्द्रदेव समिति उल्लेखनीय है। इन सभी समितियों ने प्रायः ७ या ८ वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा तथा इस पूर्ण अवधि तक किसी उत्पादक उद्योग को केन्द्र मानकर शिक्षा देने का सुझाव दिया। यह केन्द्रीय उद्योग बालक के प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण के अनुकूल तथा उससे सम्बन्धित होना भी आवश्यक माना गया।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के अन्तर्गत समितियाँ

जनवरी सन् १९३८ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने बम्बई के तत्कालीन मुख्यमंत्री तथा शिक्षामंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक शिक्षा उपसमिति की स्थापना की। इस समिति का कार्य बुनियादी शिक्षा-योजना की जाँच, वुड तथा ऐबट रिपोर्ट की व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा-सम्बन्धी सुझावों की पृष्ठभूमि में करना था। डा० जाकिर हुसैन भी इस समिति के सदस्य थे तथा उन्होंने प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट किया कि बुनियादी शिक्षा-योजना "शिक्षा की योजना है न कि उत्पादन की।" उन्होंने बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी अन्य भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए बताया कि बुनियादी शिक्षा का प्रमुख ध्येय उद्योग कार्य में निहित शैक्षणिक सम्भावनाओं का उचित उपयोग करना है न कि १४ वर्ष की आयु में उद्योग सीखे बालक उत्पन्न करना। अतः यह आवश्यक है कि उद्योग या उत्पादक कार्य में शैक्षणिक सम्भावनाएँ अधिक-से-अधिक होनी चाहिए, तथा उसमें मानव रुचियों तथा कार्यों से स्वाभाविक रूप से समवाय करने की क्षमता भी होना आवश्यक है।

खेर समिति ने सोद्देश्य रचनात्मक क्रियाओं के माध्यम से जो क्रमशः उत्पादक उद्योग या कार्य के रूप में विकसित हो जायेंगी, बालक को शिक्षित करने के

सिद्धान्त को मान्य किया । इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रारम्भिक कक्षाओं में विभिन्न प्रकार की अनेक रचनात्मक क्रियाओं की व्यवस्था होनी चाहिए जिससे बालक-बालिकाएँ अपनी रुचि के अनुकूल क्रियाएँ चुनें तथा आगे चलकर ये रचनात्मक क्रियाएँ उत्पादक उद्योग में परिणत हो जायें । इस प्रकार बुनियादी शिक्षा की सफलता प्रारम्भिक कक्षाओं में उपयोगी तथा विभिन्न प्रकार की रचनात्मक क्रियाओं के समुचित तथा उपयुक्त चुनाव पर ही आधारित रहेगी । खेर-समिति की सिफारिशों ने बुनियादी शिक्षा की प्रमुख सिद्धान्तों-सम्बन्धी अनेक समस्याओं को सुलझाकर बुनियादी शिक्षा के नये युग का प्रारम्भ किया । खेर-समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न हैं :

१. बुनियादी शिक्षा की योजना पहिले ग्रामीण क्षेत्रों में लागू की जाये ।
२. शिक्षा को अनिवार्य करने की अवधि ६ से १४ वर्ष तक की आयु रखी जाये । पर बुनियादी शाला में ५ वर्ष की आयु के बालक भी भरती किये जा सकेंगे ।
३. बुनियादी शाला से ११ वर्ष की आयु के बाद या ५वीं कक्षा के बाद बालक अन्य शालाओं में जा सकेंगे ।
४. शिक्षा का माध्यम प्रान्त की भाषा होगी ।
५. हिन्दुस्तानी—उर्दू तथा हिन्दी के मेल से बनी—भाषा का होना भारत के लिए आवश्यक है । इसकी हिन्दी तथा उर्दू दोनों लिपियाँ होंगी । शिक्षक को दोनों लिपियों का ज्ञान हो पर बालक अपनी रुचि के अनुसार लिपि चुन सकेंगे ।
६. बुनियादी शिक्षा-योजना वुड तथा ऐबट रिपोर्ट से, जहाँ तक क्रिया द्वारा शिक्षा का सिद्धान्त है, पूर्ण साम्य रखती है । प्रारम्भिक कक्षाओं में क्रियाएँ विभिन्न प्रकार की हों तथा ऊँची कक्षाओं में ये किसी ऐसे उत्पादक उद्योग की ओर क्रमशः विकसित हों जिससे बनाया गया माल बिक सके । इस आमदनी को शाला की व्यवस्था में व्यय किया जाये ।
७. कुछ सांस्कृतिक विषय मूलोद्योग से समन्वयित नहीं किये जा सकते हैं अतः इन्हें स्वतंत्र रूप से पढ़ाया जाये ।

८. शिक्षक-प्रशिक्षण का स्तर उन्नत करके उसे पुनर्गठित किया जाये।
९. प्रत्येक शिक्षक को २० रुपया माहवार से कम नहीं मिलना चाहिए। महिला शिक्षकों की अधिक-से-अधिक संख्या में नियुक्ति की जाये।
१०. बुनियादी शालाएँ उपयुक्त प्रशिक्षित शिक्षक मिलने पर ही खोली जायें।
११. पाठ्यक्रम में अनुभव के आधार पर परिवर्तन किये जायें। बुनियादी शालाओं में अंग्रेजी वैकल्पिक विषय के रूप में रखी जाये।
१२. बाह्य परीक्षा न रखी जाये। कक्षावार वर्ग-उन्नति शाला निश्चित करेगी जो निरीक्षक के निरीक्षण के आधार पर आन्तरिक परीक्षा द्वारा की जाये।

खेर समिति ने बुनियादी शिक्षा के स्वावलम्बन के पक्ष में भी अपने विचार व्यक्त किये। उसने कहा कि बुनियादी शिक्षा का प्रमुख सिद्धान्त उत्पादक उद्योग के माध्यम से शिक्षा देना है। 'उत्पादक' के स्थान पर 'रचनात्मक' शब्द अधिक उपयोगी होगा क्योंकि 'उत्पादक' शब्द से आर्थिक उत्पादन के पक्ष को शैक्षणिक पक्ष से अधिक महत्त्व मिल जाता है। समिति इसे मानती है कि बुनियादी शिक्षा शैक्षणिक पक्ष को ही अधिक बल देती है। उत्पादित वस्तु बिक्री योग्य हो तथा उच्च कक्षाओं में निर्मित होनी चाहिए, क्योंकि जब तक वस्तुएँ बिक्री योग्य न होंगी उत्पादक उद्योग की शैक्षणिक सम्भावनाओं का समुचित उपयोग न किया जा सकेगा। बिक्री से जो आमदनी हो उसे शाला की व्यवस्था के लिए व्यय किया जाये। इस प्रकार खेर समिति ने स्वावलम्बन के पक्ष का समर्थन किया।

जनवरी १९३९ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने श्री खेर की अध्यक्षता में एक और समिति की स्थापना की। इस समिति का कार्य बुनियादी शिक्षा का माध्यमिक शिक्षा से समन्वय करने के सम्बन्ध में सुझाव देना था। इस समिति ने प्रमुख रूप से सुझाया कि बुनियादी शिक्षा की अवधि ८ वर्ष की हो। इस अवधि की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया जाये—एक जूनियर बेसिक ५ वर्ष की तथा दूसरी सीनियर बेसिक ३ वर्ष की। पर यह सम्पूर्ण अवधि पूर्णतया एक ही है, केवल व्यावहारिक तथा सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त समझी जाये।

दोनों खेर समितियों की रिपोर्ट को केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने स्वीकार कर लिया तथा इन दोनों समितियों के सुझाव द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय शिक्षा के विकास तथा पुनर्गठन की योजना में, जिसे सार्जेण्ट रिपोर्ट कहते हैं, समाविष्ट कर लिये गए।

सार्जेण्ट रिपोर्ट (१९४४)

सार्जेण्ट रिपोर्ट भारतीय शिक्षा सम्बन्धी वृहत् तथा प्रथम बार सभी सम्भावनाओं और आवश्यकताओं को देखकर बनाई गई है। इस रिपोर्ट में बुनियादी शिक्षा के प्रमुख सिद्धान्त 'क्रिया या उद्योग द्वारा शिक्षा' को मान्यता दी गई है। इसमें खेर समितियों की सिफारिशों को आधार मानकर ४० वर्ष की अवधि में सम्पूर्ण भारत में अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था की योजना बनाई गई है।

सार्जेण्ट रिपोर्ट में प्राथमिक शिक्षा का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम इसी 'क्रिया द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त पर विकसित करने का सुझाव दिया गया है। पर सार्जेण्ट रिपोर्ट में स्पष्ट व्यक्त किया गया है कि शिक्षा के किसी भी चरण, विशेषतः प्राथमिक शिक्षा-स्तर पर स्वावलम्बन नहीं अपनाया जाना चाहिए। छात्रों के उत्पादन से अधिक-से-अधिक उद्योग का सामान खरीदा जा सकता है।

सार्जेण्ट रिपोर्ट में इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के स्वाश्रय के सिद्धान्त को छोड़कर बाकी सभी प्रमुख तत्वों तथा सिद्धान्तों को मान्यता दी गई। सार्जेण्ट रिपोर्ट को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सभी सरकारों ने मान्यता दी तथा इसी के आधार पर ४० वर्ष की सम्पूर्ण अवधि के लिए ५-५ वर्ष की योजनाएँ बनाई गईं। ये योजनाएँ सन् १९४६-४७ से प्रारम्भ भी की गईं।

अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन

प्रान्तीय स्तर पर ये समितियाँ बनीं तथा इनके सुझावों के अनुसार नीतियाँ निर्धारित होती गईं। पर प्रारम्भ में डेढ़ या दो वर्ष के प्रयोगों के बाद यह सोचा गया कि बुनियादी क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों का सम्मेलन बुलाया जाये जिससे अनुभवों का एकत्रीकरण हो तथा एक मिली-जुली नीति निर्धारित की जा सके। बम्बई सरकार के अनुरोध पर पूना में सन् १९३८ में अखिल

भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन बुलाया गया। इसमें देश के विभिन्न प्रान्तों से शिक्षा-शास्त्री भी आये थे। सम्मेलन में विचारों का स्वतंत्रता से आदान-प्रदान हुआ तथा निम्न बातें निश्चित की गई :

१. अंग्रेजी के जल्दी प्रारम्भ होने से देश की शिक्षा की प्रगति बड़ी कम हो सकी है। इससे भारतीय भाषाओं को भी क्षति पहुँची है। अतः बुनियादी तथा अन्य शालाओं में ७ वर्ष की शिक्षा के पूर्व अंग्रेजी प्रारम्भ न की जाये।
२. पिछले दो वर्षों में बुनियादी शिक्षा ने अच्छी प्रगति की है।
३. देश के भविष्य के लिए बुनियादी शिक्षा का कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। अतः इसे बिना किसी बाधा के आगे बढ़ाया जाये। केन्द्र तथा प्रान्तीय सरकारें इसके लिए आवश्यक व्यय की व्यवस्था करें।
४. बुनियादी शिक्षकों की निम्नतम प्रशिक्षण अवधि १ वर्ष हो। शिक्षकों को ग्राम संस्कृति के प्रति आस्था रखने के लिए प्रेरित किया जाये।
५. कुछ चुने हुए क्षेत्रों में नियन्त्रित प्रयोग तथा सघन कार्य किये जायें। इन प्रयोगों के आधार पर अन्य शालाओं को चलाया जाये।
६. शहरी तथा देहाती शिक्षकों का एक ही प्रशिक्षण संस्था में प्रशिक्षण किया जाये, जिससे उनमें एक सा ही दृष्टिकोण विकसित हो।
७. पिछले दो वर्षों के अनुभवों ने प्रदर्शित किया है कि उद्योग से समवाय पर के शिक्षण कार्य किया जा सकता है। पर समवाय जबरदस्ती न किया जाये।
८. समवाय के लिए मूलोद्योग ही नहीं वरन् बालक के सामाजिक तथा प्राकृतिक वातावरण का भी समुचित उपयोग किया जाये।
९. मूलोद्योग समाज में प्रचलित उद्योग ही हो।
१०. सघन क्षेत्रों के लिए अलग से निरीक्षक रखे जायें।

इस प्रकार प्रथम अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन ने अनुभवों के आधार पर कुछ निर्णय किये। पर संसार पर महायुद्ध के बादल छाये हुए थे। भारत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। अनेक राजनैतिक परिस्थितियों के कारण कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। फलस्वरूप यह सोचा जाने लगा कि

बुनियादी शिक्षा का कार्य युद्ध तथा कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों के न रहने से शिथिल पड़ जायेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। द्वितीय वर्ष तो कार्य ठीक चला पर तृतीय वर्ष में (१९४०-४१) कार्य की गति मन्द पड़ गई। उड़ीसा के शिक्षा-सचालक ने तो बुनियादी शिक्षा बोर्ड को ही भंग कर दिया तथा सभी बुनियादी शालाएँ बन्द करवा दीं। पर श्री गोपालबन्धु चौधरी ने जो उस समय उड़ीसा के बुनियादी शिक्षा बोर्ड के सचिव थे, सरकारी नौकरी छोड़कर स्वतन्त्र रूप से बुनियादी का कार्य प्रारम्भ किया।

तीसरे वर्ष १९४१ में जामिया नगर में द्वितीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन हुआ। इसमें यह निष्कर्ष निकाला गया कि अनुभवों ने यह सिद्ध किया है कि बुनियादी शिक्षा से छात्रों के स्वास्थ्य तथा व्यवहार में पर्याप्त सुधार हुआ है। उनका आत्मविश्वास बढ़ा है। तथा वे स्वतंत्रता से अच्छी तरह विचार व्यक्त कर सकते हैं। उनमें सहयोगी तथा सामाजिक भावनाओं का भी विकास हुआ है। भविष्य में इससे भी अच्छे परिणाम इस शिक्षा से दिखाई देंगे।

सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन ने सम्पूर्ण देश को उत्तेजित तथा क्रियाशील किया था। अतः सभी नेताओं तथा लोगों का ध्यान आन्दोलन की ओर ही रहा तथा बुनियादी क्षेत्र के कार्यकर्ताओं तथा सभी नेताओं के जेल में होने के कारण बुनियादी शिक्षा का काम बन्द-सा हो गया।

बुनियादी शिक्षा की नई परिभाषा

जेल से आने के बाद गाँधीजी ने कहा कि बुनियादी शिक्षा केवल ७ या ८ वर्षों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। इसे तो 'जीवन-भर चलना' चाहिए। बुनियादी शिक्षा तथा जीवन साथ-साथ चलेंगे। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा 'जीवन द्वारा, जीवन की शिक्षा' बनी।

बुनियादी शिक्षा के इस नये अर्थ से शिक्षाविदों को परिचित कराने तथा विगत ५ वर्षों के विकास पर दृष्टिपात करने के लिए सेवाग्राम में जनवरी १९४५ में तृतीय अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा की नई कल्पना सदस्यों के समक्ष रखी।

सम्मेलन ने विचार-विमर्श के बाद बुनियादी शिक्षा की निम्न चार अवस्थाएँ मान्य कीं :

१. प्रौढ़ शिक्षा—इसे प्रथम स्थान दिया गया क्योंकि कोई भी देश अशिक्षित नागरिकों के रहते हुए विकसित नहीं हो सकता।

२. पूर्व-बुनियादी शिक्षा ७ वर्ष से कम आयु के बच्चों को।

३. बुनियादी शिक्षा ७ से १४ वर्ष की आयु के बच्चों को।

४. उत्तर-बुनियादी बुनियादी स्तर के बाद।

सम्मेलन में इन चारों स्तरों के लिए पाठ्यक्रम बनाने तथा इसकी रूपरेखा तैयार करने आदि के लिए चार समितियाँ बनाई गईं तथा सेवाग्राम नई कल्पना के अनुसार बुनियादी के सम्पूर्ण स्तर के प्रयोग का केन्द्र चुना गया। इसके बाद सेवाग्राम में पूर्व-बुनियादी तथा प्रौढ़ शिक्षा का कार्य भी प्रारम्भ किया गया।

सन् १९४७ में बिहार तथा सेवाग्राम में बुनियादी शिक्षा-स्तर में शिक्षा पानेवालों ने अपना ७वर्षीय पाठ्यक्रम पूर्ण किया। अतः यह आवश्यक हो गया था कि उत्तर-बुनियादी का पाठ्यक्रम तैयार किया जाये। अतः इसके लिए एक समिति की स्थापना की गई। इसके पूर्व ७वर्षीय बुनियादी शिक्षा को ८वर्षीय में बदलने तथा पुनर्गठन करने के लिए पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए भी समिति गठित की जा चुकी थी।

उत्तर-बुनियादी समिति की चर्चा गाँधीजी से भी हुई तथा उन्होंने स्पष्ट कहा कि उत्तर-बुनियादी शिक्षा सम्पूर्णतः स्वावलम्बी होनी चाहिए। इस दृष्टि से गाँधीजी के अनुरोध पर कुमारबाग (चम्पारन, बिहार) तथा सेवाग्राम में दो उत्तर-बुनियादी संस्थाएँ प्रयोग के लिए स्थापित की गईं। इन प्रयोगों ने सिद्ध किया कि उत्तर-बुनियादी संस्थाएँ स्वावलम्बी हो सकती हैं।

इस समय तक देश की सभी प्रान्तीय सरकारों ने बुनियादी शिक्षा प्रयोग के तौर पर प्रारम्भ कर दी थी पर इसे अभी प्रारम्भिक स्तर पर ४ या ५ वर्षों के लिए रखा था। इसका कारण यह था कि ८वर्षीय चलाने में धन अधिक व्यय होता था तथा उसकी कमी थी तथा सरकारी शिक्षा विभागीय उच्च अधिकारी बुनियादी का प्रसार अधिक चाहते भी नहीं थे। अतः स्वतंत्रता प्राप्ति तक

प्रमुखतः बुनियादी शिक्षा प्रयोग के तौर पर ४ या ५ कक्षाओं तक ही प्रान्तों में चालू रही।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद बुनियादी शिक्षा

सन् १९४८ में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री स्वर्गीय आजाद ने कहा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व की योजनाएँ आज की परिवर्तित परिस्थितियों के लिए अनुपयोगी सिद्ध होंगी। अतः अनिवार्य बुनियादी शिक्षा को सम्पूर्ण देश में लागू करने के लिए ४० वर्षों की अवधि तक ठहरना ठीक न होगा।

तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री श्री मौलाना आजाद प्रशिक्षित शिक्षकों तथा शाला-भवनों की कमी से भी अवगत थे। इसके लिए उन्होंने सुझाया कि जब तक शिक्षक प्रशिक्षित किये जायेंगे स्वतंत्रता से की गई सेवाओं से कार्य लिया जाये, तथा शाला-भवनों के नक्शों में परिवर्तन करके कच्ची इमारतों से काम चलाया जाये। भवन इत्यादि में साधनों का व्यय न करके जनता की शिक्षा के लिए साधन जुटाना अधिक उपयोगी तथा आवश्यक है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रतिवर्ष नियमित रूप से अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन होने लगे। इससे बुनियादी शिक्षा के प्रसार तथा प्रचार में बड़ा सहयोग मिला। देश के विभिन्न क्षेत्रों में किये जा रहे बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों तथा प्रगति का ज्ञान भी इससे हो जाता है।

७ से ९ जून १९४९ में कोयम्बटूर के पास पेरियानैकेनपालयम् में पाँचवाँ अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए श्री विनोबा भावे ने बुनियादी शिक्षा की नई जिम्मेदारी की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा कि बुनियादी शिक्षा के श्रेष्ठ मार्ग द्वारा ही सर्वोदयी समाज का निर्माण हो सकता है। इसी समय विनोबा-जी का क्रान्तिकारी भूदान आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस भूदान आन्दोलन में ग्रामदान की प्रक्रिया निकली, जो संसार में सामुदायिक समाज बनाने का एक नया मार्ग उपस्थित कर रही है। ग्रामदान तथा भूदान के विचार ने बुनियादी तालीम को एक नया मोड़ दिया, क्योंकि ग्रामदान आन्दोलन में

एक निर्दल लोक-नीति तथा स्वावलम्बी अर्थ-नीति का जो नया विचार निकला है, उससे हमारी बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र बढ़ गया है। इसके पूर्व बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र विभिन्न बुनियादी शालाएँ तथा उसके आस-पास का समाज था, पर अब इन छोटे-छोटे घेरों से निकलकर ग्रामदान ने उसे सम्पूर्ण जन-समाज-रूपी समुद्र में ला खड़ा किया है। वास्तव में बुनियादी शिक्षा की 'सभी की जन्म से मृत्यु तक की शिक्षा' की जो परिकल्पना है उसे रूपायित करने के लिए बुनियादी शालाओं को जन-जीवन के बीच रखकर उन्हें वैसा ही रूप देना होगा जैसा कि समाज है। पर इसके लिए हमें अपने समाज को 'सर्वजन-सुखाय' बनाना होगा अर्थात् सर्वोदयी समाज की स्थापना करनी होगी। यही बुनियादी शिक्षा की जिम्मेदारी है। इस प्रकार अब बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य सर्वोदयी समाज की स्थापना करना निश्चित किया गया।

सन् १९५० में बुनियादी शिक्षा में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्थान तथा स्वरूप पर चर्चा होने लगी थी। सन् १९४८ में राधाकृष्णन् आयोग ने अपने प्रतिवेदन में ग्रामीण विश्वविद्यालयों का सुझाव दिया था। अतः १९५१ के सातवें अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा में विश्वविद्यालयीन शिक्षा पर विचार किया गया तथा तालीमी संघ ने 'उच्च शिक्षा समिति' सेवाग्राम में विश्वविद्यालयीन विद्यालय की योजना बनाने के हेतु नियुक्त की। इस समिति ने विश्वविद्यालयीन शिक्षा को बुनियादी शिक्षा तथा महात्मा गाँधी के उच्च शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से समन्वित करके एक योजना बनाई। इस प्रकार उत्तम बुनियादी शिक्षा का सूत्रपात हुआ। प्रथम उत्तम बुनियादी केन्द्र सेवाग्राम में खोला गया तथा इसमें १८ छात्र भरती किये गए।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश में बुनियादी शिक्षा पर विचार करने के लिए अनेक समितियों की स्थापना की गई। एक समिति उत्पादन तथा स्वावलम्बन पर विचार करने के लिए बनाई गई। इसने बिहार तथा बम्बई राज्यों की बुनियादी शालाओं का कार्य देखा तथा सुझाव प्रस्तुत किये। केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार-मण्डल ने इन पर मार्च १९५२ की अपनी बैठक में विचार किया तथा निम्न निर्णय किये :

१. बुनियादी शिक्षा में जो उत्पादक उद्योग रखे गए हैं उनका शैक्षणिक महत्त्व इतना अधिक है कि यदि आर्थिक लाभ बिलकुल ही न हो तो भी बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था आवश्यक है।
२. राज्य आठ साल की पूर्ण शिक्षा की व्यवस्था करे।
३. शैक्षणिक तथा उत्पादक दोनों दृष्टियों से उद्योग पर बल दिया जाये।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद बुनियादी शिक्षा का काम बहुत बढ़ गया था। शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए संस्थाएँ तथा बुनियादी शालाओं के अधिक-से-अधिक संख्या में खुलने के कारण सन् १९५४ में बुनियादी शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा का एक अलग उपविभाग शिक्षा-मन्त्रालय में खोला गया।

सन् १९५५ के आरम्भ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् के अन्तर्गत एक बुनियादी शिक्षा उपसमिति बनाई गई, जो बुनियादी शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं पर केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय को सुझाव देती है।

बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी शोध कार्य करने के लिए एक राष्ट्रीय अन्वेषण केन्द्र भी खोला गया है।

बुनियादी शिक्षा-मूल्यांकन समिति (१९५५-५६)

देश में बुनियादी शिक्षा की प्रगति की जाँच करने के लिए केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५५ में श्री रामचन्द्रन् की अध्यक्षता में बुनियादी शिक्षा-मूल्यांकन समिति की स्थापना की। इस समिति का प्रमुख कार्य देश में बुनियादी शिक्षा की वर्तमान प्रगति की जाँच करके भावी विकास के लिए सुझाव देना था। इस समिति के सुझाव बड़े बहुमूल्य हैं तथा केन्द्र और राज्य सरकारें इसके अनुसार अपना कार्य आगे बढ़ा रही हैं।

अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा प्रदर्शनी तथा परिषद्

सन् १९५६ में बुनियादी शिक्षा समिति के सुझाव पर देश के लोगों का ध्यान बुनियादी शिक्षा की ओर आकर्षित करने के लिए दिल्ली में २८ अप्रैल से ७ मई तक एक बुनियादी शिक्षा प्रदर्शनी का आयोजन किया गया। इस प्रदर्शनी का उद्घाटन राष्ट्रपति ने किया था। इसमें २४ राज्यों और कुछ संस्थाओं ने भाग लिया था। इसी अवसर पर ३० अप्रैल से २ मई १९५६ तक राज्यों के प्रमुख शिक्षा अधिकारियों की एक परिषद् डॉ० जाकिर

हुसैन के सभापतित्व में नई दिल्ली में हुई। इस परिषद् में प्रमुखतः बुनियादी शिक्षा की कल्पना का स्पष्टीकरण, बुनियादी शिक्षा विकास, सुधार, संगठन, संचालन, निरीक्षण आदि पर विचार किया गया।

देश में बुनियादी शिक्षा के प्रसार तथा विकास के लिए केन्द्र राज्य सरकारों को आर्थिक सहायता देता है। १९५० में भारतीय गणतंत्र के संविधान में १० वर्षों के अन्दर सम्पूर्ण देश में ६ से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य निःशुल्क बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से केन्द्र सरकार ने बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा नीति के रूप में स्वीकार किया है तथा प्रथम पंचवर्षीय योजना में बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए अनेक योजनाएँ कार्यान्वित की हैं।

प्रथम पंचवर्षीय योजना

बुनियादी शिक्षा में प्रयोग करके उपयुक्त तकनीक का विकास करने के लिए एक योजना बनाई गई है। इससे आगे चलकर दूसरी बुनियादी शालाओं में इस तकनीक का उपयोग किया जा सकेगा। इस योजना के अन्तर्गत सघन क्षेत्र चुनकर बुनियादी तथा समाज-शिक्षा की निम्न संस्थाओं को खोला गया है :

१. (अ) एक स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय—बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों तथा संचालन कार्य के विशेष कार्यकर्ता तैयार करने के हेतु।

(ब) एक सीनियर बुनियादी शाला—अभ्यास के लिए।

२. (अ) बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय—प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए।

(ब) दो जूनियर बुनियादी शाला—अभ्यास के लिए।

३. पाँच आदर्श सामुदायिक केन्द्र।

४. एक संगठित पुस्तकालय—आसपास के गाँवों को लाभान्वित करने के लिए।

५. एक जनता कालेज।

सघन क्षेत्र की कुछ वर्तमान प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने का समावेश भी इस योजना में है। इस योजना को प्रयोग के रूप में

स्नातकोत्तर स्तर तक की बुनियादी शिक्षा का काम देखने के लिए चालू किया गया है। अभी २७ राज्यों में ३८ ऐसे सघन क्षेत्रों में कार्य चल रहा है।

इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए केन्द्रीय सरकार राज्यों को अनावर्तक खर्च का ६६ प्रतिशत तथा आवर्तक खर्च का ६० प्रतिशत, ५० प्रतिशत तथा ३३⅓ प्रतिशत आगामी वर्षों में देती रहेगी।

एक दूसरी योजना के अनुसार शहरी क्षेत्रों में बुनियादी शालाएँ खोलने का प्रावधान रखा गया है। योजना आयोग की एक योजना के अनुसार बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए किये गए आवर्तक तथा अनावर्तक व्यय का ३० प्रतिशत राज्य को दिया जाता है।

केन्द्र राज्यों को नई बुनियादी शालाएँ खोलने, गैर-बुनियादी शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने, उद्योग शिक्षकों के प्रशिक्षण, बुनियादी शालाओं में शिक्षा सामग्री तैयार करने आदि के लिए १९५४-५५ से अनुदान देता है। कुछ गैर-सरकारी संस्थाओं को भी बुनियादी शिक्षा का प्रसार करने के हेतु किये गए कार्यों के लिए अनावर्तक व्यय का ६६ प्रतिशत तथा आवर्तक व्यय का ५० प्रतिशत दिया जाता है।

सन् १९५० में ऐसे राज्यों के लिए, जिन्होंने बुनियादी का कोई कार्य तब तक प्रारम्भ नहीं किया था, एक पाठ्यक्रम प्रकाशित किया गया था। बुनियादी शिक्षकों के मार्गदर्शन के लिए एक संदर्शिका का प्रकाशन भी किया गया है। बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी भ्रान्तियों के निवारण के लिए 'बुनियादी शिक्षा की कल्पना' नामक पुस्तिका भी प्रकाशित की गई है। इसके साथ बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी अन्य पठनीय सामग्री की सूची भी प्रकाशित हुई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी ऐसे ही कार्यक्रम बनाये गए हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि ये कार्यक्रम वृहद् पैमाने पर आयोजित होंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल तक बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी निम्न विकास हुआ है। इसी के आधार पर योजना आयोग ने निम्नलिखित लक्ष्य रखे हैं :

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१
१. बुनियादी शालाएँ	१,७५१	१०,०००	३८,४००
२. दर्ज संख्या	१,८५,०००	११,००,०००	४२,२४,०००
३. बुनि० प्रशिक्षण संस्थाएँ	११४	५४९	७२९

उपरोक्त आँकड़ों से पता चलता है कि सन् १९५०-५१ में प्राथमिक स्तर के दर्ज छात्रों की संख्या का १ प्रतिशत बुनियादी शालाओं में दर्ज था। यह प्रतिशत प्रथम योजना काल के बाद ५५-५६ में ४ प्रतिशत हो गया तथा द्वितीय योजना काल के बाद १९६०-६१ में ११ प्रतिशत होने की आशा है।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए द्वितीय योजना काल में अधिक-से-अधिक बुनियादी शालाएँ खोलने, गैर-बुनियादी शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने, बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाएँ खोलने, गैर-बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने, बुनियादी शिक्षा-क्षेत्र के निरीक्षकों को प्रशिक्षण देने, बुनियादी साहित्य तैयार करने, महिलाओं को बुनियादी में प्रशिक्षित करने आदि की योजनाएँ बनाई गई हैं। द्वितीय योजना काल में जहाँ तक होगा सम्पूर्ण बुनियादी शालाएँ ८वीं कक्षा तक स्थापित की जायेंगी। बुनियादी शालाओं को जन-जीवन केन्द्रों के रूप में विकसित करने के लिए बुनियादी शिक्षा को कृषि, ग्रामीण उद्योग, सहकारिता तथा सामुदायिक विकास आदि योजनाओं के कार्यक्रमों से सम्बन्धित किया जायेगा। माध्यमिक शिक्षा-परिषद् के समान प्राथमिक तथा बुनियादी शिक्षा-परिषद् की स्थापना भी की जायेगी।

माध्यमिक स्तर पर बुनियादी शिक्षा को समन्वित करने के लिए केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने एक समिति का गठन भी द्वितीय योजना काल में किया है, जो समय-समय पर उचित सलाह देती है। देश में उत्तर-बुनियादी शालाएँ अधिक संख्या में खोलने की योजना भी द्वितीय पंचवर्षीय योजना में रखी गई है।

मध्यप्रदेश में बुनियादी शिक्षा

मध्यप्रदेश की बुनियादी शिक्षा पर हम निम्नलिखित दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं :

१. नई बुनियादी शालाएँ खोलना।

२. प्रचलित प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करना।

३. बुनियादी शिक्षकों तथा कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण।

नई बुनियादी शालाएँ खोलना :

नवीन मध्यप्रदेश के महाकोशल क्षेत्र में सन् १९३९ में ८७ विद्यामन्दिर खोले गए थे। इन विद्यामन्दिरों में बुनियादी शिक्षा का कुछ अंश सम्मिलित था। पर इन्हें पूर्ण बुनियादी नहीं कह सकते हैं। सन् '४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद महाकोशल क्षेत्र की प्रत्येक तहसील में एक-एक बुनियादी शाला प्रयोग के लिए खोली गई। मध्यभारत क्षेत्र में ५१-५२ तथा विन्ध्यप्रदेश और भोपाल क्षेत्र में ५२-५३ से इस दिशा में कार्य हुआ। इन क्षेत्रों की सभी बुनियादी शालाओं में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ द्वारा निर्धारित अष्टवर्षीय बुनियादी पाठ्यक्रम ही चलता है। इन बुनियादी शालाओं के अतिरिक्त अन्य नई बुनियादी शालाओं की स्थापना की गई तथा की जा रही है। मध्यप्रदेश शासन ने बुनियादी शालाओं की संख्या-वृद्धि के लिए प्राथमिक शालाओं के शिक्षकों का न्यूनतम वेतनमान भी बढ़ाकर ४० रुपए मासिक कर दिया है। इससे शिक्षकों तथा अन्य कार्यकर्ताओं को अधिक प्रोत्साहन मिला है। साथ-ही-साथ बुनियादी शालाओं की वृद्धि के लिए सघन क्षेत्रों का निर्माण भी किया गया है। इस सघन क्षेत्रों की शालाओं को बुनियादी बनाया गया है जिससे आसपास की गैर-बुनियादी शालाओं पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ रहा है। पर अभी भी गैर-बुनियादी शालाओं की संख्या बहुत अधिक होने से बुनियादी तथा गैर-बुनियादी दो भेद हो गए हैं। इस भेद तथा अन्तर को दूर करने के लिए मध्यप्रदेश शासन ने एक नवीन पाठ्यक्रम तैयार किया है, जिसके आधारभूत सिद्धान्त अष्टवर्षीय बुनियादी पाठ्यक्रम के अनुकूल ही हैं। इस पाठ्यक्रम को समस्त राज्य की प्राथमिक शालाओं में लागू किया गया है। इससे सम्पूर्ण राज्य की प्राथमिक शिक्षा का एकीकरण तो होगा ही, साथ-ही-साथ इससे बुनियादी तथा गैर-बुनियादी का भेद भी कम होगा। शिक्षा-विभाग तहसील, जिला तथा राज्य-स्तर पर सेमीनारों या संगोष्ठियों का आयोजन भी समय-समय पर करता है।

इन सगोष्ठियों में शालाओं के अधिपाठक तथा शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करनेवाले कर्मचारी-गण बुनियादी तथा गैर-बुनियादी के भेद को कम करने के उपायों पर विचार करते हैं। इनके निष्कर्षों के आधार पर शासन आवश्यक कार्यवाई करके बुनियादी शिक्षा के स्वरूप को निश्चित करने के लिए प्रयत्नशील है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में प्रान्त में ८० बुनियादी शालाएँ खोली गईं। तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में इसके लिए भोपाल विभाग में ६२'६१ लाख रुपयों का प्रावधान है। इसके साथ-साथ एक हजार कक्षाएँ खोलने की योजना भी है। मध्यभारत विभाग में ६७० शालाएँ खोलने के लिए ४'५८ लाख रुपयों का प्रावधान रखा गया है। इनमें से '५८ के अन्त तक १५६ शालाएँ खोली जा चुकी हैं। विन्ध्यप्रदेश विभाग में भी इसके लिए १०'०० लाख रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई है। महाकोशल क्षेत्र में ७८० केन्द्रीय शालाएँ खोलने का लक्ष्य रखा गया है। सन् १९५७ तक १८० केन्द्रीय शालाएँ स्थापित की जा चुकी हैं। इस योजना के अनुसार केन्द्रीय शालाओं के प्रधानाध्यापक को ३०) माहवार अलाउन्स दिया जाता है तथा वह अपने आसपास के ५ मील के क्षेत्र में स्थित शालाओं के शिक्षकों का मार्ग-दर्शन करता है।

प्रचलित प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करना।

प्रचलित प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने के लिए मध्यप्रदेश शासन निम्नलिखित कार्य कर रहा है :

१. प्रचलित माध्यमिक शालाओं के अप्रशिक्षित शिक्षकों को बुनियादी में प्रशिक्षित करना।
२. अधिकारियों तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए शिविरों तथा विचार-संगोष्ठियों का आयोजन।
३. शालाओं में उद्योग तथा अन्य साज-सज्जा की व्यवस्था करना।
४. शिक्षितों की बेकारी निवारणार्थ कार्यान्वित योजना के अन्तर्गत नियुक्त शिक्षकों को बुनियादी में प्रशिक्षित करना।
५. बुनियादी सम्मेलनों में प्रतिनिधि भेजना।

प्रचलित प्राथमिक शालाओं के प्रशिक्षित शिक्षकों को बुनियादी में प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना सिवनी तथा रायगढ़ में की गई है। इन केन्द्रों में प्रशिक्षण की अवधि ४५ दिनों की होगी तथा प्रत्येक क्षेत्र में ७५ शिक्षक प्रशिक्षित होते हैं। राज्य में गैर-बुनियादी शालाओं की संख्या देखते हुए इस प्रकार के और भी केन्द्र खोलना आवश्यक है।

अधिकारियों तथा शिक्षकों के विशेष प्रशिक्षण के लिए राज्य के सभी विभागों में ग्रीष्म तथा शरदकालीन अवकाशों में शिविर तथा विचार संगोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इस योजना के अनुसार सन् १९५७-५८ तक ३०३ शिविर आयोजित किये जा चुके हैं।

शासन ने प्रतिवर्ष ४५० शालाओं को बुनियादी की साज-सज्जा देने की व्यवस्था की है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में साधन-सज्जा के लिए २,०३,००० रुपयों का प्रावधान है। शालाओं को कृषि के लिए भूमि उपलब्ध कराने के प्रयत्न भी किये जा रहे हैं।

सन् १९५८-५९ में शरदकालीन अवकाश के समय से सम्पूर्ण राज्य के प्रशिक्षण विद्यालयों में शिक्षित बेकारी उन्मूलन योजना के अन्तर्गत नियुक्त शिक्षकों को दो माह के अल्पकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गई थी।

द्वितीय योजना काल में भोपाल विभाग की ४०० शालाओं, विन्ध्यप्रदेश की २००० कक्षाओं, मध्यभारत विभाग की १५०० शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करने की योजना है।

इसके साथ-साथ देश में जहाँ कहीं भी बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन या संगोष्ठियाँ होती हैं वहाँ शासन अपने प्रतिनिधि काफी संख्या में भेजता है। इससे राज्य के इस क्षेत्र के कार्यकर्ता बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी नवीन गतिविधियों से परिचित होते रहते हैं।

शिक्षकों तथा कार्यकर्ताओं का बुनियादी में प्रशिक्षण

मध्यप्रदेश में बुनियादी क्षेत्र में कार्य करने के लिए शिक्षकों तथा अन्य कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण के लिए निम्नलिखित तीन प्रकार की व्यवस्थाएँ की गई हैं :

१. बुनियादी शालाओं के शिक्षकों तथा इन शालाओं में निरीक्षण करनेवालों के प्रशिक्षण की व्यवस्था।
२. बुनियादी प्रशिक्षण शालाओं के शिक्षकों के प्रशिक्षण की बुनियादी में व्यवस्था।
३. वर्तमान प्राथमिक शालाओं में कार्य करनेवाले प्रशिक्षित शिक्षकों को पुनः प्रशिक्षित करने की व्यवस्था।

इसके लिए स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय (जबलपुर, भोपाल तथा उज्जैन) और २३ बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय खोले गए हैं। महिलाओं के प्रशिक्षण के लिए राज्य में चार महिला प्रशिक्षण विद्यालय चल रहे हैं। सन् १९६०-६१ में जुलाई में १ स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय ग्वालियर तथा २७ बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय राज्य के विभिन्न स्थानों में खोले जायेंगे। इन प्रशिक्षण विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में शिक्षण-कला के ज्ञान के साथ-साथ सामाजिक जीवन की शिक्षा भी दी जाती है। शासन ने प्रत्येक जिले में एक प्रशिक्षण विद्यालय खोलने की नीति ही बना ली है। इसके साथ-साथ अल्पकालीन प्रशिक्षण केन्द्र भी रायगढ़ तथा सिवनी में खोले गए हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भोपाल में २ प्रशिक्षण महाविद्यालय, विन्ध्य-प्रदेश में ८ प्रशिक्षण विद्यालय, मध्यभारत में ६ प्रशिक्षण विद्यालय, १ प्रशिक्षण महाविद्यालय, तथा १ महिला प्रशिक्षण विद्यालय खोलने का प्रावधान है। इनमें से प्रायः सभी प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाएँ खोली जा चुकी हैं। अगले वर्ष ग्वालियर में बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय तथा कुण्डेश्वर के बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय को स्नातकोत्तर स्तर का बनाने की योजना भी है। भोपाल के स्नातकोत्तर बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय के विस्तार के लिए ५७-५८ में तीन लाख रुपयों का प्रावधान था।

राज्य के मध्यभारत क्षेत्र के प्रशिक्षण विद्यालयों तथा उनके शिक्षकों के लिए भवन निर्माण की योजना भी है। इसके लिए क्रमशः [illegible] लाख तथा ४.५० लाख रुपयों का प्रावधान है।

महाकोशल क्षेत्र में बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों के भवन-निर्माण के लिए ३२ लाख रुपयों का प्रावधान है। विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र में बुनियादी प्रशिक्षण

गस्थाओं के छात्रावास के लिए ११°५० लाख लागत के १२ भवन बनाने की योजना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यप्रदेश में बुनियादी शिक्षा की अच्छी प्रगति हो रही है। शासकीय तथा सार्वजनिक निजी प्रयत्नों को समन्वित करने के लिए महाकोशल में सन् '४७ में तथा मध्यभारत में सन् '५४ में 'बुनियादी शिक्षा समिति' का निर्माण किया गया था। नवीन राज्य के निर्माण के बाद सन् १९५८ में इन समितियों का एकीकरण करके सम्पूर्ण राज्य के लिए एक 'बुनियादी शिक्षा समिति' बनाई गई। बुनियादी साहित्य की बड़ी कमी है। अतः शासन ने बुनियादी साहित्य-निर्माण में योगदान देने के लिए दो शिक्षकों की सेवाएँ हिन्दुस्तानी तालिमी संघ को दी थीं। शासन भी शालाओं के लिए उपयोगी एवं सस्ती पुस्तकें प्रकाशित करता है। राज्य के बुनियादी क्षेत्रों में कार्य करने वाले कार्यकर्ताओं ने भी बुनियादी साहित्य की ओर ध्यान दिया है तथा बुनियादी की कुछ अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन भी हुआ है। इस दिशा में और अधिक कार्य करने तथा शासन की ओर से बुनियादी साहित्य प्रकाशन को विकसित करने के लिए एक समिति का गठन किया गया है। शिक्षा-विभाग एक बुनियादी त्रैमासिक पत्रिका निकालने के लिए भी प्रयत्नशील है।

अध्याय १०

बुनियादी शिक्षा के विभिन्न प्रयोगों में विश्वभारती, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, गाँधीग्राम तथा जामिया मिलिया का योगदान

बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य वर्तमान समाज को बदलकर एक शोषण विहीन सर्वोदयी समाज का निर्माण करना है। अतः इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को लाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था के आधारों में आमूल परिवर्तन किये जायं, क्योंकि आज के समाज के आधारों पर हम इस नये जाग्रत शोषण विहीन समाज के महल को खड़ा नहीं कर सकते। वर्तमान समाज के आधार तो मानव की प्रमुख आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों के ही अनुकूल नहीं हैं। आज के समाज की प्रतिस्पर्धा, वर्गभेद, जटिलता आदि ने उसे कृत्रिम रूप दे दिया है। इसे सहयोग, सरलता, स्वाभाविकता, वर्गहीनता आदि पर आधारित करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान समाज के दोषों को दूर किया जाये तथा नये समाज की पुनर्रचना प्रारम्भ की जाये। इन दोनों प्रकार के कार्यों के लिए शिक्षा में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। शिक्षा में आमूल परिवर्तन का मतलब यह होगा कि बालक के सीखने, ज्ञान पाने, पाठ्यक्रम, वर्गीकरण, परीक्षा, पुस्तकें, प्रतिस्पर्धा आदि अनेक बातों में आमूल परिवर्तन होगा तथा इन सभी का आधार प्रत्यक्ष जीवन तथा जीवन की ठोस परिस्थितियाँ होंगी न कि ज्ञान, जैसा कि अभी शालाओं में होता है।

वर्तमान समाज का स्वरूप बदलने की दिशा में भारत के अनेक विद्यालयों तथा संस्थाओं ने आज अनेक वर्षों पूर्व ही कार्य प्रारम्भ कर दिया था। प्रारम्भ में तो इन विद्यालयों तथा संस्थाओं ने अपनी सीमाओं में आचार-व्यवहार की पद्धति भारतीय आवश्यकताओं के अनुकूल की थी। पर आगे चलकर इन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग स्वतन्त्रता से करना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय शक्ति

बदली गई और राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता गया इन राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं का रूप भी बदलता गया। इन संस्थाओं में से अनेक संस्थाएँ बुनियादी शिक्षा के स्वरूप निर्धारित होने के पूर्व से ही चल रही थीं, जैसे विश्वभारती, जामिया मिलिया आदि, पर हिन्दुस्तानी तालीमी संघ तथा गाँधीग्राम आदि तो बुनियादी शिक्षा के प्रयोगस्थलों के रूप में ही स्थापित की गई थीं। जो राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ १९३७ के पूर्व अर्थात् बुनियादी शिक्षा के भारत में प्रयोग प्रारम्भ होने के पूर्व से चल रही थीं, उन्होंने बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों तथा विधियों का प्रयोग भी यथासमय प्रारम्भ किया। इस अध्याय में हम इन राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं में से विश्वभारती, जामिया मिलिया, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ तथा गाँधीग्राम के बुनियादी शिक्षा के विभिन्न प्रयोगों के सम्बन्ध में ही विस्तार से चर्चा करेंगे।

विश्वभारती

आज जो विश्वभारती एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का केन्द्र बनकर संसार की, विशेषतया एशिया की सभ्यताओं का केन्द्र बन रहा है, उसका प्रारम्भ महर्षि टैगोर के द्वारा शान्तिनिकेतन नाम के छोटे-से विद्यालय के रूप में १९०१ में हुआ था। यह विद्यालय वर्तमान शिक्षा की बुराइयों को दूर करते हुए प्राचीन भारतीय प्रणाली से वर्तमान परिस्थिति के अनुकूल शिक्षा देने के उद्देश्य से खोला गया था। धीरे-धीरे यह विद्यालय उन्नति करता गया। सन् १९१९ में महर्षि टैगोर ने इस विद्यालय के साथ एक ऐसी संस्था को स्थापित करना चाहा जो पूर्वीय देशों की सभ्यता का केन्द्र हो। इसी उद्देश्य से सन् १९१९ में इसमें वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, बौद्ध साहित्य, अरबी, पाली, प्राकृत आदि के अध्ययन की व्यवस्था की गई। बाद में चीनी तथा तिब्बती भाषाओं और चित्रकला, संगीत-कला आदि के अध्ययन की व्यवस्था भी इसमें की गई। सन् १९२०-२१ के यूरोप-भ्रमण के उपरान्त टैगोर महोदय को पूर्व और पश्चिम के मिलन स्थल के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसी उद्देश्य से सन् १९२१ में २२ दिसम्बर को विश्वभारती की स्थापना हुई। विश्वभारती के कुछ प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

१. मानव के विविध दृष्टियों से सत्य के विभिन्न रूपों का साक्षात्कार करने की विधियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मानस-चित्त का अनुशीलन करना।

२. पूर्व की विविध सभ्यताओं में मौलिक एकता के आधार पर सुदृढ़ सम्बन्ध स्थापित करना।

३. एशिया के जीवन और विचार की इस एकता की दृष्टि से पश्चिम का निरीक्षण करना।

४. पूर्व और पश्चिम की एकता का प्रयास करना।

५. पूर्व और पश्चिम की एकता तथा विचारों के स्वतन्त्र, स्वच्छन्द आदान-प्रदान के हेतु एक केन्द्र स्थापित करना।

विश्वभारती का कार्य शान्तिनिकेतन और श्रीनिकेतन नामक दो संस्थाओं द्वारा सम्पन्न होता है। शान्तिनिकेतन के अन्तर्गत विद्याभवन, शिक्षा विभाग तथा कला-भवन हैं। श्रीनिकेतन में कृषि और ग्राम-सुधार-सम्बन्धी प्रयोग और शिक्षा-शाखाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कलकत्ते में छापाखाना, त्रैमासिक पत्रिका और पुस्तक-प्रकाशन विभाग भी इनके अन्तर्गत हैं।

विद्याभवन में विद्वानों द्वारा पुरातत्व और खोज-सम्बन्धी काम-काज होते हैं। इसमें विभिन्न देशों के विद्वान शोध-कार्य करते हैं। शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत शाला की प्रथम श्रेणी से लेकर महाविद्यालयीन शिक्षा की व्यवस्था है। यहाँ वर्षा आदि के दिनों को छोड़कर प्रायः वर्ष-भर पेड़ों के नीचे ही कक्षाएँ लगती हैं। साधारणतः एक कक्षा में १५ विद्यार्थी रहते हैं तथा सहशिक्षा है। स्कूली शिक्षा में दस्तकारी की शिक्षा अनिवार्य है। प्रकृति-निरीक्षण तथा ग्राम्य-जीवन के परिचय पर प्रारम्भ से ही बल दिया जाता है। पास के ही गाँव में रात्रि पाठशाला भी लगती है, जहाँ बालक-बालिकाएँ पारी-पारी से जाकर शिक्षा देने का काम करती हैं। कक्षा में शिक्षा या ज्ञान-प्राप्ति पर अधिक बल न देकर यहाँ आश्रम के जीवन को अधिक महत्व दिया जाता है। बालिकाओं का छात्रावास अलग है। १२ वर्ष से छोटे बालक भी अलग रखे जाते हैं। अपराध आदि करने पर विद्यार्थियों की सभाएँ ही दण्ड आदि का निर्णय करती हैं। भोजन तथा अन्य व्यवस्था भी बाल-समितियों द्वारा ही होती है। ये समितियाँ शिक्षकों

के मार्गदर्शन में कार्य करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-विभाग का नामकरण ही बुनियादी नहीं है बाकी सभी काम बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों के अनुकूल ही चलता है। ऊँच नीच का कोई भेद-भाव नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के लिए अनुभव पर बल दिया जाता है। भारतीयता के अनुकूल ही यहाँ का वातावरण रहता है।

कला-भवन में पुस्तकालय तथा संग्रहालय हैं, जिनमें भारत तथा अन्य देशों की वस्तुएँ भी रहती हैं। यहाँ उच्च कोटि की चित्रकला-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। यह संगीत तथा नृत्य-शिक्षण का भी उच्चकोटि का केन्द्र है।

इसके अतिरिक्त शान्तिनिकेतन में सहकारी दुकान, बिजलीघर, अस्पताल, अतिथिशाला आदि भी हैं।

विश्वभारती के दूसरे अंग श्रीनिकेतन के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

१. ग्रामवासियों में रुचि लेते हुए उनकी समस्याओं का उचित हल करना।

२. ऐसी प्रयोगशालाएँ तथा शालाएँ खोलना जो गाँवों की समस्याओं का अध्ययन करें तथा कृषि-सम्बन्धी प्रयोग करें।

३. शाला के अध्ययन तथा प्रयोगशाला के प्रयोगों से जो ज्ञान प्राप्त हो उससे ग्रामवासियों की सफाई, कृषि, स्वास्थ्य आदि का सुधार करना।

श्रीनिकेतन का कार्य ग्राम-सुधार, कृषि, उद्योग, शिक्षा आदि विभागों में विभाजित है। श्रीनिकेतन में सहकारी संस्थाएँ स्थापित करने, रोग-निवारण, प्रौढ़-शिक्षा, वाचनालय स्थापित करना, सामाजिक उत्थान के कार्य करना आदि अनेक प्रकार के ग्राम-सेवा तथा सुधार के कार्य किये जाते हैं। इसमें विभिन्न उद्योगों तथा कृषि आदि की शिक्षा की व्यवस्था भी है।

विश्वभारती के शान्तिनिकेतन एवं श्रीनिकेतन की विभिन्न परीक्षाओं तथा पाठ्यक्रम आदि की व्यवस्था विश्वभारती विश्वविद्यालय करता है। इसके पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय में यहाँ की परीक्षाएँ होती थीं।

विश्वभारती के कार्यों, शिक्षा की व्यवस्था आदि के उपरोक्त विवरण से हमें यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि यहाँ की शिक्षा भारतीय वातावरण के अनुरूप तथा प्रत्यक्ष अनुभव तथा जीवन के माध्यम से दी जाती है। यहाँ के शिक्षा-सम्बन्धी सभी कार्य देश तथा गाँवों के सुधार के हेतु किये जाते हैं। इनका भी

ध्येय समाज में देशोन्नति के लिए आवश्यक परिवर्तन लाना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वभारती तथा बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों में साम्य है तथा दोनों एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जो वास्तविक रूप में भारतीय हो तथा जो समानता, भाईचारे की भावना, सहयोग तथा स्वतंत्रता पर आधारित हो। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दोनों एक ही पथ के पथिक हैं तथा विश्वभारती का शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग बुनियादी शिक्षा से ही सम्बन्धित एक प्रयोग है।

जामिया मिलिया दिल्ली

जामिया मिलिया की स्थापना सन् १९२० में २९ अक्तूबर को अलीगढ़ में हुई थी। प्रारम्भ में इसे केन्द्रीय खिलाफत कमेटी से सहायता मिलती थी। इसके कार्यकर्ता स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए अलग से एक फण्ड स्थापित करना चाहते थे। लगातार प्रयत्नों के बाद भी इसे धन की कमी बनी रही तथा फलस्वरूप यह संस्था इच्छानुसार विकसित न हो सकी। १ जुलाई सन् १९२५ को जामिया मिलिया संस्था अलीगढ़ से दिल्ली लाई गई। तब से यह दिल्ली में ही स्थित है।

जामिया में पहिले एक महाविद्यालय तथा एक शाला थी। इनके अतिरिक्त दिल्ली में एक शाखा शाला, पेशावर और रंगून में एक-एक हाईस्कूल जामिया से सम्बद्ध थे। अब इसका विस्तार एक विश्वविद्यालय के रूप में हो गया है। जामिया की विशेषता यहाँ की धार्मिक शिक्षा थी जो सबके लिए अनिवार्य है चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान। हिन्दुओं को संस्कृत, धर्मशास्त्र, भगवद्गीता, रामायण आदि पढ़ाये जाते हैं।

बुनियादी शिक्षा की दृष्टि से जामिया मिलिया एक बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के बाद जामिया का नाम ही बुनियादी शिक्षा के प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। आजकल यहाँ बुनियादी शिक्षा के शिक्षकों के प्रशिक्षण के दो प्रकार के पाठ्यक्रम चल रहे हैं : (१) स्नातकों के लिए उच्च पाठ्यक्रम तथा (२) मैट्रिक-उत्तीर्ण के लिए निम्नलिखित पाठ्यक्रम हैं :

जामिया अनेक वर्षों से बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में स्नातक-स्तर के प्रयोग

कर रहा है। यहाँ आसाम, बम्बई, राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत, उत्तरप्रदेश आदि राज्यों से स्नातक शिक्षक बुनियादी के प्रशिक्षण को भेजे जाते रहे हैं। जामिया के स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण को केन्द्रीय सरकार ने १९५० में मान्यता दी थी। तब से इस संस्था में भरती के लिए अधिक भीड़ होने लगी।

स्नातकों के लिए उच्च पाठ्यक्रम

जामिया संस्था के स्नातक कोर्स में सीनियर बेसिक शालाओं के शिक्षकों, निरीक्षकों, बुनियादी प्रशिक्षण संस्थाओं के शिक्षकों तथा निरीक्षकों को प्रशिक्षण मिलता है। प्रारम्भ में तो बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्त तथा विधियों से परिचित कराया जाता है तथा बाद में विशेषीकृत कोर्स में प्रशिक्षण उनके इच्छानुकूल दिया जाता है।

यह पाठ्यक्रम मैट्रिक पास ऐसे व्यक्तियों के लिए है जो शैक्षणिक कार्य करना चाहते हैं। पिछले कुछ वर्षों में इसकी काफी वृद्धि हुई है। इस पाठ्यक्रम में सिद्धान्त, व्यवहार तथा मूलोद्योग—तीनों प्रकार की शिक्षा पर समान बल दिया जाता है। इसमें कार्य द्वारा शिक्षा तथा उद्योग तथा शिक्षा-मनोविज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस पाठ्यक्रम में इस बात पर हमेशा ध्यान दिया जाता है कि शिक्षा किस प्रकार नवीन सामाजिक रचना लाने में सहायक हो सकती है। इससे प्रशिक्षार्थी सुनागरिक बनते हैं।

मैट्रिक उत्तीर्ण के लिए निम्न पाठ्यक्रम

यहाँ सभी के लिए दो मूलोद्योग अनिवार्य हैं—(१) कताई तथा (२) कृषि। इसके साथ-साथ अनेक गौण उद्योगों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ भी यहाँ हैं—जैसे कताई-बुनाई, कार्डबोर्ड तथा गत्ते का काम, बागवानी तथा कृषि, लकड़ी का काम, कागज का काम, मिट्टी का काम आदि। प्रतिदिन आधा समय उद्योग तथा आधा समय सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक शिक्षण में व्यय किया जाता है।

मूल्यांकन के लिए सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा उद्योग परीक्षा पर बराबर-बराबर अंक रखे गए हैं। इस प्रकार यहाँ तीनों को एक-सा महत्त्व दिया गया

है। स्वावलम्बन तथा मितव्ययिता का यहाँ पूर्ण ध्यान रखा जाता है। यहाँ की निर्मित अनेक वस्तुओं की खपत संस्था में ही हो जाती है।

इन दो प्रकार के पाठ्यक्रमों तथा प्रशिक्षण के अतिरिक्त जामिया संस्था अल्पकालीन बुनियादी का प्रशिक्षण तथा संगोष्ठियों का आयोजन भी करती है। इनमें विभिन्न राज्यों से शिक्षक तथा शिक्षाधिकारी आते हैं।

इसके साथ-साथ यहाँ बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी साहित्य निर्माण, शोध-कार्य, प्रयोग आदि भी चलते रहते हैं। इस प्रकार जामिया बुनियादी शिक्षा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ

हिन्दुस्तानी तालीमी संघ गाँधीजी द्वारा सन् १९३७ में प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करनेवाली एक शैक्षणिक संस्था है। इसकी स्थापना सन् १९३८ में अखिल भारतीय कांग्रेस के प्रस्ताव के पास होने पर सेवाग्राम में बुनियादी शिक्षा के प्रयोग तथा उससे सम्बन्धित शोध कार्य करने के लिए की गई थी। सन् १९३८ के उपरान्त यह तालीमी संघ श्री आर्य-नायकम् की अध्यक्षता में सेवाग्राम तथा आसपास अपनी निजी शालाएँ तथा प्रशिक्षण संस्थाएँ चला रहा है। यह देश में कहीं भी चल रहे बुनियादी शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोगों में सहायता देता तथा उचित मार्गदर्शन करता है। सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी प्रकार के शिक्षा से सम्बन्धित विभागों से यह सहयोग करता तथा विभिन्न राज्यों से भेजे गए शिक्षकों और अधिकारियों को बुनियादी में प्रशिक्षण देता है। इस प्रकार प्रारम्भ से ही तालीमी संघ दो प्रकार के उत्तर-दायित्वों को वहन करता रहा है।

१. अपनी संस्थाएँ स्थापित करके स्वयं प्रयोग करना, उनमें संशोधन तथा विभिन्न विधियों का निर्माण करके उन्हें इन संस्थाओं में मूर्तरूप प्रदान करना। यह सब संघ सेवाग्राम तथा आसपास के बालकों तथा ग्रामीण सामाजिक जीवन के सम्पर्क से अनुभव के आधार पर करता रहा है।

२. अपने कार्यक्षेत्र के अनुभवों के द्वारा देश की सरकारी तथा गैर-सरकारी बुनियादी संस्थाओं का उचित मार्गदर्शन करना।

तालीमी संघ के ये दोनों कार्य परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। आज संघ के समाज के पास सेवाग्राम में १०० एकड़ भूमि है। इस भूमि पर उत्पादन करके ही यहाँ की संस्थाएँ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। मई १९५३ में यहाँ एक डेरी भी प्रारम्भ की गई थी। इससे संघ की संस्थाओं की दूध, मट्ठा, दही की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तथा अतिरिक्त दूध दही से घी तैयार किया जाता है। सेवाग्राम में इन सभी उद्योगों को चलाने तथा आवश्यकता पड़ने पर औजारों आदि की मरम्मत के लिए कार्यशालाएँ भी हैं।

सन् १९४७ में सेवाग्राम तथा देश के अन्य क्षेत्रों में विशेषतः बिहार में बालकों ने बुनियादी का अष्टवर्षीय शिक्षण पूर्ण कर लिया था तथा इनमें से कुछ उत्तर-बुनियादी तालीम प्राप्त करना चाहते थे। इस दृष्टि से १६ से १९ वर्ष के युवकों के लिए उत्तर-बुनियादी शिक्षा देने के हेतु यहाँ एक उत्तर-बुनियादी भवन की स्थापना की गई। सन् १९५१ तथा १९५२ में एक एक दल चारवर्षीय उत्तर-बुनियादी पाठ्यक्रम पूर्ण करके यहाँ से निकला। उत्तर बुनियादी तालीम का ध्येय बुनियादी शिक्षा के समान केवल शिक्षकों की तनख्वाह तथा कुछ ऊपरी खर्च निकालना-मात्र नहीं है। यहाँ उत्तर-बुनियादी संस्था तो एक 'स्कूली गाँव' है जहाँ शिक्षक तथा विद्यार्थी अपना एक समाज बनाकर रहते हैं। यहाँ ६५ प्रतिशत जीवन का स्वावलम्बन प्राप्त हो सका है। यहाँ कृषि मूलोद्योग के रूप में सिखाई जाती है तथा बालक को प्रौढ़ जीवन के उत्तरदायित्वों का ज्ञान तथा प्रशिक्षण दिया जाता है।

सन् १९४९ में प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के आग्रह पर तालीमी संघ ने फरीदाबाद तथा राजपुरा में विस्थापितों के शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना का कार्य अपने हाथ में लिया। अब यहाँ आदर्श ग्राम स्थापित हुए हैं। यह संघ के लिए नई तालीम के एक नये प्रयोग का अवसर था, क्योंकि इन स्थानों में दुःखी, कष्ट झेले हुए विस्थापितों के समाज में नई तालीम के सिद्धान्तों के प्रयोग किये गए।

सन् १९५० में विश्वविद्यालयीन शिक्षा या बुनियादी तालीम के क्षेत्र में

स्थान तथा स्तर पर बहुत अधिक चर्चा होने लगी। सन् १९४८ में राधा-कृष्णन् कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में ग्रामीण विश्वविद्यालयों पर अधिक बल दिया था। इसमें डा० मॉरगन ने बड़ा योग दिया था। अतः सन् १९५१ में सातवें अखिल भारतीय बुनियादी शिक्षा-सम्मेलन में बुनियादी शिक्षा में विश्वविद्यालयीन शिक्षा का विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। इस सम्मेलन के उपरान्त तालीमी संघ ने सेवाग्राम में विश्वविद्यालयीन विद्यालय की योजना बनाने के हेतु 'उच्च शिक्षा उपसमिति' का निर्माण किया। इस प्रकार उच्च शिक्षा को बुनियादी तालीम तथा महात्मा गाँधी के उच्च शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से समन्वित करने का प्रयत्न किया गया। इस ध्येय से इस समिति ने निम्नलिखित सात शिक्षा तथा शोध के केन्द्र चुने, जिन्हें तालीमी संघ ने मान्यता दी :

१. कृषि।
२. पशुपालन तथा डेरी।
३. ग्रामीण इंजीनियरिंग।
४. ग्रामीण उद्योग (खादी सहित)।
५. ग्रामीण सार्वजनिक स्वास्थ्य।
६. भोजन टेक्नालाजी तथा पोषण।
७. ग्रामीण शिक्षा।

इस प्रकार १९५२ में उत्तम बुनियादी शिक्षा का सूत्रपात १८ युवकों की भरती से हुआ।

प्रारम्भ से ही तालीमी संघ बुनियादी संस्थाओं के लिए शिक्षकों के तथा शिक्षा-विभागीय अधिकारियों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित रहा है। संघ का नई तालीम भवन शिक्षकीय कार्य की समस्याओं के हल का केन्द्र रहा है। १९४२ के बाद से यहाँ नियमित रूप से बी० टी० या उसके समकक्ष डिग्री का शिक्षक-प्रशिक्षण स्नातक शिक्षकों को दिया जाता रहा है। यहाँ बुनियादी शिक्षा में प्रशिक्षित होने के लिए विभिन्न राज्यों तथा निजी संस्थाओं से शिक्षक तथा अधिकारी-गण भेजे जाते रहे हैं। इसके साथ-साथ बुनियादी शालाओं के लिए आठवीं पास शिक्षकों तथा शिक्षिकाओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था है।

तालीमी संघ का यह सौभाग्य रहा है कि इसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के अवसर प्रारम्भ से ही मिलते रहे हैं तथा यहाँ के कार्यकर्ता भी विदेशों में गये हैं।

गाँधीग्राम

अक्तूबर सन् १९४७ में चिन्नलपट्टी ग्राम के कुछ सज्जनों द्वारा दान दी गई जमीन पर गाँधीग्राम की स्थापना हुई थी। इसका उद्घाटन श्री बाल गंगाधर खेर बम्बई के तत्कालीन मुख्य मन्त्री द्वारा हुआ था। प्रारम्भ में यहाँ महिला बुनियादी प्रशिक्षण शाला और कस्तूरबा ग्राम सेविका विद्यालय ही थे। अब यह संस्था रचनात्मक संस्थाओं की एक समन्वित संस्था बन गई है। सन् १९५४ में इसके पास ३११·२५ एकड़ जमीन थी। अब तो इसके कई लाख लागत के मकान हैं। इस पर ५० हजार मकान और बन गए हैं।

गाँधीग्राम की साड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। यहाँ करघे चलते तथा कताई केन्द्र भी है। गाँधीग्राम में सन् १९५४ तक ३००० गुण्डी सूत प्रति मास काता जाता था तथा ३५,००० रुपयों की खादी का उत्पादन होता था। अब तो इसमें पर्याप्त वृद्धि कर दी गई है।

गाँधीग्राम के रचन क्षेत्र में बुनियादी शिक्षा के विकास के लिए बुनियादी प्रशिक्षण महाविद्यालय, जनता कालेज के समान विद्यालय, अभ्यासशाला आदि चलते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ दाई प्रशिक्षक, सेविकाश्रम, ग्राम-निर्देशक प्रशिक्षण, समाज संयोजक प्रशिक्षण, एक रचनात्मक कार्यकर्ता वर्ग आदि भी चलते हैं।

गाँधीग्राम में कृषि फार्म के अतिरिक्त एक गोशाला, बढ़ईगिरी, हाथ कागज, तेलघानी, मधुमक्खी-पालन, मगन चूल्हा, कुम्हार काम, चमड़े का काम, सिलाई, सिलने का काम, छापाखाना आदि इत्यादि द्वारा प्रशिक्षण कार्य भी चलता है। चिन्नलपट्टी गाँव में कस्तूरबा प्रसूतिगृह चलता है इसमें स्त्री डाक्टर तथा दाइयाँ कार्य करती हैं।

गाँधीग्राम में अध्ययन मण्डल तथा गाँधीग्राम सांस्कृतिक समिति भी कार्य करती है। यहाँ सर्व-धर्म प्रार्थना चलती है क्योंकि यहाँ सभी धर्म के लोग रहते हैं। मद्रास सरकार ने प्रारम्भिक खण्ड-विकास योजना को आयूर खण्ड में

कार्यान्वित करने का भार गाँधीग्राम को दिया था, जिसे इसने दो वर्ष तक किया।

गाँधीग्राम विस्तार और गहराई से कार्य करते हुए गाँधीजी के सेवा-कार्य की वृद्धि करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। यहाँ पर अनेक प्रान्तों से विकास-सेवा अधिकारी, समाज शिक्षा संगठक तथा निरीक्षक, बुनियादी शिक्षा शिक्षक तथा संगठक प्रशिक्षण के लिए आते हैं। इस प्रकार यह रचनात्मक प्रवृत्तियों का कार्य करते हुए बुनियादी शिक्षा के प्रसार में बहुत सहयोग दे रहा है। गाँधीग्राम के संचालक श्री रामचन्द्रन् जी बुनियादी शिक्षा के माने हुए विद्वान हैं तथा दक्षिण भारत में बुनियादी शिक्षा के प्रसार तथा विकास में इनका प्रमुख हाथ रहा है। ये केन्द्रीय सरकार द्वारा १९५५ में बुनियादी शिक्षा की जाँच तथा सुझाव देने के लिए गठित समिति के अध्यक्ष भी थे।

अध्याय ११

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा

अर्थ

प्रौढ़ या समाज-शिक्षा क्या है इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। इसका कारण यह है कि विभिन्न समाजों में इसका अपनी आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न अर्थ लगाया जाता है। प्रौढ़ या समाज-शिक्षा का विधिवत् आन्दोलन तो बहुत आधुनिक है पर इसका प्रचार बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। असभ्य तथा जंगली जातियों में भी प्रौढ़ या समाज शिक्षा रीति-रिवाजों, परम्पराओं आदि का ज्ञान देने के रूप में चला करती है। इस प्रकार अपनी संस्कृति का संरक्षण तथा उसका अपनी आनेवाली पीढ़ी को हस्तान्तरण किया जाता है। प्रौढ़-शिक्षा तथा समाज-शिक्षा का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार कितना रहा है यह तो निश्चित नहीं कहा जा सकता पर प्राचीन काल से आज तक इसके अर्थ और स्वरूप में बड़ा परिवर्तन तथा विकास हुआ है, इसकी विधियों, उद्देश्यों आदि में भी बहुत परिवर्तन हो रहे हैं।

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा की परिभाषा भी समय के अनुसार बदलती गई है। प्राचीन काल में प्रौढ़-शिक्षा का अर्थ समाज तथा संस्कृति-सम्बन्धी बातों का ज्ञान कराने तक ही सीमित रहता था। इसमें प्रौढ़ की रुचियों, प्रवृत्तियों एवं व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास की कोई चेष्टाएँ नहीं की जाती थीं। समाज तथा संस्कृति का संरक्षण ही प्रमुख था। वर्तमान काल में इसका बहुत विस्तृत अर्थ में प्रयोग किया जाता है। लिण्डमैन प्रौढ़-शिक्षा उन सभी गति विधियों को ही मानता है जो मानव के द्वारा शैक्षणिक उद्देश्य से जीवन से सम्बन्धित कार्यों के लिए की जाती हैं तथा जिनके लिए अवकाश का समय तथा शक्ति दी [illegible]ती है। अन्य विद्वान इसे कोई बड़ा कार्य न समझते हुए बिना अनिवार्यता [illegible] व्यक्तित्व के विकास के लिए सोद्देश्य प्रयत्नों को ही प्रौढ़-शिक्षा मानते

हैं। इस प्रकार आजकल प्रौढ़-शिक्षा बहुत विस्तृत अर्थ रखती है। मध्यकाल में इसका अर्थ केवल साक्षरता से था। पर अब तो साक्षरता इसका केवल साधन-मात्र रह गई है।

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा की आवश्यकता

आज सामाजिक जीवन बड़ा जटिल होता जा रहा है। इसमें हमारी आवश्यकताएँ भी बढ़ गई हैं तथा जीवन की जटिलता भी। इस जटिलता तथा विविधता के जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि नियोजन किया जाये। नियोजन—आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनैतिक—सभी प्रकार का आवश्यक है। नियोजन—राज्य, राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय—सभी स्तरों पर किया जाना आवश्यक है।

विज्ञान के विकास से जीवन में परिवर्तन भी अधिक तथा शीघ्रता से हो रहे हैं। इस परिवर्तनशील जगत में अपने बदलते वातावरण तथा परिस्थितियों से उचित समंजन (adjustment) करने की क्षमता का विकास करना भी आवश्यक है।

हमारे समाज में बड़ी संख्या में बेकार व्यक्ति पाये जाते हैं। इनकी उचित शिक्षा के लिए भी प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा आवश्यक है। जो व्यक्ति कारखानों एवं संस्थाओं में काम कर रहे हैं उनकी व्यावसायिक कुशलता तथा कौशल बढ़ाने, उनको अपने क्षेत्र के नये ज्ञान तथा प्रवृत्तियों से परिचित कराने के लिए भी प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा आवश्यक है।

मशीनों तथा बिजली के उपयोग से लोगों के काम जल्दी तथा अच्छी तरह सम्पन्न होने लगे हैं। अतः उनके पास अवकाश का समय भी बहुत अधिक बचने लगा है। इस अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए तथा विभिन्न रुचियों का विकास करके लोगों के जीवन को मधुर और सुखी बनाने के लिए भी प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा आवश्यक है।

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा हमारे समाज में रहनेवाले अनेक प्रकार के विकलांग व्यक्तियों के लिए भी आवश्यक है। आज विज्ञान ने हमारे स्वास्थ्य में सुधार करने तथा बीमारियों से बचने के अनेक साधन प्रस्तुत किये।

औसत आयु बहुत बढ़ गई है। फलस्वरूप समाज में दिन-पर-दिन बूढ़े लोगों की संख्या भी बढ़ती जाती है। इनके अनुभवों से लाभ उठाने, इन बूढ़ों की नवीन परिस्थितियों से समंजन करने की क्षमता बढ़ाने तथा इनके जीवन को सुखी बनाये रखने के लिए भी इसकी आवश्यकता है।

हमारे देश में तो जेल के कैदियों की शिक्षा की इतनी अच्छी तथा अधिक व्यवस्था नहीं है पर अन्य सम्पन्न तथा विकसित देशों में इस ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। यह भी प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा का ही एक रूप है।

हमारे देश में सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश के विभाजन के फलस्वरूप विस्थापितों की संख्या बहुत बढ़ गई है। ये बेचारे दुःखी तथा कष्ट झेले हुए हैं। ये अपना घरबार छोड़कर आये हैं, इनकी आँखों के सामने इनके घर-बार जलाये गए, रिश्तेदारों को मारा गया तथा महिलाओं की इज्जत लूटी गई है। अतः स्वाभाविक है कि इनकी भावनाएँ उद्वेलित, परिवर्तित तथा खिन्न हों। देश के लाखों ऐसे विस्थापितों को प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा द्वारा सही रास्ते पर लाने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न किया गया तो हमारे देश में शान्ति और सुख न हो सकेगा। समाज के व्यक्तियों का व्यावसायिक निर्देशन करना, नौकरी दिलाना तथा परामर्श देना प्रौढ़-शिक्षा से ही सम्बन्धित है।

लोकतन्त्र की सफलता ज्ञानवान तथा विवेकी नागरिकों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से भी देश में प्रौढ़-शिक्षा तथा समाज-शिक्षा की आवश्यकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा पहिले की अपेक्षा अधिक आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है।

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा के उद्देश्य

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा के दो प्रमुख उद्देश्य हैं—(१) व्यक्ति का वैयक्तिक विकास तथा (२) विकसित सामाजिक नियन्त्रण।

व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में उन्नत तथा प्रभावशाली बनाना आवश्यक है। इसके लिए उसके ज्ञान, कौशल, सोचने-विचारने की शक्ति, विवेक, भावनाओं, रुचियों आदि का समुचित विकास किया जाना आवश्यक है। इससे व्यक्ति पेशों के धन्धों तथा अपने दैनिक जीवन की चर्चा से ऊपर उठकर ज्ञान,

कौशल, अच्छाई तथा सौन्दर्य के राज्य में पहुँचेगा।' पर व्यक्ति के वैयक्तिक विकास का तात्पर्य यह नहीं है कि उसका समाज के अनुकूल विकास न हो। उसका ऐसा वैयक्तिक-विकास करना वाछनीय है जो उसे समाज का उपयोगी तथा प्रभावशाली सदस्य बना दे।

अभी तक प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा के कार्य कमी की पूर्ति के रूप में ही होते थे जैसे शाला की शिक्षा की कमी की पूर्ति, अपंग या विकलांग होने की कमी की पूर्ति, नागरिक गुणों का विकास, जिसमें समाज से उपयुक्त समंजन हो सके, स्वास्थ्य, मनोरंजन, आत्म-प्रकाशन आदि की वृद्धि, रुचियों तथा ज्ञान की वृद्धि, व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना आदि। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। पर आजकल शिक्षा को जीवनपर्यन्त चलनेवाली प्रक्रिया माना जाता है। इस दृष्टि से प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा केवल कमी पूर्ति करनेवाली ही नहीं मानी जा सकती। अब तो इसका उद्देश्य व्यक्ति का यथाशक्ति अपनी रुचियों के अनुसार ऐसा वैयक्तिक विकास करना है जो समाज के विकास तथा उन्नति में सहायक हो।

विश्व में प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा

वैसे तो प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा अति प्राचीन काल से चली आ रही है, पर विभिन्न देशों में परिस्थिति तथा आवश्यकतानुसार इसने विभिन्न तथा विशिष्ट रूप धारण किये हैं। यूरोप में १९वीं सदी में डेनमार्क में प्रौढ़-शिक्षा का क्रियात्मक रूप किसानों के अपने समाज का पुनर्गठन करने के लिए अपनाया गया था। इंगलैंड तथा यूरोप के अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में प्रौढ़-शिक्षा कारीगर नागरिक तथा ट्रेड यूनियन के सदस्य बनने तथा इन स्थितियों में अपने कौशल और ज्ञान की वृद्धि करने के लिए दी जाती रही है। जर्मनी तथा डेनमार्क में 'फोक स्कूल' या जनता महाविद्यालय युवकों के लिए खोले गए थे। इनका प्रधानतः सांस्कृतिक उद्देश्य ही था। हालैंड में पीपुल्स् मुवमेंट, स्वीडन में पीपुल्स् हाईस्कूल तथा स्टडी सर्किल, फ्रान्स में पापुलर कल्चर तथा Ligne-de l'Enseignement', जेकोस्लोवाकिया में ग्रन्थालयों का जाल, जापान में ट्यूटोरियल कक्षाएँ तथा करेस्पाडेंस स्कूल, विश्वविद्यालय विस्तार केन्द्र, मेक्सिको

में कारीगरों की कक्षाएँ प्रौढ़ तथा समाज शिक्षा के विशेष रूप रहे हैं। अमेरिका में पेट्रू इन्स्टीट्यूशन्स् कम्यूनिटी पब्लिक लायब्रेरी, विश्वविद्यालय विस्तार सेवा, व्यावसायिक स्कूल, टाउन मीटिंग, यंगमेन तथा वोमेन क्रिश्चियन असोसिएशन आदि विभिन्न प्रकार से प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा का कार्य किया जाता रहा है। द्वितीय महायुद्ध तथा उसके बाद तो अनेक संगठन इसके लिए बने हैं।

भारत की समस्या

हमारे देश की प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा की समस्या अन्य पाश्चात्य देशों से भिन्न है। अन्य देशों में जहाँ प्रौढ़ों को साक्षर बनाने की समस्या है ही नहीं वहाँ भारत में अशिक्षा के कारण साक्षरता की समस्या भी है। अन्य देशों में तो १४, १५ या १६ वर्ष तक की आयु तक अनिवार्य रूप से व्यक्तियों को शिक्षा मिल जाती है। हमारे देश में ऐसी कोई व्यवस्था अभी नहीं हो सकी है। तृतीय पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक भी देश के सभी बालक-बालिकाओं को ६ से ११ वर्ष की आयु तक शिक्षा सम्भव न हो सकेगी।

इसके साथ-साथ हमारे देश में आज प्रौढ़ों की संख्या भी अधिक है। हमारे यहाँ देश में विभिन्न भाषाएँ उपयोग में लाई जाती हैं। हमारा देश गाँवों का देश है। गाँवों में तथा वहाँ तक पहुँचने के लिए आवागमन के साधन भी अच्छे तथा समुचित नहीं हैं। हमारे देश के सार्वजनिक स्वास्थ्य के अच्छे न होने के कारण जन्म तथा मरण का प्रतिशत अधिक है। औसत आयु भी अन्य देशों की अपेक्षा कम है। गरीबी भी हमारे देश में अधिक है।

इन सब कारणों से हमारे देश में प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा की समस्या बहुत कठिन तथा वृहत् है। हमारे देश की इस समस्या के हल के लिए निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है :

१. बहुत अधिक धन।

२. कुशल तथा प्रशिक्षित शिक्षक।

३. प्रभावी तथा समान अवसर प्रदान करने वाली शिक्षा नीति।

इन साधनों के जुटने पर ही देश के प्रौढ़ों के लिए प्रौढ़-शिक्षा के रूप में

हम केवल साक्षरता, मामूली सामान्य ज्ञान तथा गुण दे सकेंगे। पर इसे भी हम वर्तमान में सम्पूर्ण समझी जाने वाली प्रौढ़-शिक्षा न कह सकेंगे।

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा विधियाँ

प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा का पाठ्यक्रम तथा विधियाँ विभिन्न स्थानों में विभिन्न ही रहती हैं। ये परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं पर निर्भर रहती हैं। अमेरिका में प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा का पाठ्यक्रम बहुत ही विभिन्न है। वहाँ पाठ्यक्रम के विषय दिन-पर-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं। वहाँ नई रात्रि या ग्राम की शालाओं में विषयों के चुनाव के लिए बहुत अधिक व्यवस्था है। वर्तमान गतिविधियाँ, सामाजिक, राजनैतिक समस्याएँ, दर्शन, सामाजिक अध्ययन, समाज विज्ञान आदि अनेक नये-नये विषयों के शिक्षण की व्यवस्था वहाँ काफी संख्या में की जाने लगी है। वक्ता बनने की शिक्षा, शार्ट हैंड, टाइपिंग, घर-सजावट, फोटोग्राफी, सामाजिक, सांस्कृतिक, नागरिक, आर्थिक समस्याओं का अध्ययन, नाच, गाना आदि अनेक प्रकार की शिक्षा देनेवाली कक्षाओं में वहाँ काफी भीड़ होती है।

शिक्षण-विधियों के सम्बन्ध में भी पुरानी शिक्षण-विधियों को त्यागकर स्वयं क्रिया, वाद-विवाद, विचार-विमर्श, प्रतिवेदन, पठन, अवलोकन, प्रदर्शन, श्रव्य, दृश्य-सामग्री का उपयोग, योजना आदि विधियों पर ही अधिक बल दिया जाता है। इन प्रौढ़ कक्षाओं के शिक्षक प्रायः समाज के इन क्षेत्रों के कुशल कलाकार, ज्ञाता तथा कारीगर होते हैं। शिक्षक तथा प्रौढ़ का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का न होकर एक मित्र सरीखा होता है। शिक्षा में व्यक्ति के सामाजीकरण तथा उसकी प्रवृत्तियों तथा रुचियों के उचित विकास पर अधिक बल दिया जाता है।

अन्य यूरोपीय देशों में भी प्रायः इन्हीं विधियों का उपयोग किया जाता है पर वहाँ के पाठ्यक्रम में इतनी विविधता नहीं पाई जाती। हमारे देश के प्रौढ़-शिक्षा तथा समाज शिक्षा पाठ्यक्रम में साक्षर बनाने-सम्बन्धी बातों का समावेश आवश्यक है। साक्षर बनाने के साथ-साथ पढ़ने की ओर रुचि विकसित करने के लिए गुणयुक्त सरल छोटी पुस्तकें पढ़ने की ओर प्रौढ़ों को प्रेरित किया जाता

है। इसके साथ ही उन्हें देश की योजनाओं, गति-विधियों, कृषि, समाज-उत्थान, नागरिक गुणों आदि से सम्बन्धित बातों का ज्ञान भी कराया जाता है। प्राथमिक तथा मिडिल शालाओं के शिक्षक-शिक्षिकाएँ ही प्रायः शिक्षक का काम करती हैं। विधियों में कथा शिक्षण-पद्धति के साथ विचार-विमर्श, वाद-विवाद विधियों का उपयोग भी किया जाता है। रेडियो, सिनेमा, समाचारपत्रों आदि का उपयोग भी किया जाता है। पर इनका उपयोग अभी सीमित-सा ही है।

भारत में प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा

हमारे देश में प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। समाज में प्रचलित अनेक प्रकार के संस्कार संस्कृति के संरक्षण के लिए ही प्रचलित किये गए थे। हमारे समाज में संन्यासी तथा साधु बनना जीवन की चतुर्थ अवस्था में आवश्यक-सा ही माना जाता रहा है। ये संन्यासी-साधु कभी एक स्थान पर जमकर न रहते थे। ये भजन-कीर्तन करते तथा घूम-घूमकर जनता को उपदेश देते थे। अपने आदर्श जीवन तथा उपदेशों से ये जन-जीवन को उन्नत बनाते थे। इस प्रकार ये घूमती-फिरती पाठशालाएँ ही थीं। आज भी इनका भारतीय जीवन पर काफी प्रभाव है।

प्राचीन काल

मध्यकाल में भारतीय जीवन में युद्ध, बाहर से अनेक जातियों के आने से संघर्ष अधिक रहे हैं। फलस्वरूप प्राचीन काल से चले आये संन्यासियों तथा साधुओं के रूप में जन-सामान्य के जीवन को उन्नत बनाने वाला स्रोत क्षीण हो गया। पर वह मरा नहीं, किसी न किसी रूप में बना अवश्य रहा। यदि ऐसा न होता तो अंग्रेजों के भारत आने पर उनके प्रारम्भिक युग में जो शैक्षणिक सर्वेक्षण हुआ था उसमें देशी शिक्षा की स्थिति २०वीं शताब्दी की स्थिति से अच्छी न मिलती। हालाँ कि इस सर्वेक्षण में त्रुटियाँ अवश्य अधिक रही होंगी, पर इसे बिल्कुल निराधार नहीं माना जा सकता है।

मध्य काल

अंग्रेजों के आने के बाद देशी शिक्षा के नष्ट होने से भारतीय शिक्षा की बड़ी क्षति हुई। जनता निरक्षर होती गई तथा बालकों के लिए नई प्रारम्भिक

शिक्षा की भी उपयुक्त व्यवस्था न हो सकी। इस दृष्टि से यदि हम भारतीय प्रौढ़-शिक्षा के इतिहास को देखें तो यह अपेक्षाकृत आधुनिक ही प्रतीत होती है। अंग्रेजी शासन-काल में १८५४ के वुड डिस्पैच में जनता के अज्ञानरूपी शाप को दूर करने का उल्लेख आया है। पर सम्पूर्ण अंग्रेजी शासन-काल में उस समय से आज तक के १०० वर्षों में इस दिशा में कोई विशेष कार्य सम्पन्न नहीं हो सका। हाँ, मिशन, सार्वजनिक संस्थाओं आदि के द्वारा स्थान-स्थान में छोटे-छोटे प्रयास इस दिशा में अवश्य किये जाते रहे हैं। पर फिर भी यह निश्चय से कहा जा सकता है कि २०वीं सदी के पूर्व भारत में प्रौढ़ों की उचित शिक्षा की व्यवस्था पर बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया।

वर्तमान काल

१८९८ में भावनगर तथा बड़ौदा रियासतों में शहरों तथा गाँवों में पुस्तकालय खोले गए पर इनसे पढ़े-लिखे लोगों को ही अधिक लाभ हुआ। मद्रास में पहिले-पहल ईसाई पादरियों ने भारतीय ईसाई प्रौढ़ों के लाभ के लिए प्रौढ़ शालाएँ खोलीं। भावनगर में निरक्षरता उन्मूलन के हेतु गुजराती, मराठी तथा उर्दू में पुस्तकें तैयार की गई थीं जो आज भी प्रचलित हैं। मैसूर के दीवान श्रीविश्वेश्वरैय्या ने १९१२ में मैसूर राज्य में रात्रि पाठशालाएँ तथा चलते फिरते पुस्तकालय की योजना बनाई। पर उनकी मृत्यु के बाद यह योजना समाप्त हो गई। विश्व-कवि टैगोर ने शान्तिनिकेतन के आसपास के गाँवों में नवयुवकों की सहायता से प्रौढ़-शिक्षा के प्रसार में बड़ा योग दिया।

प्रथम महायुद्ध से भी प्रौढ़-शिक्षा को बड़ा बल मिला। अनेक सैनिक विदेशों में लड़ने गये थे। लौटने पर उन्नति करने तथा आगे बढ़ने की इच्छा उनमें जाग्रत हुई। फलस्वरूप पंजाब में १९२१ में प्रौढ़-शिक्षा की रात्रि कक्षाएँ प्रारम्भ की गईं। इसी बीच १९१९ के एक्ट के अनुसार भारत की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन हुआ तथा शिक्षा का काम भारतीय मंत्री देखने लगे। फलस्वरूप अनिवार्य शिक्षा तथा प्रौढ़-शिक्षा के प्रयत्न आरम्भ हुए।

पर वास्तव में निश्चित कार्य इस दिशा में अभी भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। १९३७ में इंगलैण्ड की वर्ल्ड प्रौढ़-शिक्षा यूनियन ने श्री टी० एल० विलियम्स को भारतीय प्रौढ़ों की शिक्षा की सहायता के लिए भेजा। फलस्वरूप भारत में अनेक-

स्थानों में प्रौढ़-शिक्षा-समितियाँ बनीं तथा अखिल भारतीय स्तर की प्रौढ़-शिक्षा-समिति भी गठित हुई। इसकी प्रथम बैठक दिल्ली में सन् १९३८ के मार्च महीने में हुई थी। सन् १९३७ में सबसे पहिले साक्षरता-आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। सभी प्रान्तों में साक्षरता-दिवस तथा शिक्षा सप्ताह मनाये गए। इसी समय श्री लेबक ने अनेक भाषाओं में प्रौढ़-शिक्षा के चार्ट बनवाये तथा साक्षरता-प्रसार के प्रयत्न किये।

प्रौढ़-शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन तो १९३९ में बिहार में चला। इस वर्ष लगभग ३ लाख प्रौढ़ों को पढ़ने-लिखने का ज्ञान दिया गया। गया जेल का कार्य तो और भी सराहनीय रहा, जहाँ सभी कैदियों को, जिनकी आँखें ठीक तथा मानसिक दोष न थे, लिखना-पढ़ना सिखाया गया। डा० लेबक ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

गया जेल के बाद तो देश के अनेक प्रान्तों में प्रौढ़-शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाया गया। इसका प्रमुख कारण १९३५ के संविधान के अनुसार देश के अनेक प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना थी। देश के अनेक प्रान्तों में प्रौढ़-शिक्षा का कार्य चल रहा था अतः केन्द्रीय सरकार ने इन सभी प्रयत्नों को संगठित करने के लिए दिसम्बर १९३८ में डा० सैयद महमूद की अध्यक्षता में एक प्रौढ़-शिक्षा समिति की स्थापना की। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

१. प्रौढ़ों को साक्षर बनाना।

२. शिक्षित प्रौढ़ों को और अधिक शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना तथा सुविधाएँ देना।

३. रुचि दिखलाने वाले प्रौढ़ों को उच्च शिक्षा पाने के लिए प्रेरित करना।

द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रौढ़-शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका, पर सेना अवश्य अपने सैनिकों की कुशलता बढ़ाने की दृष्टि से लिखने, पढ़ने तथा गणित के ज्ञान को उपयोगी समझती रही। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध काल में सेना ही प्रौढ़-शिक्षा की सबसे प्रमुख तथा क्रियाशील संस्था रही है। साथ ही-साथ जामिया मिलिया और मैसूर प्रौढ़-शिक्षा-परिषद् अपना प्रौढ़-शिक्षा-सम्बन्धी महत्वपूर्ण तथा बहुमूल्य कार्य करती रहीं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद देश की सबसे वृहत् शिक्षा-योजना में, जिसे सार्जेण्ट रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है, प्रौढ़-शिक्षा को महत्त्व दिया गया। इस योजना में १० से ४० वर्ष की आयु के प्रौढ़ों की शिक्षा-व्यवस्था का प्रावधान है तथा इसके लिए अन्य साधनों के साथ-साथ दृश्य श्रव्य साधनों के उपयोग की सिफारिशें की गई हैं। पर परिस्थिति-वश इस योजना पर कोई विशेष कार्य न हो सका।

सन् १९४७ में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सन् १९४८ में अखिल भारतीय स्तर की एक प्रौढ़-शिक्षा-समिति की स्थापना श्री मोहनलाल सक्सेना की अध्यक्षता में की गई। इस समिति ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये तथा प्रौढ़-शिक्षा के स्थान पर समाज-शिक्षा का नाम अधिक उपयुक्त समझा। इस समिति ने समाज-शिक्षा के उद्देश्य निश्चित किये तथा कार्य-प्रणाली और आर्थिक पक्षों पर भी मत व्यक्त किये एवं सुझाव दिये। इस समिति की योजना की अधिकांश बातों को सन् १९४९ की जनवरी में प्रान्तीय शिक्षा-मंत्रियों की बैठक में स्वीकृत किया गया। फलस्वरूप अप्रैल सन् १९४९ से यह योजना कार्यान्वित की गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने से समाज-शिक्षा का कार्य और भी तेजी से चला। सामुदायिक विकास खण्डों में भी समाज शिक्षा कार्य को महत्त्व दिया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समाज शिक्षा पर ५ करोड़ रुपया व्यय करने का प्रावधान है। देश की इस वृहत् समस्या को देखते हुए यह बहुत कम प्रतीत होता है।

मध्यप्रदेश में प्रौढ़ और समाज शिक्षा

मध्यप्रदेश मध्यभारत, भोपाल, विन्ध्यप्रदेश तथा पुराने मध्यप्रदेश के महाकोशल क्षेत्र को मिलाकर बना है। महाकोशल क्षेत्र में प्रौढ़-शिक्षा का कार्य अनेक वर्षों से चल रहा है। सन् १९४७-४८ की समाज शिक्षा योजना के पूर्व पुराने मध्यप्रदेश में ५० प्रौढ़-शिक्षा कक्षाएँ चलती थीं, जिन पर प्रतिवर्ष मध्यप्रदेश शासन दो हजार रुपया व्यय करता था। प्रति प्रौढ़ कक्षा पर ४०) वार्षिक व्यय होते थे, जिनमें ३५) शिक्षक को तथा ५) दीगर ऊपरी खर्च के लिए होते थे। इस काल में प्रौढ़-शिक्षा का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था। इसके

सिवाय मिशनवाले भी कुछ-न-कुछ कार्य किया करते थे। जबलपुर में प्रिंसिपल राबर्ट्सन ने अपने कालेज (गवर्नमेंट) के विद्यार्थियों को आसपास के प्रौढ़ों को पढ़ाने के लिए प्रेरित किया था। इसी प्रकार जबलपुर लियोनार्ड थ्योलाजिकल कालेज तथा हाउबाग महिला शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय ने भी अच्छा कार्य किया था।

सन् १९३५ के एक्ट के बाद तो इस क्षेत्र में प्रौढ़-शिक्षा का अच्छा कार्य हुआ। सन् १९३८ में रायोलियों, होशंगाबाद में श्री आर० एस० चेतसिंह ने मध्यप्रदेश तथा बरार की प्रौढ़-शिक्षा यूनियन की बैठक बुलाई थी। इसके बाद प्रौढ़ कक्षाएँ खोली गईं तथा कार्य आगे बढ़ा। पर द्वितीय महायुद्ध के कारण प्रगति फिर रुक गई।

सन् १९४७ में मध्यप्रदेश सरकार ने समाज-शिक्षा योजना बनाई तथा उसे सन् १९४८ से कार्यान्वित किया गया। इस योजना के अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्र में समाज-शिक्षा कक्षाएँ तथा सत्र चले। इस योजना के बाद ही विधिवत कार्य हुआ। इस योजना का पाठ्यक्रम निश्चित था, वर्ष में दो माह तथा ६-६ माह के सत्र हुआ करते थे। प्रारम्भ में एक प्रौढ़ को उत्तीर्ण कराने पर २) तथा एक प्रौढ़ा को उत्तीर्ण कराने पर ५) शिक्षकों को दिया जाता था। बाद में यह बन्द कर दिया और मासिक भत्ता दिया जाने लगा। प्रौढ़-शिक्षा के लिए समुचित साहित्य भी तैयार किया गया तथा सिनेमा, रेडियो, पोस्टर, मैजिक लालटेन आदि दृश्य और श्रव्य साधनों का उपयोग भी प्रचुरता से हुआ। पहिले समाज-शिक्षा का कार्य, शिक्षा-विभाग के अन्तर्गत ही था। पर अब इसे समाज-कल्याण-विभाग का अंग बना दिया गया है।

सन् १९५७ में भोपाल क्षेत्र में कुल मिलाकर ६५ (५० पुरुष तथा १५ महिला) प्रौढ़ तथा समाज-शिक्षा के केन्द्र थे। इन केन्द्रों के कार्य को देख-रेख ४ निरीक्षक करते थे, जो दिन को बालकों को पढ़ाते तथा रात्रि को प्रौढ़ों को। इसके अतिरिक्त एक जनता महाविद्यालय साँची में तथा ५ आदर्श समाज केन्द्र, एक केन्द्रीय ग्रन्थालय, दो जिला ग्रन्थालय भी थे। इनका कार्य एक समाज शिक्षा सहायक जिला शाला-निरीक्षक देखता था।

मध्यभारत क्षेत्र में समाज शिक्षा का कार्य विकास योजना के अन्तर्गत

प्रारम्भ किया गया था। इस क्षेत्र में सन् १९५७ में दो प्रकार के समाज-शिक्षा केन्द्र थे :

१. अल्पकालीन समाज-शिक्षा-केन्द्र।

२. पूर्णकालिक समाज शिक्षा-केन्द्र।

अल्पकालीन केन्द्रों में शिक्षक या स्थानीय शिक्षित व्यक्ति प्रौढ़ कक्षाएँ चलाता था। उसे १०) प्रति मास अलाउन्स तथा ५) प्रति केन्द्र दीगर व्यय के लिए दिये जाते थे।

पूर्णकालिक केन्द्रों में पूर्ण वैतनिक व्यक्ति कार्य की देख-रेख करते थे। इनमें प्रौढ़-शिक्षा सत्र ४ माह का चलता था। इस अवधि के बाद परीक्षा होती तथा प्रमाणपत्र दिये जाते थे।

इस क्षेत्र में प्रौढ़-शिक्षा के इस पाठ्यक्रम की पढ़ाई के बाद भी शिक्षा के लिए भी पाठ्यक्रम बनाया गया था, जिसमें नागरिकता, स्वास्थ्य, सफाई आदि से सम्बन्धित जानकारी के विषय रहते थे।

नवसाक्षर प्रौढ़ों को पुनः निरक्षर न होने देने के उद्देश्य से इस क्षेत्र में के ग्रामीण क्षेत्रों में ४१८ ग्रन्थालय तथा २७७ पठन कक्षों की व्यवस्था सरकार द्वारा सन् १९५७ तक की गई थी। इन्दौर में एक केन्द्रीय ग्रन्थालय की स्थापना भी की गई है। इसके अन्तर्गत ५० चलते-फिरते ग्रन्थालय इन्दौर के आसपास ॥ मील के क्षेत्र में कार्यरत हैं। इन ग्रन्थालयों की देख-रेख करनेवाले कार्यकर्ताओं को १०) प्रति माह अलाउन्स दिया जाता है।

सन् १९५६ में पुस्तकों, चार्ट, समाचारपत्र आदि पर २,११,८५० रुपये खर्च किये गए थे। प्रचारादि के लिए तीन मोटरें भी मध्यभारत के तीन सम्भागों के लिए हैं। इनमें दृश्य-श्रव्य सामग्री है। इन्दौर सामुदायिक विकास खण्ड में ५ सामुदायिक केन्द्र भी हैं। इनमें सामुदायिक संगठक तथा क्षेत्र अधिकारी कार्य करते हैं। प्रत्येक जिले में एक-एक शाखा से संलग्न सामुदायिक केन्द्र भी हैं।

राज्य के विन्ध्यप्रदेश क्षेत्र में समाज-शिक्षा का कार्य १९५२ से प्रारम्भ हुआ। इस क्षेत्र के ८ जिलों के लिए एक समाज-शिक्षा अधिकारी तथा प्रत्येक दो जिलों के लिए चार जिला समाज-शिक्षा अधिकारी नियुक्त किये गए थे।

क्षेत्र के तहसील केन्द्र में समाज-शिक्षा का कार्य करने के लिए समाज शिक्षा केन्द्र प्रारम्भ किये गए। प्रत्येक केन्द्र में एक पूर्णकालिक शिक्षक या कार्यकर्ता रखा गया। ये समाज-शिक्षा केन्द्र पढ़ाई की कक्षाएँ, सांस्कृतिक कार्यक्रम, श्रमदान, सफाई के कार्यक्रम तथा अनेक विकास कार्यक्रम करते थे। इस प्रकार ये केन्द्र सुधार के केन्द्र बन गए। इस क्षेत्र में सन् १९५५-५६ में समाज-शिक्षा पर २३,००० रुपए व्यय किये गए थे।

इस क्षेत्र के प्रत्येक कानूनगो क्षेत्र के लिए एक-एक रात्रि प्रौढ़ शाला की व्यवस्था भी की गई। इस प्रकार इस क्षेत्र में २५० ऐसी शालाएँ चलती हैं, इनमें ६ माह का सत्र चलता है। जब एक गाँव के प्रौढ़ शिक्षित हो चुकते हैं तो यह शाला पास के अन्य गाँव को चली जाती है। ये शालाएँ प्रायः प्राइमरी या बुनियादी शाला के शिक्षकों द्वारा चलाई जाती हैं। इन शालाओं में हाजिरी के आधार पर प्रति प्रौढ़ १) रुपया या अधिक-से-अधिक ३०) माहवार के हिसाब से अलाउंस दिया जाता है। इस क्षेत्र के सामुदायिक विकास खण्डों में भी ऐसी ही रात्रि शालाएँ चलती हैं। यहाँ शिक्षकों को प्रतिमाह १०) से १५) तक अलाउंस दिया जाता है।

समाज-शिक्षा तथा यूनेस्को

अशिक्षित या कम शिक्षित जनता से न केवल स्थानीय समाज या देश को हानि होती है वरन् इससे विश्व-शान्ति के भंग होने का भय भी रहता है। प्रचार के साधनों की वृद्धि से तो यह डर और भी अधिक बढ़ गया है। इसी दृष्टि से संसार में शिक्षा-प्रसार के हेतु अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ कार्य कर रही हैं जिनमें यूनेस्को प्रमुख है। यह संसार के कम-शिक्षा-प्रसार वाले क्षेत्रों में शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न करती है। इसके अन्तर्गत इन क्षेत्रों की जनता के लिए निम्नतम शिक्षा की व्यवस्था के प्रयत्न किये जाते हैं।

यूनेस्को संस्था ने संसार के विभिन्न देशों में साक्षरता-सम्बन्धी आँकड़ों की गणना भी की है। इससे यह पता चला है कि संसार के दो-तिहाई मानव समाचारपत्र पढ़ने की क्षमता भी नहीं रखते हैं। संसार में साक्षर लोगों की

संख्या में वृद्धि अवश्य हुई है पर जनसंख्या की द्रुतगति से वृद्धि होने के कारण निरक्षरों की संख्या घटने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती है।

डा० लूथर इवान्स का, जो यूनेस्को के डाइरेक्टर जनरल हैं, कथन है कि हमारी निरक्षरता के विरुद्ध प्रगति बहुत धीमी है। यदि हम निरक्षरों की संख्या कम करना चाहते हैं तो हमें निम्नलिखित तीन उपाय करना चाहिए :

१. जनसंख्या की वृद्धि को रोकना।

२. प्राथमिक शालाओं में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ाना।

३. सक्रिय कार्यों से निरक्षर प्रौढ़ों की संख्या कम करना।

यूनेस्को संस्था निरक्षरता का अध्ययन करके शीघ्र साक्षर बनाने की विधियों का अध्ययन कर रही है। भारत, कम्बोडिया, मिस्र, कोरिया, पेरू, थाईलैंड, तुर्की, वियतनाम आदि देशों में यूनेस्को की सहायता से साक्षरता तथा मूल शिक्षा-प्रसार का कार्य चल रहा है।

नवसाक्षरों के लिए साहित्य तैयार करने के हेतु यूनेस्को ने अखिल भारतीय प्रौढ़-शिक्षा-संघ को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है। भारतीय प्रौढ़-शिक्षा-संघ ने इस सम्बन्ध में एक समिति का आयोजन किया था जिसमें साहित्य-स्तर, विषय आदि के सम्बन्ध में निर्णय लिये गए थे। इसमें नवसाक्षरों के शिक्षकों की सहायतार्थ निर्देश पुस्तिका तैयार करने के सम्बन्ध में भी निर्णय लिये गए थे।

अध्याय १२

प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा

संसार के अन्य देशों की तुलना में हमारे देश की शिक्षा-सुविधाएँ अपर्याप्त हैं। हमारे देश में केवल १७·२ प्रतिशत व्यक्तियों को ही शिक्षा प्राप्त हो सकी है जब कि इंगलैंड, अमेरिका, रूस आदि देशों में ८० से ९९ प्रतिशत लोग शिक्षित हैं। हमारे देश ने लोकतन्त्रीय धर्मनिरपेक्ष गणतन्त्र होने का निश्चय किया है। अतः जैसा कि योजना आयोग ने कहा है यह आवश्यक है कि देश में जनतान्त्रिक प्रणाली को सफलीभूत बनाने तथा उसे सुखी और समृद्ध करने के लिए देशवासियों को अधिक-से-अधिक शिक्षा-सुविधाएँ प्रदान की जायें। इससे जनता की सांस्कृतिक तथा सृजनात्मक प्रवृत्तियों का परिष्कार और पोषण होगा, उसमें नागरिक गुण विकसित होंगे, तथा उचित विवेक एवं बौद्धिक सहयोग प्राप्त होगा। इसी उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित किया गया है, जिसमें शिक्षा-व्यवस्था भी है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा

योजना आयोग ने तत्कालीन शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा देश के साधनों का विचार करके शासन को निम्नलिखित प्रस्ताव प्रेषित किये हैं :

(१) बुनियादी तथा सामाजिक शिक्षा का प्रसार। प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा को नया और परिमार्जित रूप देना।

(२) माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा को सुव्यवस्थित और ठोस करके इन स्तरों की शिक्षा को ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकतानुसार परिवर्तित करना।

(३) देश में स्त्री-शिक्षा का प्रसार। ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी अधिक-से-अधिक सुविधाएँ प्रदान करना।

(४) शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में अच्छा सम्बन्ध स्थापित करना।

(५) शिक्षकों के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था करना और बुनियादी तथा महिला शिक्षकों के लिए इन सुविधाओं का विस्तार करना।

(६) शिक्षकों के वेतन और कार्य-प्रणाली में सुधार करना।

(७) शिक्षा में पिछड़े राज्यों में शिक्षा-प्रसार की अधिक-से-अधिक सुविधाएँ देना।

योजना आयोग का विचार था कि शिक्षा की योजनाओं में प्राथमिक शिक्षा, विशेषकर बुनियादी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। बुनियादी शिक्षा के प्रसार से माध्यमिक स्तर पर विकास आप-से-आप होगा। उच्च शिक्षा के प्रसार की अपेक्षा उसे ठोस तथा सुव्यवस्थित करके स्तर सुधारने की आवश्यकता अधिक है। साथ-ही-साथ शिक्षा के विभिन्न स्तरों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने पर भी उन्होंने बल दिया। योजना आयोग ने विश्वविद्यालयीन स्तर पर अपव्यय रोकने, परीक्षाओं को अधिक महत्त्व न देने, देश की सांस्कृतिक उन्नति के लिए प्रयत्न करने पर अधिक ध्यान देना उपयोगी बतलाया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-योजना के लक्ष्य

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में निम्नलिखित लक्ष्य-प्राप्ति की आशा की गई थी :

	५०-५१	५५-५६
१. प्राथमिक विद्यालय	१५१.१ लाख	१८७.९ लाख
२. जूनियर बुनियादी शालाओं में विद्यार्थी	२९ लाख	५२.८ लाख
३. माध्यमिक शालाओं में बालक	३१.८ लाख	४३.९ लाख
४. प्राविधिक तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण विद्यालयों में प्रशिक्षार्थी	२६.७ हजार	४३.६ हजार

इसके अतिरिक्त प्राविधिक, व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार की व्यवस्था, दोषयुक्त बालकों की शिक्षा, राज्य-भाषाओं तथा साहित्य का विकास, सैनिक शिक्षा-प्रशिक्षण आदि भी राज्य के कार्यक्रमों के अन्तर्गत थे।

अर्थ-व्यवस्था

योजना काल के लिए कुल १५१·६६ करोड़ रुपयों का प्रावधान था जिसमें ३९·०२ करोड़ रुपये केन्द्र तथा ११२·६४ करोड़ रुपये राज्य सरकारों के लिए थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल के शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रमों की विवेचना

यह वास्तव में एक अच्छी बात थी कि शिक्षा के क्षेत्र में इतने व्यापक ढंग से योजना बनाकर कार्य करने का प्रयत्न किया गया। इस राष्ट्रव्यापी कार्य में स्वाभाविक था कि कई त्रुटियाँ रह जातीं या उचित दिशा में विकास न हो पाता। पर कार्य आगे बढ़ा यही बहुत था। कार्य अच्छा होते हुए भी इस योजना-कार्य में निम्नलिखित दोष आ गए थे। प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ होने के पूर्व शिक्षा-विकास-सम्बन्धी जो योजनाएँ चल रही थीं उन्हीं को पूर्ण करने पर प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में बल दिया गया। कार्य की गति मन्द रही। योजना के अन्तर्गत शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर काफी विकास एवं विस्तार का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, पर इतना अधिक कार्य किया नहीं जा सका। जैसे ७ से ११ वर्ष की आयु के ६० प्रतिशत बालकों को शिक्षा देने का लक्ष्य था जो पूरा नहीं किया जा सका। इसी प्रकार बहुउद्देश्यीय शालाओं तथा जनता विद्यालयों की स्थापना मात्र ही हुई। इनके कार्यों में कोई प्रगति न हो सकी। प्राविधिक शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रारम्भ ही किया जा सका। स्त्री-शिक्षा के लिए कन्या विद्यालयों की संख्या भी अधिक नहीं बढ़ाई जा सकी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में देश की आवश्यकतानुसार शिक्षा के सभी स्तरों में आमूल परिवर्तन करना आवश्यक था, पर इस काल में कुछ स्तरों का प्रसार ही लक्ष्य रहा, जिससे शिक्षा के दोषों को दूर नहीं किया जा सका।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पूर्व प्राथमिक शिक्षा की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। यह शिक्षा देश के भावी नागरिकों के विकास के लिए,

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार शिक्षकों की दशा-सुधार, उनके वेतनमान की वृद्धि आदि की ओर ध्यान नहीं दिया गया। बिना शिक्षकों की दशा सुधारे कोई भी शिक्षा-योजना ठीक-ठीक कैसे चल सकती है?

अनेक योजनाओं को प्रारम्भ करने के पूर्व उन पर ठीक से विचार नहीं किया गया, जैसे जनता विद्यालय खोलना आदि, जिससे आगे चलकर उन्हें बन्द करना पड़ा तथा देश का धन व्यर्थ नष्ट हुआ।

देश की विशालता तथा शिक्षा के प्रसार की आवश्यकता की अधिकता के होते हुए भी शिक्षा पर केवल १५५·५६ करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था की गई। यह अपर्याप्त थी। साथ-ही-साथ व्यय का वितरण ठीक न होने से अनेक कार्य बन्द या स्थगित करना पड़े। इसे तो कम-से-कम रोका ही जा सकता था।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में शिक्षा के कुछ दोषों को दूर करके उसके प्रसार के प्रयत्न किये गए थे। परन्तु उनमें आंशिक सफलता ही प्राप्त हो सकी थी। सन् १९५४ में अखिल भारतीय शिक्षा-सम्मेलन आयोजित किया गया था। इस सम्मेलन में शिक्षा के दोषों, प्रगति तथा प्रसार आदि और भविष्य के लिए शिक्षा के पुनर्निर्माण की योजना पर विचार किया गया। इन कार्यक्रमों को द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित किया गया। इसके अनुसार निम्नलिखित कार्य करने का निश्चय किया गया था :

१. बुनियादी शिक्षा का विकास तथा विस्तार करना।
२. माध्यमिक शिक्षा में विविधता लाना तथा उसे बहुउद्देशीय बनाना।
३. उच्च शिक्षा को व्यवस्थित एवं ठोस बनाना।
४. सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सैनिक शिक्षा को विस्तृत रूप देना।
५. औद्योगिक, प्राविधिक तथा व्यावसायिक शिक्षा का विकास तथा उचित व्यवस्था करना।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में शिक्षा-योजना के लक्ष्य

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पाई

४. प्राविधिक एवं व्यावसायिक	२३ करोड़	४८ करोड़
५. सामाजिक शिक्षा	५ करोड़	५ करोड़
६. प्रशासन तथा अन्य	११ करोड़	५७ करोड़

इसके साथ-साथ द्वितीय योजना काल में सामुदायिक विकास तथा राष्ट्रीय विकास सेवाओं के लिए निर्धारित रकम से १२ करोड़ रुपये सामान्य शिक्षा तथा १० करोड़ रुपये सामाजिक शिक्षा पर व्यय किये जायंगे। इतना ही नहीं, कृषि, स्वास्थ्य, पिछड़ी जाति-कल्याण, विस्थापितों की पुनर्स्थापना आदि की योजनाओं में भी शिक्षा के लिए काफी धन की व्यवस्था की गई है।

द्वितीय योजना काल में शिक्षा-योजना-सम्बन्धी कार्यक्रम

प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र की दो समस्याएँ हैं :

१. प्राथमिक शिक्षा का विकास।

प्राथमिक शिक्षा २. प्राथमिक शालाओं को बुनियादी में परिवर्तित करना।

इसके साथ-साथ स्त्री-शिक्षा के विकास के लिए प्रशिक्षित महिला शिक्षकों की कमी, शाला-भवनों का निर्माण, अपव्यय और स्थिरता आदि कठिनाइयों को दूर करना भी आवश्यक था। इन कठिनाइयों का ध्यान रखते हुए योजना आयोग ने सिफारिश की कि बालकों को शिक्षा की ओर आकर्षित करने के लिए शिक्षण पद्धति में सुधार किया जाना चाहिए। साथ-ही-साथ शिक्षा को अनिवार्य करने की ओर ध्यान दिया जाये।

भवनों तथा प्रशिक्षित शिक्षकों की कमी को दूर करने के लिए आयोग ने शिक्षक-प्रशिक्षण, भवनों के निर्माण पंचायत-घर, मन्दिर आदि में शाला लगाने तथा अध्यापकों के रहने के क्वार्टर शाला के समीप बनाने, दो पाली में शाला लगाने, उन्मुक्त वातावरण में, सुविधानुसार पेड़ों के नीचे, शाला लगाने का सुझाव दिया। शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए धन-राशि की व्यवस्था के लिए शिक्षा-उपकर लगाने का सुझाव भी दिया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल के अन्त तक ६ से ११ वर्ष के ६३ प्रतिशत, ११ से १४ वर्ष के २३ प्रतिशत बालकों को शिक्षा देने के लक्ष्य की पूर्ति की आशा की गई है। इसके लिए ५३,००० नये जूनियर प्रारम्भी तथा ३,५००

(मिडिल) सीनियर स्कूल खोले जाने की व्यवस्था है। इनमें से ३८,४०० बुनियादी शालाएँ होंगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में बुनियादी शिक्षा की सभी दिशाओं में अच्छी प्रगति हुई, जो निम्न आँकड़ों से पता चलता है। अतः द्वितीय योजना काल में ६०-६१ तक के लक्ष्य भी अधिक रखे गए हैं :

बुनियादी शिक्षा

	५०-५१	५५-५६	६०-६१
बुनियादी शाला	१,७५१	१०,०००	३८,४००
बालकों की संख्या	१,८५,०००	११,००,०००	४२,२४,०००
प्रशिक्षण शालाएँ	११४	४४१	७२१
बुनियादी शालाओं में जाने वाले बालकों का प्रतिशत	१	५	११

पहली योजना काल में शिक्षकों के प्रशिक्षण की सुविधाएँ अधिक हुईं। शालाओं में उद्योग-शिक्षण की सुविधाएँ भी अधिक दी गईं। अतः द्वितीय योजना काल में बुनियादी में प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या-वृद्धि करने तथा निरीक्षकों आदि को बुनियादी में प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण संस्थाओं को खोलने, प्रत्यास्मरण कोर्स चलाने, सेमीनार गोष्ठियों आदि की व्यवस्था करने पर बल दिया गया है। अभी राज्यों में १ से ५ कक्षाओं तक ही बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था है, अतः बाद में आगे की शिक्षाओं में बालकों को गैर-बुनियादी शिक्षा लेनी पड़ती है। इसलिए यह आवश्यक है कि ८वीं तक बुनियादी शिक्षा की व्यवस्था अधिक-से-अधिक की जाये। बुनियादी शालाओं को जन-जीवन के केन्द्र के रूप में विकसित किया जाना चाहिए। इसके लिए बुनियादी शिक्षा को कृषि, ग्रामीण-उद्योग, सहकारिता और सामुदायिक विकास आदि कार्यों से सम्बन्धित करने के अधिक प्रयत्न किये जाना चाहिए; साथ-ही-साथ निर्देशन आदि के लिए माध्यमिक शिक्षा-परिषद् के समान प्राथमिक तथा बुनियादी शिक्षा-परिषद् की स्थापना की जानी चाहिए।

बुनियादी शिक्षा को माध्यमिक शिक्षा-स्तर पर उच्च शिक्षा से समन्वित करने-सम्बन्धी समस्या भी धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। इसके लिए केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार

बोर्ड ने एक समिति की स्थापना की है जो समय-समय पर उचित सलाह देगी। द्वितीय योजना काल में उत्तर-बुनियादी शालाएँ खोलने की भी व्यवस्था इसी उद्देश्य से की गई है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने, जो प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में स्थापित हुआ था, माध्यमिक शिक्षा को जीवन से सम्बन्धित करने, देश के आर्थिक सुधार तथा विकास के लिए बहुमुखी बनाने पर बल दिया था। अतः माध्यमिक शिक्षा द्वितीय योजना काल में माध्यमिक शिक्षा को बहुमुखी बनाने के लिए कलात्मक, व्यावसायिक, प्राविधिक तथा वैज्ञानिक विषयों की सुविधाएँ बढ़ाने, बालकों को विभिन्न उद्योगों में प्रशिक्षित करने का ध्यान रखा गया है। प्रथम योजना काल में प्रारम्भ किये गए पुनर्गठन कार्य भी जारी रखे गए हैं। बहुउद्देशीय शालाओं की संख्या ६०-६१ तक १,१८७ करने की व्यवस्था भी है। इसके साथ-साथ १,२०० माध्यमिक शालाओं को उच्चतर माध्यमिक बनाने की व्यवस्था की गई है।

बालिकाओं की शिक्षा व्यवस्था की वृद्धि करने के उद्देश्य से कन्या-शालाओं की संख्या में १५ प्रतिशत वृद्धि करने का निश्चय किया गया है। साथ-ही-साथ बालिकाओं की विशेष व्यवसायों की शिक्षा के लिए उन्हें नर्स, अध्यापिका, स्वास्थ्य-निरीक्षिका, ग्राम-सेविका आदि बनने के लिए छात्रवृत्तियों में भी वृद्धि करने का प्रावधान है।

प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या द्वितीय योजना काल में ६८ प्रतिशत करने की है, जो प्रथम योजना में ६० प्रतिशत ही थी।

देहातों में कृषि-शिक्षा के लिए २०० कृषि के तथा माध्यमिक शिक्षा के बाद किसी उद्योग में जाने के लिए ९० जूनियर टेकनीकल शालाएँ खोली जायेंगी। प्राविधिक या टेकनीकल विषयों के शिक्षकों के प्रशिक्षण की ओर भी विशेष ध्यान दिया जायेगा। इसके लिए ५०० ग्रेजुएट तथा १,००० डिप्लोमा पाये शिक्षकों को प्रशिक्षण की व्यवस्था की गई है। माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के लिए ६४ करोड़ रुपये रखे गए हैं।

अहिन्दी भाषा-भाषी राज्यों में हिन्दी शिक्षकों की नियुक्ति के लिए आर्थिक सहायता का प्रावधान भी किया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में इसके लिए ५७ करोड़ रुपयों की व्यवस्था है।

उच्च शिक्षा

इसे शिक्षा के स्तर को उच्च बनाने तथा विश्वविद्यालयों में प्राविधिक और वैज्ञानिक शिक्षण में ही व्यय किया जायेगा।

देश के उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम क्षेत्र में उच्च प्राविधिक शिक्षा देने के लिए तीन संस्थाएँ खोली जायेंगी। डिग्री तथा डिप्लोमा देने वाली इंजीनियरिंग संस्थाओं की संख्या, जो प्रथम योजना काल में १२८ थी, १५८ की जायेगी। खान-इंजीनियरिंग तथा सम्बद्ध विषयों की शिक्षा के लिए धनबाद के इंडियन स्कूल आफ माइन्स एण्ड एप्लाइड जियोलाजी की सत्ता का विस्तार किया जायेगा।

शिक्षा के अन्य कार्यक्रम

द्वितीय योजना में समाज-शिक्षा-केन्द्र, साहित्य-प्रकाशन, दृश्य-श्रव्य शिक्षा, समाज-शिक्षा कार्यकर्त्ताओं और संगठकों के प्रशिक्षण आदि की व्यवस्था है।

वैज्ञानिक और औद्योगिक शोध-परिषद् के विकास-कार्यक्रम के लिए २० करोड़ रुपयों की व्यवस्था है। अणुशक्ति विभाग के लिए भी समुचित धन की व्यवस्था है। देहाती क्षेत्रों में ९० या १०० विज्ञान मन्दिर देहातियों को विज्ञान का ज्ञान देने के लिए खोले जायेंगे। इससे वे स्वास्थ्य, कृषि और सफाई के कार्यक्रमों से अधिक लाभान्वित हो सकेंगे।

इसके साथ प्रादेशिक भाषाओं का विकास, संस्कृत का पुनरुद्धार, साहित्य, कला, संगीत आदि का विकास तथा प्रसार भी किया जायेगा। इसके सम्बन्ध में यूनेस्को से भी सम्पर्क स्थापित किया जायेगा।

द्वितीय योजना काल की शिक्षा-योजना की विवेचना

द्वितीय योजना काल में देश की आवश्यकताओं के अनुकूल ही शिक्षा का विकास किया जा रहा है। देश में प्राविधिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों की आवश्यकता अधिक है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्राविधिक शिक्षा पर व्यय की जाने वाली रकम को दुगनी कर दिया गया है। पर प्राथमिक शिक्षा की रकम प्रथम योजना काल से कम ही है। देश की आवश्यकता तो यह थी कि सभी बालकों को प्राथमिक शिक्षा मिलती पर इस योजना काल में इस लक्ष्य की पूर्ति नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार प्रथम योजना में प्रशासन तथा अन्य व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों के लिए ११ करोड़ रुपयों का प्रावधान था, पर द्वितीय योजना में इसके लिए ५७ करोड़ रुपयों का प्रावधान है। इतनी बड़ी रकम प्रशासन आदि पर खर्च करने से तो राजतंत्र की ही वृद्धि होगी।

शिक्षकों की दशा सुधारने तथा प्रबन्ध-समितियों के सम्बन्ध में भी द्वितीय योजना काल में कोई ठोस कदम उठाने की व्यवस्था नहीं की गई है। सामाजिक शिक्षा पर भी अपेक्षाकृत कम ध्यान दिया जा रहा है। केवल ५ करोड़ रुपये इसके लिए रखे हैं जो बहुत कम प्रतीत होते हैं।

द्वितीय योजना काल में प्रथम योजना काल की अनेक त्रुटियों के निराकरण की ओर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है तथा अनेक शिक्षा कार्यक्रम अभी समुचित रीति से योजनाबद्ध नहीं हैं। यदि शिक्षा में आमूल परिवर्तन की ओर लक्ष्य रखा जाता न कि केवल विभिन्न शिक्षा-स्तरों पर अधिक व्यय करने का तो अधिक लाभ होता।

अध्याय १३
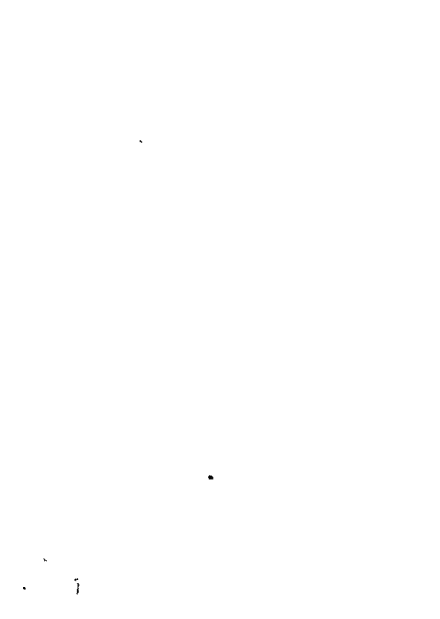
कमीनियस का शिक्षा-दर्शन

सत्रहवीं शताब्दी में चारों ओर वैज्ञानिक उन्नति हो रही थी। अतः शिक्षा-शास्त्रियों ने भी वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के लिए विज्ञान की सहायता लेना चाही, पर अभी तक जो भी वैज्ञानिक खोजें हो रही थीं उनमें कोई व्यवस्थित क्रम नहीं था। अचानक किसी व्यक्ति को कुछ अनुभव हो जाता था और उसी के आधार से कोई वैज्ञानिक तथ्य निरूपित कर दिया जाता था। फ्रांसिस बेकन ने सबसे पहले वैज्ञानिक खोज में व्यवस्था लाने के लिए परिणाम-पद्धति (Method of Induction) निकाली। अभी तक लोग पहले से चले आये किसी एक सिद्धान्त को आधार मानकर उसे सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त देते थे, पर बेकन ने इस पद्धति को बदलकर एक ही साथ परिणाम बतलाने वाले अनेक उदाहरण या प्रयोग करके उनके एक-से परिणामों के आधार पर सिद्धान्त की स्थापना की। बेकन की इस पद्धति का प्रयोग जर्मन विद्वान राटिच तथा मुरावियां-निवासी कमीनियस ने शिक्षा के क्षेत्र में किया। राटिच ने प्रकृति के अनुसार चलने, प्रयोग और परिणाम के द्वारा सीखने को बहुत महत्त्व दिया। उसने रटकर कुछ भी कंठाग्र न करने पर भी बल दिया। राटिच ने भाषा शिक्षा की पद्धति का ही स्वरूप स्थिर किया, पर मुरावियां-निवासी कमीनियस ने शिक्षण में कर्मेन्द्रियों के द्वारा शिक्षण प्राप्त करने की विधि को उपयुक्त माना। उसने भाषा के सिवाय अन्य विषयों की शिक्षा के लिए भी इस पद्धति को उपयुक्त समझकर स्वानुभव तथा तथ्यवाद में अनेक सुधार किये। उसने अपनी निम्न तीन पुस्तकों में शिक्षा-सम्बन्धी विचारों और पद्धति का विस्तृत वर्णन किया है।

१. जानुवालिंग्वारमरेसेराता, २. दि ग्रेट डाइडेक्टिक और ३. पैन्सोफिआ। इनमें से 'जानुवालिंग्वारमरेसेराता' नामक पुस्तक में उसने लैटिन भाषा के अध्ययन की विधि लिखी है। इसमें सरल, सुबोध, सचित्र वर्णन

द्वारा लैटिन के शब्दों का ज्ञान कराया गया है। उसने अपनी पुस्तक 'आरबिस-पिक्टस' में, जो कि 'जानुआ' का ही एक सचित्र संस्करण था, चित्रों की सहायता से अनेक बातों को समझाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार इस पुस्तक में देखने की इन्द्रिय, आँख, की सहायता शिक्षण के लिए ली गई है, क्योंकि इस पुस्तक में दिये गए प्रत्येक शब्द के लिए सम्बन्धित चित्र उसके बाजू में दिया गया है। उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'दि ग्रेट डाइडेक्टिक' में शिक्षा के सम्बन्ध में अपने सामान्य सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है। इसमें उसने बतलाया है कि शिक्षण की अवधि कितनी होनी चाहिए और कितने वर्षों तक शिक्षा दी जानी चाहिए। इस पुस्तक में उसने धनी-निर्धन, अच्छे-बुरे, बालक और बालिका सभी की शिक्षा का समर्थन किया है। इस पुस्तक में उसने बतलाया है कि सभी शिक्षण इन्द्रियों के माध्यम से दिया जाना चाहिए। इतना ही नहीं, उसने शिक्षण के समय एक से अधिक इन्द्रियों के उपयोग को बड़ा लाभप्रद माना है। क्योंकि ऐसा करने से विभिन्न इन्द्रियों की सहायता सरलता से मिलती है तथा उससे बालक जल्दी समझता है। कमीनियस का कहना था कि बालक के ज्ञान के द्वार ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं, अतः शिक्षण में भी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता अवश्य रहना चाहिए। इसके साथ-साथ इन्द्रियों द्वारा शिक्षण में सरल से कठिन की ओर जाने का सिद्धान्त भी उपयोग में लाया जाता है। इससे शिक्षण सुलभ तथा रोचक हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त होने पर उसने कण्ठस्थ करने के बाद समझने तथा अन्त में निष्कर्ष निकालने की विधि को उपयुक्त माना।

कमीनियस का कहना था कि इन्द्रियों के माध्यम तथा उनकी सहायता से विज्ञान के क्षेत्र में संसार के अनेक तथ्यों की खोज की गई है। अतः हमारे शिक्षण में भी इन्द्रियों की सहायता से शिक्षण करके सही तथा सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार कमीनियस ने बेकन की एक-से परिणाम वाले अनेक उदाहरणों से सिद्धान्त की स्थापना तथा स्वयं अनुभव से तथ्य जानने की विधियों को और परिष्कृत किया। कमीनियस के इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान प्राप्त करने की विधि को परिचित करने से बाद्य के प्रयोग करके निष्कर्ष या सिद्धान्त प्रतिपादित करने की विधि से सहायता मिली। कमीनियस के विचारों को उसके बाद के अनेक शिक्षा शास्त्रियों ने आगे बढ़ाया तथा कुछ काल तक तो प्रत्यक्ष

वस्तुओं के द्वारा शिक्षा देने का बड़ा महत्त्व रहा। इसके परिणामस्वरूप शालाओं में जहाज, इमारतें, मशीनें तथा अनेक प्रकार के वस्तुओं के मॉडल एकत्रित किये जाने लगे। इतना ही नहीं, वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यटन आदि के आयोजन भी प्रारम्भ हुए।

पर्यटन आदि के कारण शालाओं में चले आ रहे अनुशासन-सम्बन्धी विचारों में बड़ा परिवर्तन हुआ। अनेक शिक्षकों ने अनुशासन-सम्बन्धी धारणाओं में नम्रता का समावेश किया तथा शिक्षक को सहनशील, स्नेही तथा धैर्यवान होने का परामर्श दिया।

कमीनियस तथा अन्य शिक्षा-शास्त्रियों के प्रत्यक्ष वस्तुओं या उनके मॉडल इत्यादि के द्वारा इन्द्रियजनित ज्ञान-प्राप्ति की विधि ने उस काल के समाज में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी, क्योंकि इस विधि ने अभी तक चले आये अरस्तू के अनेक सिद्धान्तों को असत्य निरूपित किया। अतः विद्वानों ने सोचा कि जब इस विधि के द्वारा अभी तक मान्य सत्यों में सुधार किया जा सकता है तब इस विधि के द्वारा प्रतिपादित यथार्थवाद का उपयोग समाज के दोषों को दूर करने के लिए भी हो सकता है। विशेषतः फ्रांस में इस विचारधारा ने बड़ी क्रान्ति पैदा की। विद्वानों ने यथार्थ को ही सत्य माना और कहा कि हमारे मस्तिष्क में वर्तमान वस्तुओं का ही ज्ञान रहता है, अतः हमें प्रत्यक्ष सत्य की ओर ही जाना चाहिए। परिणामस्वरूप बालकों की शिक्षा के लिए गूढ़ विचारों से प्रारम्भ होनेवाली विधि अनुपयुक्त मानी जाने लगी।

कांडीलैक नामक विद्वान ने भी इन्द्रिय-जनित ज्ञानविधि को अधिक महत्त्व दिया। उसने कण्ठस्थ करने की विधि को अनुपयुक्त माना तथा कहा कि सच्चा ज्ञान केवल रटने से नहीं आता वह तो विचार करने से प्राप्त होता है।

अध्याय १४

रूसो का शिक्षा-दर्शन

अठारहवीं शताब्दी में जीवन को नये तथा स्वाभाविक दृष्टिकोण से देखने तथा पुरानी परम्पराओं और संस्थाओं को मान्यता न देने का एक आन्दोलन-सा चला था। इस शताब्दी में अधिकार तथा व्यक्ति के दासत्व के विरुद्ध, जो मध्ययुग से चला आ रहा था, विद्रोह-सा हुआ। इतिहास हमें बताता है कि मध्ययुग की सामन्तशाही के विरुद्ध विद्रोह तथा विज्ञान की प्रगति ने पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रान्ति, यथार्थवाद आदि को जन्म दिया। इनके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व का आदर बढ़ा तथा उसके अधिकार पुनः स्थापित हुए।

इस तरह हम देखते हैं कि अठारहवीं शताब्दी में राजनीति, सामान्य विचार तथा धर्म आदि सभी में क्रान्ति हुई। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में विचारों और धर्मों के क्षेत्र में तथा अन्तिम पचास वर्षों में शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में भी इसका प्रभाव पड़ा; फलस्वरूप शिक्षा में भी यथार्थवाद का प्रभाव बढ़ा। इससे शिक्षा केवल कुछ धनी-मानी व्यक्तियों तक ही सीमित न रहकर सामान्य जनता के लिए भी उपलब्ध मानी जाने लगी तथा उसका आधार भी यथार्थ तथा प्रकृति हो गए। शिक्षा के क्षेत्र में यथार्थवाद तथा प्रकृति को अधिक महत्त्व देने वाले विद्वानों में रूसो (१७१२ से १७७८) प्रमुख हैं। यह २९ जून सन् १७१२ को इटली के जेनेवा नगर में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का देहान्त बचपन में ही हो गया था तथा इनके पिता फक्कड़ प्रकृति के थे। बचपन से ही रूसो रसिकतापूर्ण तथा अश्लील और गैर-जिम्मेदारी के वातावरण में रहे। इस वातावरण में रहकर भी प्रकृति के सौन्दर्य ने उन्हें बड़ा आकृष्ट किया। सन् १७२० में रूसो के पिता ने रूसो को उनके मामा के पास बोसी गाँव में छोड़ दिया। यहाँ उनका प्रकृति-प्रेम और भी बढ़ गया। पर एक बार उन पर कुरता फाड़ने का झूठा आरोप लगाया गया तथा दण्ड भी दिया गया। इस दण्ड

का उसके हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसका मन विद्रोह से भर गया और उसने परिणाम निकाला कि "मनुष्य की गति में नियमबद्धता, बाह्य-आडम्बर, उपदेश और दण्ड का प्रयोग करके जब उसे प्रकृति से दूर रखा जाता है तभी उसके स्वाभाविक मन में विकार उत्पन्न होता है और उसकी सरलता एवं स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।" रूसो ने इन्हीं विचारों को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन का आधार भी माना और इसीलिए उसने अपनी 'इमील' नामक पुस्तक में लिखा है, "प्रत्येक वस्तु प्रकृति के हाथ में सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहती है, परन्तु मनुष्य के हाथ में आते ही उसमें विकार आने लगता है।"

रूसो पर निरंकुश तथा उद्दाम जीवन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ा। उसके घुमक्कड़ जीवन के कारण उसे शिक्षा भी विधिवत् नहीं मिल पाई। उसके अनिर्दिष्ट जीवन तथा बुरे मित्रों की संगति ने सभी प्रकार के कुकर्म सिखा दिये थे। उसका विवाह एक दुश्चरित्र स्त्री से हो गया था और दोनों में बड़ा झगड़ा होता था। इस तरह विविध प्रकार का जीवन व्यतीत करता हुआ जब वह पेरिस में रहने लगा तब उसके हृदय पर उसके प्रारम्भिक जीवन की इतनी गहरी छाप लगी थी कि उसने कृत्रिमता, अमितव्ययता के विरुद्ध, जो उस समय के कुलीन लोगों में बहुत अधिक पाई जाती थी, अपनी आवाज बुलन्द की, तथा गरीबों के साथ सहानुभूति प्रकट की। सन् १७५० में उसने अपने लेख 'विज्ञान और कलाओं की उन्नति' में लिखा था कि समाज की वर्तमान गरीबी हालत तथा उसकी उन्नति का प्रमुख कारण वर्तमान सभ्यता का विकास है। इसके बाद उसने जो लेख प्रकाशित कराये वे प्रायः समाज के प्रति विद्रोह की भावना से अनुप्राणित थे। उसने 'सामाजिक समझौते' (Social Contract) तथा 'इमील' नामक दो प्रसिद्ध पुस्तकें लिखीं। 'इमील' में उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचार तथा 'सामाजिक समझौते' में समाज और राज्य के सम्बन्ध में मत हैं। 'सामाजिक समझौते' में रूसो ने निम्न मत प्रकट किये हैं :

(१) विज्ञान और कला ने मनुष्य के आचार तथा नीति को बड़ी हानि पहुँचाई है।

(२) धन-संग्रह की प्रवृत्ति के कारण समाज में विषमता आ गई।

(३) राजा और प्रजा में आत्मीयता का सम्बन्ध होना चाहिए तथा यदि राजा जनता के सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखता है तो जनता को उसे अपना राजा न मानने का पूर्ण अधिकार है।

इस प्रकार रूसो ने अपने विचारों के द्वारा राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। इतना ही नहीं, उसने शिक्षा के क्षेत्र में भी 'इमील' पुस्तक के द्वारा कृत्रिमता को दूरकर बच्चे के मन, दिमाग और शरीर को स्वतंत्रता से विकसित होने के अवसर पर बल दिया है। उसने "प्रकृति की ओर जाओ" का भी नारा लगाया तथा प्रकृति की शिक्षा को सर्वोच्च माना। उस काल में बालक और बालिकाएँ समाज के पुरुष और महिलाओं के समान कपड़े पहिनते तथा उन्हीं के समान आचार-व्यवहार करते थे। शिक्षा में भी कंठस्थ करने की विधि तथा लैटिन व्याकरण का अधिक महत्त्व था।

रूसो ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचार, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'इमील' में, इमील बालक की शिक्षा का वर्णन करते हुए, संसार के सामने रखे। इस पुस्तक के पाँच भाग हैं, जिनमें से चार भाग में इमील के जन्म से ५ वर्ष, ६ से १२ वर्ष, १३ से १५ वर्ष तथा १६ से २० वर्ष, ऐसी चार अवस्थाओं की शिक्षा का विवरण है। पाँचवें भाग में इमील की स्त्री की शिक्षा के आधार पर बालिकाओं की शिक्षा का विवरण है। जन्म से ५ वर्ष तक की अवधि में शिक्षा स्वतंत्र शारीरिक क्रियाओं के आधार पर दी गई है। ६ से १२ वर्ष तक की आयु में इमील की शिक्षा हाथ, पैर, आँख, कान आदि इन्द्रियों के द्वारा दी जाने की व्यवस्था है। तीसरी पुस्तक, जिसमें १३ से १५ वर्ष तक की आयु की शिक्षा का विवरण है प्रमुखतः बौद्धिक तथा विवेकी शिक्षा ही होगी। १६ से २० वर्ष तक की आयु की शिक्षा का स्वरूप नैतिक है। बालिकाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में रूसो के विचार उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उसने स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर तथा उनकी आज्ञाकारी माना है।

रूसो द्वारा प्रकृति-पर्यवेक्षण विधि महत्त्वपूर्ण और मान्य

रूसो की 'इमील' पुस्तक में वर्णित शिक्षा-सम्बन्धी विचारों से पता चलता है कि रूसो बालक की स्वतंत्र स्वाभाविक इच्छा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था। रूसो के अनुसार जन्म के समय बालक निर्मल और निरपराध होता है,

अतः उसका निर्मल तथा स्वाभाविक विकास दूर रखने पर ही सम्भव है इसीलिए रूसो शिक्षक तथा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार बालक की शिक्षा के पक्ष में न था। वह तो बालक की आवश्यकता और उसकी प्रकृति के अनुकूल शिक्षा चाहता था। उसका कहना था कि बालक के आचार-व्यवहार में उपदेश तथा शिक्षा से इतना सुधार नहीं हो सकता जितना कि बालक अपने स्वयं के अनुभव से कर सकता है, इसीलिए वह बालक को १२ वर्ष की अवस्था तक उसे प्रकृति के हाथ में स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक विचरण के लिए छोड़ देने के पक्ष में था, जिससे उसकी ज्ञानेन्द्रियों का विकास तथा सवर्धन हो।

चूँकि उसने बालक के चरित्र के विकास का आधार उसके स्वय के अनुभव को माना है, इसलिए वह उसके स्वाभाविक विकास पर समाज की छाया भी नहीं पड़ने देना चाहता है। रूसो ने प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ इन तीनों को मानव का गुरु माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो ने पुरुषों के लिए प्राकृतिक व्यक्तिवादी शिक्षा, तथा स्त्रियों के लिए आत्म-त्याग तथा आत्म-समर्पण की शिक्षा निर्धारित की है।

रूसो के इन शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को बर्नार्ड बास्डो उपयोग में लाया। बास्डो के सुझाव से अनेक मानवीय विद्यालय खुले, जिनमें पाठ्य-विषयों को आधारित तथा पाठन-प्रणाली को खेल-कूद से रोचक बनाया गया। इन विद्यालयों में बालकों की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। इनमें बोल-चलकर भाषा, बातचीत तथा नाटक आदि से लैटिन, मौखिक विधि से गणित, शुद्ध रेखाचित्र से रेखागणित तथा आसपास के वातावरण से महाद्वीप तक के क्रम से भूगोल का ज्ञान कराया जाता था।

इस तरह हम देखते हैं कि रूसो की शिक्षण-विधि स्वय ज्ञानार्जन के अनुरूप ही थी, पर यह वास्तविक रूप में स्वय ज्ञानार्जन विधि नहीं कही जा सकती। यह नई खोज करने की विधि कही जा सकती है। हालाँकि इसमें नई खोज करनेवाले जो विधि अपनाते हैं वह नहीं अपनाई जाती। रूसो की प्रकृति-पर्यवेक्षण विधि बहुत कुछ ह्यूरे की प्रयोग-विधि से समानता रखती है, क्योंकि इमील को सत्य या ज्ञान का शिक्षण नहीं कराया जाता है, वह प्रकृति-पर्यवेक्षण विधि के द्वारा स्वयं खोजता है।

पेस्टालाजी का शिक्षा-दर्शन

रूसो के, बालक को समझने को अधिक महत्व देने के, आन्दोलन का फल यह हुआ कि शिक्षा-क्षेत्र में काम करनेवाले अनेक विद्वानों ने मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का उपयोग बालक के समझने तथा उसके सीखने की प्रक्रियाओं की जाँच-पड़ताल के लिए किया। शिक्षा के क्षेत्र में बालक को समझने के लिए इस मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के कार्यकर्ताओं में पेस्टालाजी, हर्बार्ट तथा फ्राबेल प्रमुख हैं। मनोवैज्ञानिक आन्दोलन के कार्यकर्ताओं ने शिक्षा देने तथा सीखने की प्रक्रियाओं को मनोविज्ञान की एकदम की मशीन से बारीकी से देखा तथा जाँच-पड़तालकर शिक्षण तथा सीखने की प्रक्रियाओं को मनोवैज्ञानिक आधार दिया। शिक्षा के क्षेत्र में मनोविज्ञान का प्रयोग करनेवाले सर्वप्रथम विद्वान पेस्टालाजी थे। ये ज्यूरिच में सन् १७४६ में पैदा हुए थे। तथा अपने प्रारम्भिक जीवन में रूसो से प्रभावित रहे थे। पेस्टालाजी ने स्वयं अपने ही बच्चे को रूसो के इमील के अनुसार शिक्षा देकर परिणामों की जाँच-पड़ताल की। अपने बच्चे की शिक्षा के समय वह नए अनुभव लिखता जाता था, फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि रूसो के सिद्धान्तों में संशोधन करने की आवश्यकता है। उसने यह अनुभव किया कि बालक को स्वाभाविक वातावरण पर ही छोड़ देना तथा पुस्तकों के आधार पर शिक्षा देना उचित नहीं है। यदि बालक को उचित शिक्षा दी जाये तो बालक की आजीविका तथा चरित्र का विकास सम्भव है।

पेस्टालाजी ने दरिद्र बच्चों को अपने गाँव न्यूहाफ (नया गेह) में रखकर वहीं उन्हें भोजन देकर शिक्षित करना प्रारम्भ किया। यहाँ बालकों को लिखना-पढ़ना, गणित और परिश्रम का कार्य कराया जाता था। यहाँ बालक खेती करने तथा बालिकाएँ घरेलू काम और सिलाई करके जीविकार्जन भी करती थीं। पर

धनाभाव के कारण पेस्टालाजी को इस शाला को बन्द करना पड़ा। पर पेस्टा-लाजी का उत्साह शिक्षा की तरफ बना ही रहा और उसने शिक्षा के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकें भी लिखीं, जिनमें से 'लेवनार्ट एण्ड गार्टरूड' (१७८१) तथा 'हाउ गार्टरूड टीचेस हर चिल्ड्रेन' (१८०१) में उसने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को प्रतिपादित किया है।

पेस्टालाजी के अनुसार शिक्षा बालक की शक्ति तथा प्रवृत्तियों का स्वाभा-विक विकासात्मक तथा लयात्मक विकास या प्रगति है। इस प्रकार उसका तात्पर्य यह था कि बालक की शिक्षा में हाथ और हृदय के साथ-साथ मन के विकास का ध्यान भी रखा जाना चाहिए। पेस्टालाजी रूसो के समान धार्मिक शिक्षा देने के पक्ष में नहीं था। वह चाहता था कि शिक्षा सामाजिक उत्थान में अवश्य सहायक होनी चाहिए। वह रूसो के समान बालक के स्वभाव के अनुकूल स्वतन्त्र शिक्षा के पक्ष में अवश्य था, पर वह 'प्रकृति की ओर जाओ' के पूर्ण पक्ष में न था। हाँ, वह यह अवश्य मानता था कि मानव का विकास प्रकृति के नियमों पर आश्रित अवश्य है। पेस्टालाजी इस तरह से शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाना चाहता था। इसलिए उसने बाल-स्वभाव के अध्ययन तथा शिक्षण-विधियों के विकास के लिए बड़ा परिश्रम किया। शिक्षण-विधियों के विकास के लिए उसने शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक चले आये मतों को मान्यता न देकर सभी बातों की नई खोज की। उसका विश्वास था कि ज्ञानेन्द्रियाँ ही ज्ञान का भण्डार हैं तथा उन्हीं के द्वारा बालक सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है। फलस्वरूप उसने शिक्षण में यथार्थ वस्तुओं का उपयोग उपयोगी बतलाया। यथार्थ वस्तुओं की सहायता से ही शिक्षण 'वस्तु पाठ विधि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पेस्टालाजी ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पर बड़ा बल दिया। उस काल में शिक्षकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। शिक्षकों का अच्छे डीलडौल का होना तथा तेज आवाज से बोलने में समर्थ होना ही अच्छे शिक्षक के गुण माने जाते थे। पर पेस्टालाजी ने इस बात का अनुभव किया कि शिक्षक में स्वयं इस बात की योग्यता होनी चाहिए कि वह शैक्षणिक प्रक्रि-याओं का निर्वाह अच्छी तरह कर सके। अतः उसने शिक्षकों के प्रशिक्षण को

महत्त्वपूर्ण माना तथा 'बुर्गडोर्फ' तथा 'इवर्डन' में शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की। इन केन्द्रों में विभिन्न देशों से अनेक शिक्षक आते तथा शिक्षण-सम्बन्धी प्रशिक्षण पाते थे। कालान्तर में ये केन्द्र संसार के प्रसिद्ध शिक्षण-प्रशिक्षण केन्द्र हो गए।

पेस्टालॉजी ने रूसो के पूर्णतः स्वतन्त्र तथा निर्बाध छोड़ देने के सिद्धान्त को स्पष्ट तथा दृढ़ किया। उसने रूसो के इस सिद्धान्त को शालाओं में उपयोग के योग्य बनाया। इस प्रकार पेस्टालॉजी ने शिक्षा के क्षेत्र में नये प्रयोग करके नये ढंग से सोचने विचारने तथा प्रयोग करने की विधि का निर्माण किया। इतना ही नहीं, उसने अन्य विद्वानों के लिए भी शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग तथा अनुसन्धान करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। पेस्टालॉजी ने शालाओं में अभी तक चले आये कठोर दण्ड से अनुशासन रखने की प्रथा को भी अनुचित माना। उसका कथन था कि अनुशासन जिस प्रकार घरों तथा कुटुम्बों में दया, सहानुभूति तथा विवेक से रखा जाता है उसी प्रकार शालाओं में भी अनुशासन रखा जाना चाहिए। शालाओं में आवश्यकतानुसार कठोरता तथा सहानुभूति, प्रेम आदि का व्यवहार होना चाहिए। पेस्टालॉजी ने न केवल इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया वरन् उसने अपनी शालाओं में इसे व्यावहारिक रूप देकर उन्हें घरों के वातावरण से ओत-प्रोत कर दिया।

पेस्टालॉजी ने रूसो से प्रभावित होकर बालकों की प्रकृति तथा स्वभाव के आधार पर शिक्षा देना तथा शिक्षा को मनुष्य के अपने भीतर से ही स्वयं वर्धन की क्रिया मानना तथा शिक्षण-पद्धति अनुभव पर रहने वाली तथा मनोवैज्ञानिक होना आवश्यक माना। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर पेस्टालॉजी ने अपने पर्यवेक्षण आदि सिद्धान्तों की रचना की। इन सिद्धान्तों ने कंठस्थ करने तथा पुस्तकों के महत्त्व को कम करके बालक को स्वयं प्रत्येक वस्तु को देखने, समझकर उसकी छानबीन करने तथा उसके सम्बन्ध में सब बातें जान लेने को अधिक महत्त्वपूर्ण माना।

पेस्टालॉजी के इस मनोवैज्ञानिक आधार को 'वैयक्तिक मनोविज्ञान' के नाम से जाना जाता है। यह वैयक्तिक मनोविज्ञान मन के बहुत-से विभाग करता

है तथा उनके अलग-अलग स्वतंत्र विकास पर बल देता है। इन विभेदों को फैकल्टी कहा जाता है। जैसे—स्मरण, विवेक आदि। वर्तमान काल में इस फैकल्टी मनोविज्ञान को मान्यता नहीं दी जाती है, पर पेस्टालाजी के धैर्य, दया, सहानुभूति तथा व्यक्ति के लिए आदर आदि गुणों ने उसे उस काल का बहुत ही बड़ा तथा अच्छा शिक्षक बनाया।

फ्राबेल का शिक्षा-दर्शन

हरबार्ट ने बौद्धिकता को अधिक महत्व दिया । हरबार्ट तथा उसके समर्थकों ने माना कि रुचि बहुमुखी होती है तथा उसका उद्देश्य नैतिक होता है। हरबार्ट की पंचपदी में यह मान्य किया गया है कि बालक की रुचि दिये जानेवाले ज्ञान की ओर होना चाहिए। या उस ओर को जाना चाहिए तथा ज्ञान-प्राप्ति पर कुछ प्रयोगों द्वारा उसका उपयोग कराया जाना चाहिए। पर इन सब प्रक्रियाओं का उद्देश्य समाज की संस्कृति से बालक को परिचित कराने का था। इस परिचय के लिए बालकों को ज्ञान देना आवश्यक माना गया था। न तो इसमें पेस्टालाजी आदि के समान बालकों को किसी उद्योग की शिक्षा देकर आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया गया था और न बालक के विकास के लिए, रूसो के समान बौद्धिकता से दूर प्रकृति की गोद में शिक्षण प्राप्त करने की बात थी। बालक के विकास तथा ज्ञानवर्धन के लिए, इतिहास, साहित्य तथा अन्य विषयों का ज्ञान विधिवत् रूप से देना ही हरबार्ट तथा उसके समर्थकों का उद्देश्य था। इनका उद्देश्य बालकों को नैतिक बनाना तो था पर वे नैतिकता के विकास के लिए पुस्तकों आदि का आधार ही उपयुक्त मानते थे। उन्होंने जीवन की यथार्थ परिस्थितियों को नैतिकता की शिक्षा का आधार नहीं बनाया। उन्होंने खेलने को सीखने का आधार भी नहीं बनाया। पर फ्राबेल ने यथार्थ जीवन की क्रियाओं तथा खेलों को सीखने तथा नैतिकता की शिक्षा का आधार बनाया।

फ्राबेल का बचपन दुःखी रहा। उसके पिता की व्यस्तता के कारण उसकी शिक्षा समुचित नहीं हो सकी। पर उसके घर का जीवन धार्मिक था जिसका प्रभाव फ्राबेल पर अधिक पड़ा। बचपन में माँ-बाप की उपेक्षा के कारण वह प्रकृति की गोद में विचरण करता रहा। प्रकृति के निरीक्षण तथा सम्पर्क से उसके

मन में एक रहस्य की भावना उद्भूत हुई तथा सम्पूर्ण विश्व की अखण्ड अभिन्नता तथा एकता की खोज की प्रवृत्ति का उदय हुआ। उसने अनुभव किया कि संसार की समस्त वस्तुओं तथा पदार्थों में एक शाश्वत नियम व्याप्त है। यह सार्वभौम शाश्वत नियम सार्वभौमिक चेतना तथा अभिन्नता पर आधारित है। यही अभिन्नता तथा एकत्व ईश्वर है। संसार के सभी पदार्थ इसी एकत्व या ईश्वर से उत्पन्न हुए तथा सभी का जीवन इसी पर अवलम्बित है। प्रत्येक वस्तु में होने वाला दैवी स्फुरण ही उसका चेतन तत्त्व है। यही फ्रोबेल का आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इस प्रकार उसने संसार की प्रत्येक वस्तु में एक ही दैवी, सर्वशक्तिमान का आभास पाया तथा संसार की वस्तुओं में एकत्व की झलक देखी।

फ्रोबेल के इसी आध्यात्मिक सिद्धान्त पर उसका शिक्षा-दर्शन आधारित है। उसका कथन है कि प्रत्येक जीव या प्राणी में मानवता का वास है, पर उसका विकास तथा उदय प्रत्येक प्राणी अपने ही ढंग से करता है। अतः उसका कथन है कि प्रत्येक प्राणी में विकसित चरित्र की एक समुन्नत सुसम्बद्ध योजना रहती है। यदि इसमें बाधा उत्पन्न न की जाये या उसे नष्ट न किया जाये तो यह स्वतः अपने-आप विकसित होती है। यद्यपि फ्रोबेल इस तथ्य का निरूपण कराई से नहीं करता है तथा कभी-कभी इस विकास के लिए प्रयत्न करने की सलाह देता है पर यह प्रमुखतः रूसो के 'प्रकृति ही सत्य है' के सिद्धान्त को मान्यता देता है। इसीलिए वह मूलप्रवृत्तियों के स्वतंत्र तथा पूर्ण प्रकाशन को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इसीलिए वह शिक्षा को निर्दोष सत्य, बिना किसी के द्वारा कथित तथा आरोपित, बालक की स्वतः क्रिया से उद्भूत होने वाली मानता है। वह बालक के उचित विकास के लिए विधि का निरूपण करते हुए कहता है कि विकास अन्धानुकरण न होकर सजीव, आत्मप्रेरित स्वतः-क्रिया द्वारा होना उपयुक्त रहता है। पर इस स्वतः-क्रिया का तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षक या माता-पिता, बालक जो कुछ भी कहे वैसा ही उसे करने दें, वरन् वह चाहता है कि बालक स्वयं अपने मन से सक्रिय होकर अपनी प्रेरणाओं तथा भावनाओं को पूर्ण करने के लिए कार्य करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फ्रोबेल का 'स्वतः-क्रिया' का सिद्धान्त नये रूपों, विचारों आदि का निर्माण तथा भेद कराने वाली 'रचनात्मकता' के सिद्धान्त

से सम्बन्धित है। इसीलिए उसने वाणी तथा विचारों के साथ कर्म को करने के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। उसका कथन है कि मिट्टी या अन्य पदार्थों से कर्म करा करके जीवन की अभिव्यक्ति बालक के द्वारा केवल मौखिक अभिव्यक्ति से अधिक विकासात्मक तथा उन्नतिशील होती है। यही फ्राबेल का 'स्वतः-क्रिया' तथा 'रचनात्मकता' के द्वारा अभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। यही सिद्धान्त फ्राबेल की शिक्षा-प्रणाली का मूल आधार है, जिस पर उसने अपनी शिक्षा-पद्धति को आधारित किया है।

फ्राबेल ने समाज को भी महत्त्व दिया है। यही उसकी विशेषता है। वैसे तो रूसो ने भी क्रियात्मकता को शिक्षा का आधार बताया था, पर वह इमील को समाज से दूर निर्जन शान्त प्रकृति की गोद में शिक्षित करने के पक्ष में था वह उसे समाज के सम्पर्क से दूर ही रखना चाहता था। पर फ्राबेल शिक्षा के सामाजिक आधार को भी बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। वास्तव में वह चाहता है कि बालक की स्वतः क्रिया या आत्माभिव्यक्ति तथा व्यक्तित्व का निर्माण समाज के माध्यम से ही हो। वह मानता है कि व्यक्ति में सामाजिक प्रवृत्ति प्रमुख है तथा उसकी शिक्षा समाज के सदस्यों के सम्पर्क तथा बीच में रहकर ही अच्छी तरह हो सकती है। इसीलिए उसका कथन है कि जीवन में व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने के बाद समाज की संस्थाओं, घर, कुटुम्ब, व्यवसाय-संस्थाओं आदि में ही रहना पड़ता है। ये ही उसके जीवनयापन के आधार हैं। उन्हीं के द्वारा उसे सामाजिक बन्धनों, नियमों, परम्पराओं आदि का ज्ञान होता है। उन्हीं के द्वारा उसे अपने वर्तमान तथा भविष्य के विकास की शिक्षा तथा आधार मिलता है। बालक सहयोग से विभिन्न क्रियाओं को करता तथा सीखता हुआ न केवल शारीरिक स्फूर्ति प्राप्त करता है, वरन् नैतिक तथा बौद्धिक प्रशिक्षण भी प्राप्त करता है। रूसो के समान फ्राबेल का विचार था कि बालक क्रियाशील जीवित प्राणी है तथा बौद्धिक विकास के पूर्व उसका शारीरिक विकास होता है। इसी-लिए फ्राबेल की किंडरगार्टन विधि में स्वतः क्रिया के साधनों एवं खेलों या पठ्ठापाठ में समावेश किया गया है। 'कीलहू' में उसने बोझ उठाने, खींचने, खोदने, फाड़ने आदि अनेक प्रकार परिश्रम के कार्यों को कराने की व्यवस्था की थी।

फ्राबेल का कथन है कि व्यक्ति को अपने स्वतः के आन्तरिक तथा बाहरी समाज के अन्य सदस्यों के साथ मानव-प्रकृति के अनुरूप साम्य स्थापित करना चाहिए। उसके जीवन का विकास उसकी प्रत्येक परिस्थिति में—घर, शाला, समाज—इसी प्रकार होना चाहिए। अपने इन विचारों को मूर्त रूप देने तथा बालक की क्रियात्मक अभिव्यक्ति, सामाजिक आचरण तथा व्यावहारिक शिक्षा के लिए फ्राबेल ने 'किंडरगार्टन शिक्षण-विधि' का निर्माण किया। इस प्रकार की विधि का उपयोग करनेवाली शालाओं के द्वारा उसने बालकों की शिक्षा के लिए ऐसा ध्यान देने का प्रयत्न किया जहाँ बच्चों का राज्य हो तथा जहाँ शिशु नागरिक अपने अन्य साथियों की सुविधाओं का ध्यान रखते हुए स्वतंत्र क्रियाओं में रत रहें। यहाँ न तो पुस्तकें हों, न बँधे घंटे हों, न बौद्धिक पाठ हों। वरन् यहाँ स्वतंत्र खेल-कूद, विचरण तथा उल्लासमय गीत आदि हों। इस प्रकार फ्राबेल ने स्वतंत्र, स्वतः-क्रिया, सामाजिक सहयोग आदि सिद्धान्तों का समावेश अपनी किंडरगार्टन-विधि में किया। इस विधि में क्रिया, खेल, गीत, कहानी, विभिन्न प्रकार की घरेलू क्रियाओं आदि सभी का समावेश किया गया है। इस प्रकार बालकों की शाला समाज का छोटा रूप बन जाती है। इस विधि में अभिव्यक्ति के परस्पर सम्बद्ध तीन रूप हैं—(१) गीत, (२) गति तथा (३) रचना। ये साधन अलग-अलग रहते हुए भी एक-दूसरे के सहयोग से चलते तथा सम्पूर्ण कार्यक्रम मिलकर एक पूर्णता को प्राप्त होता है।

फ्राबेल की रचनात्मक क्रियाएँ, जैसे सुई-धागे का कार्य, बुनना, कागज का कार्य, रेत-मिट्टी तथा रंगों आदि के कार्यों ने आगे चलकर हस्तकार्य का एक आन्दोलन-सा चला दिया। इस आन्दोलन को कार्य रूप में परिणत करने वाला प्रथम देश फिनलैंड था। इसके बाद स्वीडन ने इसे अपनाया। स्वीडन ने न केवल इसे शैक्षणिक आधार बनाया, पर इसे आर्थिक आधार भी दिया। इसके बाद रूस तथा रूस के माध्यम से अमेरिका ने इसे अपनाया।

अध्याय १७

मैडम मांटेसरी का शिक्षा-दर्शन

१९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में विज्ञान की बहुत प्रगति हुई। इस प्रगति ने संसार के विभिन्न देशों की दूरी को बहुत कम कर दिया। ये देश अब एक-दूसरे पर निर्भर भी रहने लगे। फलस्वरूप विश्व-बन्धुत्व की भावना का उदय हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक खोज हुईं। मनोविज्ञान के प्रयोगों तथा बुद्धि-परीक्षाओं ने अनेक तथ्यों का निरूपण किया। फलस्वरूप दी जाने वाली शिक्षा अपर्याप्त मानी जाने लगी। शिक्षा जनतांत्रिक होने लगी। अब शिक्षा केवल धनी-मानी व्यक्तियों के बालकों तक सीमित न रही। 'सभी को शिक्षा दी जानी चाहिए।' का नारा लगाया जाने लगा। अपंग, विकलांग, मूढ़, गूँगे आदि की शिक्षा में अनेक डाक्टरों ने बड़ी सहायता पहुँचाई। मैडम मांटेसरी भी इन्हीं डाक्टरों में से एक थीं, जिन्होंने मन्द बुद्धिवाले बालकों की चिकित्सा करने तथा सामान्य बालकों की शिक्षा की एक ऐसी विधि निकाली जो आज संसार के अनेक देशों में प्रचलित है।

फ्राबेल तथा मांटेसरी की मृत्यु में लगभग १०० वर्षों का अन्तर है। फ्राबेल सन् १८५२ में तथा मैडम मांटेसरी १९५२ में स्वर्गवासी हुए; पर इन १०० वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में बड़े परिवर्तन हुए। फ्राबेल शिक्षा में बालक के विकास तथा वंश-परम्परा को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था। पर मांटेसरी वातावरण को प्रमुख मानती हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Secret of Childhood' में वातावरण को शिक्षण-विधि का केन्द्र माना।

मैडम मांटेसरी पर सेगुइन की पुस्तक 'Idiocy : Causes and its Treatment by Psychological Methods' का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने रोम में मन्द बुद्धिवाले बालकों की शिक्षा की व्यवस्था के समय शिक्षण-विधियों-सम्बन्धी अनेक प्रयोग किये। इन प्रयोगों का उन मन्दबुद्धि वाले बालकों

र अच्छा असर हुआ। इन अनुभवों की सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने एक शिक्षण-विधि का निर्माण किया जिसे 'मांटेसरी विधि' कहते हैं।

मन्द बुद्धिवाले बालकों की शिक्षा के समय मांटेसरी ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले :

(१) बालक को अन्य बालकों पर आश्रित न रहकर स्वतंत्र जीवन बिताने योग्य होने का प्रशिक्षण देना चाहिए।

(२) मन्द बुद्धि बालक के मस्तिष्क की पहुँच के लिए सामान्य बालक के स्तर की अपेक्षा निम्न स्तर से पहुँच प्रारम्भ करना चाहिए।

(३) मन्द बुद्धि बालक की किसी एक इन्द्रिय को अन्य दूसरी इन्द्रिय का कार्य करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।

(४) स्पर्श इन्द्रिय बहुत महत्त्वपूर्ण तथा प्रमुख है।

(५) स्पर्श-इन्द्रिय का विकास कम आयु में अधिक हो सकता है तथा इस आयु में इसकी उपेक्षा करने से इसका उचित विकास नहीं किया जा सकता।

इन उपरोक्त निष्कर्षों का प्रभाव हम मांटेसरी विधि में पाते हैं तथा ये निष्कर्ष हमें मांटेसरी शिक्षा-दर्शन को समझने में सहायक भी होंगे।

पेस्टालाजी ने शिक्षा को मनोविज्ञान का आधार देने का प्रयत्न किया था। पर उनके समय में बाल-मनोविज्ञान का उतना विकास नहीं हुआ था। अतः वह शिक्षण-पद्धति का सुधार करके ही रह गया था। पर मांटेसरी ने अपनी विधि को स्वाभाविक रूप से मनोवैज्ञानिक बनाया तथा इस विधि को हम मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं। मांटेसरी पर वैज्ञानिक मनोविज्ञान का प्रभाव अधिक है। वैज्ञानिक मनोविज्ञान शैक्षणिक प्रक्रिया को बालक के मानसिक विकास तथा रुचियों के अनुकूल बनाने को महत्त्वपूर्ण मानता है। इसमें शैक्षणिक प्रक्रिया पाठ्यक्रम की या शिक्षक की पाठयोजना के आश्रित नहीं रहती। इसलिए मांटेसरी का कथन है कि शिक्षा बालक के सामान्य विकास के लिए दी गई सक्रिय सहायता है। तथा शैक्षणिक प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक क्षण तभी आता है जब कि बालक स्वयं उसकी आवश्यकता का अनुभव करता है। इसलिए मांटेसरी ने बालक के विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल प्रक्रियाओं को

अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनका विश्वास है कि यदि बालक किसी प्रक्रिया को नहीं करता है या करना भूल जाता है या समझता नहीं है तो हमें यह समझना चाहिए कि अभी तक बालक उसे करने के लिए पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ है, अतः शिक्षक को पाठ दुहराकर जबरदस्ती बालक को उस प्रक्रिया को करने या समझाने का प्रयास नहीं करना चाहिए।

माण्टेसरी किसी भी प्रक्रिया की अवधि का निर्धारण घंटों या समय-विभाग-चक्र में दी गई सारिणी के अनुसार निश्चित करने के पक्ष में नहीं है। उनका कथन है कि बालक की रुचि को ही इस प्रक्रिया की अवधि को निश्चित करना चाहिए। यही कारण है कि माण्टेसरी-शालाओं में बालकों के लिए घंटा, समय आदि का बन्धन नहीं रहता है। वहाँ तो बालक किसी भी क्रिया को अपनी ही रुचि से करने तथा उसमें स्वतन्त्रता से जितना चाहे समय लगा सकते हैं।

मैडम माण्टेसरी बालकों को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं। उनका कथन है कि बालक की स्वतन्त्रता अपने स्वयं के विकास के नियमों का पालन करने में निहित है। अतः बालकों की स्वतंत्रता का प्रदर्शन उनकी स्वयं स्वतंत्र क्रियाओं द्वारा प्रदर्शित होना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि बालक अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतन्त्र रहे। यही स्वतंत्रता माण्टेसरी शालाओं के अनुशासन की कुञ्जी है। माण्टेसरी शालाओं में ४०-५० बालक-बालिकाओं के होते हुए भी आपको पूर्ण शान्ति तथा बिना शोर-गुल का वातावरण मिलेगा। वहाँ बालक विभिन्न कार्य करने में इतने व्यस्त रहते हैं कि उनके अस्तित्व का पता भी आसपास वालों को नहीं लग पाता है।

माण्टेसरी का विचार है कि जिस प्रकार शिक्षण विधि को बालक के विकास के अनुकूल होना चाहिए उसी प्रकार बालक का वातावरण भी उसके विकास में सहायक बननेवाला होना आवश्यक है। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है कि बालक को उसके अनुकूल ऐसा वातावरण, जिसमें सभी बातें, वस्तुएँ उसके विकास में सहायक बननेवाली हों, देने से बालक में एक ऐसे सक्रिय जीवन का विकास होता है जिसमें न केवल वे किसी प्रक्रिया या क्रिया को करते तथा देखते हैं वरन उसमें एक आध्यात्मिक जीवन के दर्शन होते हैं। इसलिए उनका कथन है कि

इस प्रकार का वातावरण बालक को केवल स्वतंत्रता प्रदान नहीं करता है वह तो उसे स्वयं शिक्षा भी प्राप्त कराता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक 'लॉक' ने इन्द्रियों को 'ज्ञान का द्वार' माना है। मांटेसरी ने भी इन्द्रियों की इस उपयोगिता को समझा है तथा बालक-बालिकाओं की इन्द्रियों को सक्षम तथा सबल बनाने का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसलिए उन्होंने अपनी शिक्षा-विधि में इन्द्रियों की शिक्षा को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। इन इन्द्रियों के विकास के लिए उन्होंने वातावरण को भी एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में माना है।

मांटेसरी ने श्रम को भी अधिक महत्त्व दिया है। वे श्रम को बालक के मानसिक विकास को पूर्ण करनेवाला मानती हैं, क्योंकि वह सोचने तथा अंगों की पुष्टि, दोनों पर निर्भर है। श्रम सोचने तथा अंगों की पुष्टि दोनों क्रियाओं को उत्तेजना देता है। श्रम से बालक प्रतिकूल परिस्थितियों को भी अनुकूल बना लेते हैं तथा उन्हें इसमें आनन्द भी आता है। अतः मांटेसरी श्रम को स्वाभाविक मानती हैं।

मैडम मांटेसरी किसी कार्य को दक्षता से करने को ही उसका पारितोषिक मानती हैं, अतः उन्होंने अलग से पारितोषिक देने की भर्त्सना की है। वे उसे अनुपयोगी मानती हैं।

अध्याय १८

ड्यूई का शिक्षा-दर्शन

१९वीं शताब्दी में विज्ञान की अधिक प्रगति हुई। शिक्षा के क्षेत्र में भी मनोविज्ञान तथा विज्ञान की खोजों का प्रभाव पड़ा। शिक्षा के क्षेत्र में अनेक प्रकार के विद्यालय खोले गए। इन विद्यालयों में पेस्टालाजी, हरबार्ट, फ्राबेल, मांटेसरी आदि शिक्षा-शास्त्रियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। अपंग, अन्धे तथा मन्द बुद्धिवाले बालकों के लिए भी अनेक स्थानों में विद्यालय खोले गए। विभिन्न प्रकार के विद्यालयों, विज्ञान की प्रगति और जीवन की जटिलता के कारण अनेक प्रकार की विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं। फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में नवीन दृष्टि से विचार करना आवश्यक हो गया। अभी तक शिक्षा-शास्त्रियों का मत था कि बालकों को भावी जीवन के लिए शिक्षित किया जाना चाहिए। फलस्वरूप शालाओं में बालकों को ऐसी ही बातों का ज्ञान दिया जाता था जो उनके भविष्य के लिए उपयोगी होती थीं। इसमें बालकों के वर्तमान जीवन का कोई मूल्य नहीं था। इसमें बालकों के भविष्य को उन्नत तथा पूर्ण बनाने के लोभ में उनके वर्तमान की उपेक्षा करके उसे कष्टप्रद बनाना पड़ता था।

जॉन ड्यूई ने इन विचारों का खण्डन किया तथा शिक्षा एवं जीवन की समस्याओं पर दार्शनिक विधि से विचार किया। ड्यूई ने अपने विचारों को केवल आवेश में आकर ही प्रस्तुत नहीं किया था वरन् ये विचार उसने स्वयं अपने वातावरण तथा परिस्थितियों से प्राप्त किये थे; अतः उनमें स्थायित्व, ओज तथा व्यावहारिकता है। सामाजिक जीवन तथा उसमें बुद्धि के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए उसने लिखा है कि उसने अपने विचारों का केवल आविष्कार-मात्र ही नहीं किया है वरन् उसके विचार तथा विश्वास तो उसे उसके आसपास के वातावरण से प्राप्त हुए हैं।

जॉन ड्यूई का प्रारम्भिक तथा शैक्षणिक जीवन सादा तथा साधारण था। ईश्वर में उसकी आस्था थी। पर उसके विचारों पर हक्सले के भौतिकवाद तथा डारविन के विकासवाद-सम्बन्धी सिद्धान्तों का बड़ा प्रभाव पड़ा था। ईश्वर में आस्था रखने के कारण उसका विश्वास था कि मानव-जीवन के विकास में भौतिकता का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है। नैतिकता तथा भौतिकवाद और विकासवाद की खाई की पूर्ति के प्रयास ने जॉन ड्यूई को अपने शैक्षणिक जीवन के अन्तिम चरणों में एक नई दिशा की ओर मोड़ा तथा अपने कॉलेज जीवन से ही वह अच्छा दार्शनिक बन गया।

वाल्टीमूर में अध्ययन करते समय ड्यूई स्टेनलेहाल पीयर्स तथा जॉर्ज सिल्वेस्टर मॉरिस के सम्पर्क में आया। मॉरिस हीगेल के विचारों का समर्थक था। फलस्वरूप उसका शिष्य जान ड्यूई भी हीगेल से प्रभावित हुआ। हीगेल आदर्शवादी था। उसके 'विपरीत में सश्लेषण' (synthesis of opposites), दैवी तथा मानवीय, आध्यात्मिक तथा भौतिक के सश्लेषण के सिद्धान्त का प्रभाव जॉन ड्यूई पर बहुत अधिक पडा। इस प्रकार जॉन ड्यूई का प्रारम्भिक दार्शनिक जीवन हीगेल से प्रभावित रहा, पर वह प्रयोजनवादी (pragmatist) बन गया तथा अन्त-अन्त में तो प्रयोगवादी (experimentalist) हो गया।

जॉन ड्यूई के अनुसार दर्शन का उद्देश्य यह बताना नहीं है कि हम ससार को किस प्रकार जानते या समझते हैं, वरन् यह बतलाना है कि हम लोग उसे किस प्रकार नियत्रित और अधिक उपयोगी बना सकते हैं। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर दर्शन का उद्देश्य वर्तमान सामाजिक जीवन की प्रमुख शक्तियाँ विशेषतः लोकतंत्र, विज्ञान तथा उद्योग के सम्बन्धों का अध्ययन करना ही होगा। इस प्रकार दर्शन का उद्देश्य मानव की वर्तमान सामाजिक तथा नैतिक समस्याओं का स्पष्टीकरण होना चाहिए। अतः इसके लिए सामाजिक समस्याओं के हल के लिए प्रयोगवादी दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। जॉन ड्यूई ने इसी प्रयोगवाद को महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसीलिए जॉन ड्यूई हर वस्तु तथा तत्त्व को प्रयोगवादी दृष्टिकोण से देखता था। इसीलिए उसका कथन था कि संसार के किसी भी तत्त्व में स्थायित्व नहीं है। सम्पूर्ण संसार अस्थिर तथा [illegible] अतः किसी आदर्शवादी [illegible] की कल्पना करना बहुत ही

अतः वह अलौकिक संसार को असत्य मानता तथा कहता है कि मानव को स्वयं अपना मार्ग निर्धारित करना चाहिए। उसका विश्वास था कि इस प्रयोगवादी दृष्टिकोण से अपनी सामाजिक समस्याओं को हल कर के ही मानव अपने सामाजिक जीवन को उन्नतिशील बना सकता है। जॉन ड्यूई संसार में परिवर्तनशील परिस्थितियों पर नियंत्रण करने के लिए मानव को अपनी सक्रिय बुद्धि का सदुपयोग करने के लिए उपयोगी मानता था। इस प्रकार वह दर्शन को मानव की वास्तविक सामाजिक परिस्थितियों के सुधारने तथा उन्नतिशील बनाने योग्य मानता था। इसलिए उसने 'Reconstruction in Philosophy' में लिखा है कि दर्शन का प्रमुख प्रयोजन अनुभव, विशेषतः सामूहिक मानव-अनुभवों की सम्भावनाओं का विवेकीकरण है।

इसके लिए जॉन ड्यूई सोचने-विचारने को आवश्यक मानता है। पर उसके लिए वास्तविक परिस्थितियों में सोचना ही महत्त्व रखता है, क्योंकि मनुष्य वास्तविक परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में हम यह कहते हैं कि मानव अपने जीवन-यापन के लिए सोचता-विचारता है। इस दृष्टि से जीवन को एक अमूर्त तथा आदर्श रूप में देखना उपयुक्त नहीं है, अतः समस्याओं के आदर्श हलों की खोज निरर्थक है। क्योंकि आनेवाली परिस्थितियाँ आज की परिस्थितियों से भिन्न होंगी तथा आज की परिस्थितियों के लिए उपयोगी सत्य कल के काम के लिए उपयोगी नहीं होंगे। कोई भी विचार किसी विशेष परिस्थिति के लिए उपयोगी होता है तथा उसके बदलते ही वह उतना उपयोगी नहीं रह जाता है।

ड्यूई ज्ञान को अनुभव के रूप में मानता है। उसका विश्वास था कि अनुभव ही ज्ञान है तथा अनुभव क्रिया से प्राप्त होता है अतः क्रिया से अलग कोई ज्ञान नहीं है। आज हमारे पास जो भी ज्ञान संचित है वह अभी तक मानव के घर, वस्त्र, व्यवस्था, जीवन की रक्षा व भोजन पाने के लिए की गई क्रियाओं के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ है। अतः उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Democracy and Education' में लिखा है कि सत्य ज्ञान वही है जो हमारी चेतना से सामंजस्य स्थापित करके हमारी परिस्थितियों को हमारी आवश्यकताओं-इच्छाओं तथा उद्देश्यों के अनुकूल बनाने में सहायक होता है। इस प्रकार हम देखते हैं

कि ड्यूई मानवीय बुद्धि का उपयोग उसकी उन्नति तथा उसके जीवन को पूर्ण बनाने के लिए करने के पक्ष में था। इसके लिए वह प्रयोग-विधि को उपयोगी मानता था। वह सिद्धान्तों तथा सत्य को भी परिवर्तनशील मानता था। वह किसी भी विचार को परिस्थिति तथा मानव-अनुभव से अलग नहीं मानता था। इसी तथ्य को जेम्स ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है। जेम्स का कथन है कि आज जो सत्य प्राप्त होता है उसी के अनुसार हमें आज रहना है तथा कल भी उसी सत्य को असत्य कहने के लिए भी तैयार रहना है।

ड्यूई की दर्शन-सम्बन्धी उपरोक्त बातें उसके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को प्रदर्शित करती हैं। क्योंकि उसके दर्शन के सिद्धान्त सामाजिक मूल्यों, तथा शिक्षा-सिद्धान्त इन्हीं मूल्यों को प्राप्त करने की विधियों को प्रतिपादित करते हैं। ड्यूई का विश्वास है कि शिक्षा हमें किसी शाश्वत सत्य की ओर नहीं ले जाती है। यह तो लगातार चलने वाली है। उसके अनुसार शिक्षा संग्रहीत अनुभवों का पुनर्निर्माण है (reconstruction of accumulated experience)। पर वह चाहता है कि अनुभवों का यह पुनर्निर्माण सामाजिक उत्थान की दृष्टि से होना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया का रूप ले लेती है। अतः शाला सक्रिय तथा ऐसी होनी चाहिए जहाँ बालक अन्य साथियों के सम्पर्क में आकर अपने अनुभवों से सीखे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ड्यूई शिक्षा को जीवन ही मानता है। शाला में जीवन-यापन करते हुए बालक का विकास होता जाता है तथा विकास की एक इकाई आनेवाली विकास की इकाई के लिए सहायक होती है। इससे शिक्षा परिस्थितियों से लगातार साम्य स्थापित करने की प्रक्रिया हो जाती है। ड्यूई की शिक्षा की इस प्रक्रिया के दो पक्ष महत्त्वपूर्ण हैं : (१) मनोवैज्ञानिक और (२) सामाजिक।

हजारों वर्षों से इस पृथ्वी पर क्रमबद्ध जीवन चल रहा है। व्यक्ति इस जीवन को जीनेवाला रहा है। अतः अभी तक के जीवन के विकास में मानव ने जो कुछ सीखा है वह अपनी सन्तान को धरोहर के रूप में मनोवैज्ञानिक पक्ष देता है। अभी तक जीवन के विकास-क्रम में जो कुछ होता रहा है वही मानव संस्कृति के रूप में सुरक्षित है। इसी संस्कृति से बालकों को परिचित कराना शिक्षा है। इसीलिए ड्यूई ने

शिक्षा को अनिवार्य क्रिया के रूप में माना है, पर वह बालक को महत्त्वपूर्ण मानता है—यह होते हुए कि पूर्वजों का ज्ञान तथा विवेक बालकों को दिये जाने वाले ज्ञान की मात्रा या पाठ्य विषय निश्चित करेंगे। तो भी ड्यूई बालक को अनोखा मानता है। उसका कथन है कि बालक का स्वयं का जीवन है तथा उसके भविष्य की नई तथा अपनी स्वयं की समस्याएँ होती हैं। अतः शिक्षा बालक का पूर्ण ज्ञान करके ही दी जानी चाहिए। अतः बालक के मनोविज्ञान का दृष्टिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जाना आवश्यक है। इसके लिए उसकी रुचियों, शक्तियों, आदतों तथा क्षमताओं का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। ड्यूई ने बालक की चार रुचियों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है :

(१) वार्तालाप तथा विचारों के आदान-प्रदान की रुचि।

(२) वस्तुओं के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की जिज्ञासा या रुचि।

(३) वस्तुओं को बनाने या निर्माण करने की रुचि।

(४) कलात्मक प्रदर्शन की रुचि।

ड्यूई का विश्वास है कि मानव की इन चार प्रकारों की रुचियों का पाठ्यक्रम में बड़ा महत्त्व होना चाहिए। ड्यूई का कथन है कि सीखने की प्रक्रिया को सक्रिय बनाने के लिए बालकों को अपनी संस्कृति से क्रियाओं का चुनाव करके उनको पुनःसुव्यवस्थित करना चाहिए। इतना ही नहीं, उसे अपनी सांस्कृतिक धरोहर से क्रियाओं का चुनाव करके अपनी तथा इस परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल उपयोगी बनाने के लिए स्वरूप प्रदान करना चाहिए। इसके लिए ड्यूई रचनात्मक क्रियाओं को प्रोत्साहित करने को बड़ा महत्त्व देता है, पर वह क्रियाओं को अव्यवस्थित ढंग से करने के पक्ष में नहीं है। बालक की क्रियाओं को शिक्षक का उचित निर्देशन तथा सहायता भी प्राप्त होनी चाहिए, पर हमें यह न भूलना चाहिए कि बालक की क्रियाएँ केवल वैयक्तिक ही नहीं होनी चाहिए, ये क्रियाएँ तो ज्ञान को समाज के लिए किये जा रहे अपने साथियों के साथ-साथ किये जा रहे प्रयत्नों तथा कार्यों के रूप में होनी चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ड्यूई यह मानता है कि बालक या व्यक्ति अकेला समाज से दूर कोई प्राणी नहीं है। वह समाज से बिल्कुल भिन्न नहीं

किया जा सकता, अतः उसका कथन है कि शिक्षा में समाज

सामाजिक पक्ष — में प्रचलित क्रियाओं का समावेश अवश्य होना चाहिए। इतना ही नहीं, वह तो शैक्षणिक प्रक्रिया का प्रारम्भ ही समाज में प्रचलित इन क्रियाओं से कराये जाने के पक्ष में है। क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों से युक्त इन क्रियाओं के द्वारा बालकों के व्यक्तित्व तथा वैयक्तिकता का विकास सरलता से किया जा सकता है।

'प्रजातंत्र तथा शिक्षा' में ड्यूई शिक्षा को सामाजिक क्रिया मानता हुआ बतलाता है कि शिक्षा मानव-क्रियाओं की उत्प्रेरणा के तीन प्रमुख तत्त्वों का संगम है, क्योंकि यहाँ सद्भावना तथा प्यार का प्रतीक बालक रहता है। यहाँ सच्ची तथा वास्तविक विधियों से समाज-कल्याण के प्रयत्न किये जाते हैं तथा यहाँ ज्ञान में सच्ची रुचि भी पाई जाती है। इस प्रकार ये तीन तत्त्व स्नेह, सामाजिक उन्नति तथा विकास एवं ज्ञान के लिए वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल एक स्थान में एकत्रित होकर क्रिया को प्रेरणा देते हैं। लोकतन्त्र तथा स्वतंत्र बुद्धि के विकास के लिए इन तीनों तत्त्वों का संगठन आवश्यक है।

ड्यूई वातावरण को बड़ा महत्त्व देता है। वह वातावरण को बड़ा शक्तिमान मानता है, क्योंकि वातावरण बालक का उचित या अनुचित विकास कर सकता है। वातावरण का बालक के बाह्य व्यवहार तथा चेतन-अचेतन मन पर गहन प्रभाव पड़ता है। यही वातावरण उसकी सफलता, असफलता, मान, अपमान तथा अन्य भावों का विकास करता है। वातावरण ही उसे भाषा सिखलाता है। उसकी रुचियों का विकास करता तथा उसके आचरण के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है।

इस प्रकार ड्यूई के लिए वातावरण एक विशेष महत्त्व रखता है। उसने वातावरण का बड़ा व्यापक अर्थ लिया है। ड्यूई की समाज की कल्पना भी हमारे समाज की कल्पना से भिन्न है। वह संगठन-विहीन एक-दूसरे की सहायता न करनेवाले लोगों के समूह को समाज नहीं मानता है। उसे वह 'समूह' ही कहता है। ड्यूई का समाज तो सहयोग, सहानुभूति, समानता, स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र के आधार को मान्यता देनेवाला है। ड्यूई का विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा इस प्रकार के समाज का निर्माण सरलता से हो सकता है क्योंकि

के सुनियोजित वातावरण में बालक को लोकतंत्र की शिक्षा दी जा सकती है। ऐसा वातावरण अन्यत्र मिलना कठिन है, क्योंकि शाला में पुस्तकों आदि के द्वारा बालक का सम्बन्ध भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों से स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है। कुटुम्ब आदि में तो बालक केवल दैनिक जीवन से सम्बन्धित बातों का ही ज्ञान प्राप्त करता है। शाला में ज्ञान की जटिलता दूर करके उसे बोधगम्य बना दिया जाता है। शाला वातावरण से स्वस्थ बातें ही चुनकर बालकों के समक्ष प्रस्तुत करती है, अतः बालक समाज की गन्दगी तथा बुराइयों से बच जाता है। शाला का जीवन एकांगी नहीं होता, क्योंकि वहाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सभी प्रकार के अनुभवों को चुनकर बालक को देने का प्रयत्न किया जाता है।

इस प्रकार शाला की सम्पूर्ण शिक्षा सामाजिक वातावरण में शिक्षा का रूप लेकर समाज के उत्थान में सहायक होती है। इसलिए ड्यूई सम्पूर्ण शिक्षा को एक प्रकार का वातावरण (environment) मानता है। उसने शिक्षा को पथ-प्रदर्शक के रूप में माना है। इस दृष्टि से शिक्षा के तीन कार्य होते हैं—(१) नियमण (२) निर्देशन (३) पथ-प्रदर्शन। निर्देशन बालकों का ध्यान जीवन के लिए आवश्यक वांछनीय कार्यों की ओर आकर्षित करने के लिए आवश्यक है। इससे बालक अनावश्यक कार्यों में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करते। बालकों को अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर अनुशासन रखना आवश्यक है। उनकी प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि की स्वतंत्रता का तात्पर्य मनमानी करने देना नहीं है। ड्यूई बालकों के स्वयं आत्म नियंत्रण को अधिक महत्त्व देता है। योजना एक प्रकार से परोक्ष नियमण ही है, क्योंकि योजना के अनुसार कार्य करते रहने से बुरी भावनाओं तथा कार्यों के लिए बालकों को अवसर नहीं मिल पाता है। ड्यूई दंड तथा भय को अनुपयुक्त मानता है। वह जबरदस्ती किसी बात या काम को बालकों के ऊपर लादने के पक्ष में नहीं है। वह तो सुझाव तथा सलाह के द्वारा पथ प्रदर्शन चाहता है। इसके लिए बालकों की अनुकरण प्रवृत्ति का लाभ उठाया जाना चाहिए।

ड्यूई पाठ्य विषय तथा शिक्षा विधि को परस्पर सम्बद्ध मानता है। उसने 'लोकतंत्र तथा शिक्षा' में सम्बन्धित विचारों को व्यक्त किया है। वह रूसो के

अवसर प्रदान किया जाये जिससे वह स्वयं प्राप्त ज्ञान की सत्यता की जाँच करे तथा उसका ज्ञान स्पष्ट हो सके।

ड्यूई शिक्षक को शिक्षा-रूपी नाटक का सूत्रधार मानता है तथा शिक्षण में उसे महत्त्वपूर्ण समझता है। शिक्षक चूँकि विद्वान्, अध्ययनशील, मनोविज्ञान का ज्ञाता होता है अतः वह बालकों की आवश्यकताओं का अध्ययन कर लेता है तथा आवश्यकतानुसार उन्हें भूलों से बचाता है। योजना के कार्यान्वयन में वह बालकों का उचित निर्देशन तथा पथ-प्रदर्शन करता है।

ड्यूई सूचना तथा ज्ञान में अन्तर मानता है तथा पाठ्य-सामग्री का चुनाव ज्ञान के आधार पर करने को उपयुक्त मानता है। वह वस्तुओं के साधारण ज्ञान तथा परिचय को सूचना मानता है। उसके अनुसार सूचनाएँ ज्ञानवर्धन की प्रेरणाएँ ही दे सकती हैं। पर वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान सच्चा ज्ञान है। वस्तु की सत्यता या वास्तविकता का ज्ञान युगों से हजारों-लाखों मनुष्यों के परीक्षणों द्वारा निर्धारित होता है। अतः हमारे पाठ्यक्रम में वास्तविक ज्ञान के विषय होना चाहिए। ये विषय ऐसे होना आवश्यक हैं जिनसे सत्य के शोध या जाँच करने के अवसर प्राप्त हों। अतः ड्यूई वैज्ञानिक तथा सामाजिक विषय को पढ़ाना उपयुक्त समझता है। वैज्ञानिक विषय बालक में जिज्ञासा, प्रयोग तथा सुचारु रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति का विकास करते हैं। सामाजिक विषय बालकों को अभी तक चले आये सामाजिक जीवन के द्वारा संचित संस्कृति का ज्ञान कराते हैं। साथ ही-साथ बालक अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग समाज के उत्थान के लिए करते हैं।

ड्यूई का कथन है कि कोई भी विषय पूर्णरूप से बौद्धिक या पूर्ण रूप से शारीरिक नहीं होता है। प्राचीन काल में चाहे हाथ से किये जानेवाले कार्य में बुद्धि का कम प्रयोग करना पड़ता हो पर आज के वैज्ञानिक युग में यह सम्भव नहीं है। साथ ही-साथ मनोवैज्ञानिक खोजों ने भी मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं में समझे जानेवाले अन्तर को असत्य सिद्ध कर दिया है। अतः उसने बौद्धिक तथा शारीरिक कार्यों में तथा संयोग स्थापित करने के लिए कहा। इसके लिए उसने सानुबन्ध या सह-सम्बन्ध का सिद्धान्त प्रतिपादित

किया। वह ऊँच-नीच, धनी-निर्धन आदि का भेद-भाव नहीं मानता है। इस तरह वह समाज में प्रचलित भेद-भावों को दूर करने के पक्ष में है।

वह शिक्षा में व्यावसायिक तत्त्वों को भी मान्यता देता है। हाँ, वह यह अवश्य मानता है कि बालकों को शुद्ध व्यावसायिक शिक्षा न दी जाये, पर वह बालकों की व्यावसायिक क्षमता के पक्ष में अवश्य है। उसका कथन है कि व्यवसाय में निपुणता आर्थिक सम्पन्नता तथा क्षमता की वृद्धि करती है और जीवन को सुखी बनाती है। साथ-ही-साथ आज के वैज्ञानिक युग में विशेषीकरण के होने से प्रशिक्षण भी आवश्यक हो गया है। अतः व्यावसायिक शिक्षा में बौद्धिक तथा सामाजिक तत्त्व अवश्य मिले होना चाहिए।

अध्याय १९

गाँधीजी का शिक्षा-दर्शन

दर्शन को कार्यान्वित करने के लिए शिक्षा आवश्यक है तथा शिक्षा का मार्गदर्शन दर्शन ही करता है। शायद इसीलिए महात्मा गाँधी शिक्षा को न केवल सामाजिक वरन्, राजनैतिक, आर्थिक आदि विकास के लिए आवश्यक मानते थे। इस दृष्टि से महात्मा गाँधी एक महान् शिक्षा-शास्त्री थे। उनके द्वारा निर्मित तथा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा-योजना उनके शिक्षा-दर्शन का मूर्त रूप था। इस शिक्षा का उद्देश्य देश की जनता का हृदय तथा मन परिवर्तित करके एक शोषण-विहीन समाज की स्थापना करना था।

गाँधीजी का ईश्वर में अटल विश्वास था। वे मानव में ईश्वर का वास मानते थे। फलस्वरूप उन्हें ईश्वर तथा मानव के एकत्व में विश्वास था। इसीलिए वे राम, रहीम, बुद्ध, ईसा तथा अल्लाह को ईश्वर के विभिन्न नाम ही मानते थे। वे जीवन की विभिन्नता में भी एकता का दर्शन करते थे। उनका कथन था कि जैसे सूर्य की किरणें अनेक हैं पर उनका स्रोत एक ही है, इसी प्रकार संसार में विभिन्नता के होते हुए भी उसका रचयिता एक ही है अतः वे संसार के भेद-भाव को दूर करने के पक्ष में थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि वे सच्चे मानवतावादी थे। वे ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण अनावश्यक समझते थे, क्योंकि उनका कथन था कि ईश्वर की तो अनुभूति ही की जा सकती है। वे सत्य को ही ईश्वर तथा संसार को माया या असत्य मानते थे। अतः वे ईश्वरप्राप्ति का साधन 'सत्य' को समझते थे। उनका विश्वास था कि सत्य का पालन अहिंसा के द्वारा ही सम्भव है। उनका कथन था कि सत्य ही ईश्वर है तथा उसकी प्राप्ति मानव जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इस लक्ष्य की प्राप्ति अहिंसा के द्वारा ही की जा सकती है। इस प्रकार गाँधीजी सत्य एवं अहिंसा को एक दूसरे से सम्बन्धित मानते थे। चूँकि सत्य ही ईश्वर है तथा उसे अहिंसा के द्वारा

ही प्राप्त किया जा सकता है, अतः ईश्वर की अनुभूति शुद्ध हृदयवाले व्यक्ति को ही सम्भव है। हृदय की शुद्धि के लिए वे 'तप' को आवश्यक मानते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि तप या कष्ट आत्मा को सरल तथा शुद्ध बनाते हैं।

गाँधीजी समाज की अपेक्षा व्यक्ति को अधिक महत्त्व का मानते थे। पर यह समझना भूल होगी कि गाँधीजी व्यक्ति को इतना महत्त्व देते थे कि वह सत्य की खोज स्वार्थी बनकर करे तथा समाज के अन्य व्यक्तियों का ध्यान न रखे। वे तो सभी की स्वतंत्रता तथा बराबरी में विश्वास रखते थे। उनका उद्देश्य शोषण-विहीन ऐसे समाज की स्थापना करना था जिसमें जाति, धर्म, रंग, धन आदि की असमानता तथा भेद-भाव न रहे। इस प्रकार वे विश्व-बन्धुत्व के समर्थक तथा माननेवाले थे। इसीलिए वह चाहते थे कि व्यक्ति अपने पूर्ण विकास के लिए ऐसे आध्यात्मिक समाज पर आश्रित रहे तथा इस प्रकार के समाज का आधार ऐसे सिद्धान्त, जैसे सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा न्याय आदि हों, जो मानव को उसके दैवी उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। इस प्रकार का समाज सभी प्रकार के शोषण तथा अन्याय से मुक्त होगा।

शोषणविहीन समाज की रचना के लिए गाँधीजी ने विकेन्द्रीकृत ग्रामोद्योग तथा कृषि का सहारा लिया। गाँधीजी यंत्रों के विरुद्ध नहीं थे। उनका आशय यह था कि यंत्रों का उपयोग बुरा नहीं है। पर उन पर निर्भर या आश्रित होना बुरा है। ग्रामोद्योग केवल कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में धन एकत्रित न होने देंगे। छोटे उद्योग-धन्धों को अपनाकर व्यक्ति स्वतंत्र होकर अपना जीवन निर्वाह करेगा तथा किसी प्रकार से शोषण का साधन न बन सकेगा।

गाँधीजी के इस प्रकार के शोषण-विहीन समाज में व्यक्ति की सेवा ही ईश्वर की सेवा होगी। इसीलिए गाँधीजी कहते थे कि मेरा उद्देश्य ईश्वर-सेवा है तथा इसीलिए मानव-सेवा भी; क्योंकि मानव में ईश्वर का वास है। उनका विश्वास था कि मानव का उद्देश्य अपनी सभी प्रकार की क्रियाओं, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति करना है। अतः व्यक्ति के लिए अन्य व्यक्तियों की सेवा करना आवश्यक है, क्योंकि इसी एक विधि से वह ईश्वर को पा सकता है। मानव-सेवा करने का तात्पर्य है कि ईश्वर की कृति के साथ

तादात्म्य स्थापित करके उसकी अनुभूति प्राप्त करना, क्योंकि ईश्वर मानव से अलग नहीं है। उनके अनुसार व्यक्ति अपने साथियों की सेवा के अनुपात में ही उच्च बनता है।

गाँधीजी ने चरित्र को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उनका कथन है कि हमारे साध्य एवं साधन दोनों पवित्र होना चाहिए। केवल साध्य अच्छा और पवित्र होने से काम न चलेगा। इस पवित्र साध्य की प्राप्ति के साधन भी पवित्र तथा सही होना आवश्यक है। इसीलिए गाँधीजी हमेशा सही मार्ग अपनाने को उचित मानते थे। उनका कथन था कि जीवन का कोई भी क्षेत्र हो—राजनीति, समाज, शिक्षा, धर्म—सत्य या सही मार्ग अपनाकर ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए गाँधीजी ने अपने सभी कार्यक्रमों में अछूतोद्धार, खादी-उत्पादन, स्वराज्य-प्राप्ति, आन्दोलन, नशाबन्दी, शिक्षा, ग्राम-सुधार में अहिंसा-पूर्वक सत्य मार्ग का अनुसरण किया। पर इस सत्य मार्ग पर चलने के लिए अभ्यास आवश्यक है। बिना पूर्व-अभ्यास के व्यक्ति में इन गुणों का विकास होना कठिन है। अतः इन गुणों के विकास तथा शोषण-विहीन स्वयं नियमित समाज की रचना के लिए गाँधीजी ने बुनियादी शिक्षा के रूप में एक ऐसी योजना बनाई जो उनके दर्शन के सिद्धान्तों का स्पष्ट मूर्त रूप ही है।

गाँधीजी बालक की समस्त शक्तियों के समुचित विकास करनेवाली शिक्षा को ही सच्ची शिक्षा मानते थे। समुचित विकास से उनका तात्पर्य शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास से था। साक्षरता को वे न तो शिक्षा का प्रारम्भ मानते थे और न अन्त। उसे वह व्यक्ति की शिक्षा का एक साधन मानते हैं। इसीलिए उनका कथन था कि साक्षरता कोई शिक्षा नहीं है। इसीलिए उन्होंने बिना पढ़े-लिखे किसान को, जिसका चरित्र ऊँचा है, श्रेष्ठ माना है और उसे उच्च नहीं माना जिसने आधुनिक शाला तथा महाविद्यालयों की डिग्रियाँ प्राप्त की हैं, पर जो चरित्रवान नहीं। इसीलिए श्री मशरूवाला ने कहा है कि साक्षरता ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान का माध्यम भी नहीं है। यह तो ज्ञान-भण्डार का संकेतात्मक प्रतीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साक्षरता शिक्षा का उद्देश्य तथा साध्य कभी हो ही नहीं सकती है। गाँधीजी के शिक्षा-दर्शन में तो बालक के व्यक्तित्व का विकास ही प्रमुख विषय तथा अन्य साधन गौण हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधीजी ने पश्चिमी शिक्षा-शास्त्रियों के समान बालक को महत्त्वपूर्ण माना है। स्व० श्री महादेव देसाई ने लिखा है गाँधीजी का विश्वास था कि शिक्षा को बालक का समुचित विकास करके पूर्ण व्यक्ति बनाने में समर्थ होना चाहिए। जो शिक्षा बालक को पूर्ण उपयोगी नागरिक नहीं बना सकती वह अच्छी शिक्षा नहीं हो सकती। यहाँ पूर्ण व्यक्ति का अर्थ व्यक्तित्व के चारों तत्वों, शरीर, हृदय, मन तथा आत्मा के समुचित विकास से है। इसलिए गाँधीजी कहते थे कि सच्ची शिक्षा वही है जो बालक के आध्यात्मिक, मानसिक या बौद्धिक तथा शारीरिक गुणों को उत्तेजित तथा उनका समुचित विकास करती है। इस प्रकार बुनियादी शिक्षा के अनुसार उपरोक्त तत्वों में से किसी एक तत्व पर बल देनेवाली या किसी एक का विकास करनेवाली शिक्षा बालक के व्यक्तित्व का अपूर्ण एवं एकाकी विकास करेगी।

बालक के सर्वांगीण विकास के लिए गाँधीजी ने उद्योग या दस्तकारी के माध्यम से शिक्षा देने को उपयुक्त माना है। वह उद्योग जिसके सहारे बालक को सम्पूर्ण ज्ञान दिया जायेगा उसमें स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न करेगा। २२ अक्टूबर सन् १९३७ को वर्धा शिक्षा-परिषद् में गाँधीजी ने भाषण देते हुए कहा था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से शालाओं में जो ज्ञान दिया जाता है वह न केवल निरर्थक है वरन् बालकों के लिए हानिप्रद भी है। उससे गाँव की हानि होती है। बालक अपने घर तथा समाज से विलग हो जाते हैं। आज की प्राथमिक शिक्षा में कोई भी ऐसी बात दिखलाई नहीं देती जो गाँव के बालक सीखें तथा उसका उपयोग अपने गाँव में ही कर सकें। अतः गाँधीजी ने प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का समन्वय कर उसे उद्योग के माध्यम से देने की सलाह दी।

पर उद्योग या दस्तकारी का आधार लेने का तात्पर्य यह नहीं था कि पढ़ाई के साथ-साथ एक उद्योग या धन्धा भी सिखा दिया जाये। उनका तात्पर्य था कि सम्पूर्ण शिक्षा का आधार उद्योग या दस्तकारी हो। हमारे देश में मध्ययुग में बालकों को केवल धन्धे सिखाए जाते थे। उस जमाने में इन उद्योगों या धन्धों के द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय धन्धा या उद्योग, उद्योग के लिए ही सिखलाया जाता था। पर गाँधीजी उद्योग

या धन्धों की मदद से तथा उनके माध्यम से शिक्षा देना चाहते थे। फलस्वरूप उन्होंने केवल उद्योग या दस्तकारी को सिखलाने पर बल न देकर बालकों को सम्पूर्ण शिक्षा उद्योग के द्वारा दिये जाने का महत्त्व माना।

बहुधा लोग तकली या चरखा या सूत-कताई को ही उद्योग बनाने के सम्बन्ध में आलोचना किया करते हैं। गाँधीजी ने तो समाज में प्रचलित किसी भी उद्योग को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए कहा। बुनियादी शिक्षा का पाठ्यक्रम बनानेवालों ने सुविधा के लिए ७ उद्योगों को चुन लिया तथा बुनियादी पाठ्यक्रम में उन्हें स्थान दिया। पर तकली-चरखा चलाने पर गाँधीजी ने बहुत जोर इसलिए दिया कि तकली चलाने में न आर्थिक खर्च पड़ता है और न अधिक व्यवस्था या तैयारी की आवश्यकता होती है। देश की गिरी हुई हालत को उठाने में भी तकली मदद कर सकती है। किसी भी अन्य धन्धे की व्यवस्था करने तथा सामान जुटाने में बड़ी कठिनाई होती है। इन सब बातों को सोचकर उन्होंने कहा कि प्राथमिक शिक्षा तकली से ही प्रारम्भ की जाये। उन्होंने कहा कि पहले साल बालकों को सब-कुछ तकली के ही बारे में बताया जाये। उनका विचार था कि बालक अपने लिए कपड़ा बना सकेगा।

गाँधीजी के विचार से शिक्षा का पाठ्यक्रम ७ वर्षों का होना चाहिए तथा कम-से-कम १४ साल की आयु तक शिक्षा दी जानी चाहिए। शालाओं में धार्मिक शिक्षा को उन्होंने आवश्यक माना। गाँधीजी का ईश्वर में अटल विश्वास था, अतः उन्होंने अपनी बुनियादी शिक्षा में ईश्वर-प्रार्थना का विशेष स्थान रखा। पर उनका कथन था कि मुख्य उद्योग, जिसके माध्यम से सम्पूर्ण ज्ञान दिया जायेगा, बालकों में स्वावलम्बन का भाव पैदा करेगा। यही स्वावलम्बन या धर्म सिखाना हमारा उद्देश्य रहेगा। तथा गाँधीजी के विचारों से धर्मों का असली रूप भी यही स्वावलम्बन सिखाना है।

सम्पूर्ण ज्ञान देनेवाले उद्योग तथा स्वावलम्बन के सम्बन्ध में लोगों में बड़ी भ्रान्ति फैली है। जैसा कि अभी दर्शाया गया है कि केवल उद्योग तथा अन्य विषयों का ज्ञान अलग-अलग देना बुनियादी शिक्षा में कोई महत्त्व नहीं रखता है। यह तो उद्योग के माध्यम से अन्य विषयों के ज्ञान पर बल देती है। कुछ व्यक्ति स्वावलम्बन के लिए उद्योग पर इतना महत्त्व देते हैं कि उनकी शालाएँ

केवल उत्पादन करनेवाले कारखाने बन जाते हैं। बुनियादी शालाएँ कोई कारखाने थोड़े ही हैं, जहाँ बालक किसी उत्पादक उद्योग में लगे रहते हैं। गाँधीजी का मतलब तो यह था कि उद्योग के द्वारा बालकों का सर्वांगीण विकास किया जाये।

बुनियादी शाला के उद्योग का सम्बन्ध स्वावलम्बन से भी अधिक है। गाँधीजी यह अवश्य चाहते थे कि उद्योग बालक के सम्पूर्ण विकास के साथ-साथ शिक्षा का कुछ खर्च भी निकाले। इस प्रकार वे शिक्षा को कम खर्चीली तथा स्वावलम्बी बनाना चाहते थे। शिक्षा के स्वावलम्बन के दो रूप हो सकते हैं :

(१) बालक के शाला के जीवन के बाद के जीवन को स्वावलम्बी बनाने योग्य; तथा

(२) शिक्षा का सम्पूर्ण खर्च वहन करने योग्य।

गाँधीजी का कथन था कि शिक्षा बेकारी के बीमे के रूप में होना चाहिए। वह चाहते थे कि ७ वर्ष की शिक्षा के बाद बालक को समाज तथा कुटुम्ब का उत्पादक अंग हो जाना चाहिए। इसके साथ-साथ उनका यह विश्वास था कि बालकों द्वारा बनाई गई वस्तुओं के मूल्य से शिक्षकों के वेतन का खर्च तो निकल ही आयेगा। इस प्रकार गाँधीजी शाला को कारखाना नहीं बनाना चाहते थे, वह तो उद्योग के द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास तथा शिक्षकों के वेतन का खर्च निकालने के पक्ष में थे। वह श्रम को महत्त्व अवश्य देते थे पर श्रम का तात्पर्य कुली के समान कार्य करने का नहीं था। वह चाहते थे कि श्रम अपनी तथा शाला की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में ही हो। इसीलिए उनका कथन था कि 'सभी काम सभी के लिए' हैं। इस सिद्धान्त से समाज से छुआछूत तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव को भी दूर किया जा सकता है।

अध्याय २०

टैगोर का शिक्षा-दर्शन

रवीन्द्रनाथ टैगोर ६ मई सन् १८६१ को कलकत्ते में उत्पन्न हुए थे। इन्हें बचपन से ही कविता करने में रुचि थी। इनकी अधिकांश शिक्षा घर पर ही हुई थी। टैगोर की कविता का आदर उन्हें सन् १९१३ में उनकी 'गीताञ्जली' पर नोबल पुरस्कार देकर किया गया। टैगोर कवि के साथ-साथ उच्च कोटि के दार्शनिक, नाट्यकार, चित्रकार तथा शिक्षा-शास्त्री भी थे। अपनी लेखनी के द्वारा, उन्होंने न केवल बँगला साहित्य को धनी बनाया वरन् अंग्रेजी साहित्य का भंडार भी भरा। कवि तथा शिक्षा-शास्त्री आदि के अतिरिक्त टैगोर मानवता के उच्च कोटि के सन्त भी थे। मानव से प्रेम उनका धर्म था। उन्हें भारतीय परम्परा के अनुकूल आश्रम-पद्धति बड़ी प्रिय थी। इसी उद्देश्य से उन्होंने शान्ति-निकेतन में लगभग ४० वर्ष की आयु में एक शाला की स्थापना की थी। उन्होंने 'My School' नामक रचना में अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया है। उनका कथन था कि यदि हम अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को भलीभाँति समझते हैं तो हमें ऐसी व्यवस्था करना चाहिए कि हमारी शालाएँ घर का काम दे सकें। पढ़ाई के साथ शिक्षा की रीतियों को भी आनन्द से सकें। इस प्रकार शिक्षकों का काम 'विषयों का ज्ञान देना तथा बालकों के हृदयों को सुधारना' दोनों है।

केवल पाठ्य पुस्तकें पढ़ना ही शिक्षा नहीं है। अग्नि, वायु, जल तथा मिट्टी आदि से बने हुए जगत् को ध्यानपूर्वक देखना, उसके महत्त्व को समझना ही वास्तविक शिक्षा है।

'सभी वस्तुओं में साम्य' (harmony) टैगोर-दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। इस साम्य के उन्होंने तीन रूप माने हैं—(१) प्रकृति से साम्य, (२) मानवी वातावरण से साम्य तथा (३) विश्व से साम्य। अतः टैगोर की दृष्टि में सच्ची

शिक्षा वही है जो व्यक्ति के जीवन का सृष्टि की सभी वस्तुओं से साम्य स्थापित करे। उन्होंने बचपन से ही शाला को छोड़ दिया था तथा उसी समय से वे तत्कालीन शिक्षण-विधि के विरुद्ध हो गए थे, क्योंकि उन्होंने देखा कि उस समय की शिक्षा सृष्टि की वस्तुओं से साम्य स्थापित करने में सहायक नहीं होती थी। टैगोर की दृष्टि से शैक्षणिक संस्था का प्रमुख उद्देश्य बालक की संसार तथा जीवन से एकस्वरता या समता स्थापित करना होना चाहिए। टैगोर ने अपनी बोलपुर की शाला में इस उद्देश्य की पूर्ति की। इसी शाला ने आज विकसित होकर विश्वभारती का रूप धारण कर लिया है।

हम टैगोर के शिक्षा-दर्शन में तीन प्रमुख तत्त्व पाते हैं—(१) प्रकृतिवाद, (२) मानवतावाद तथा (३) विश्वबन्धुत्व।

प्रकृतिवाद

टैगोर मानव तथा प्रकृति में स्वाभाविक एकत्व का दर्शन करते हैं। इसीलिए वह चाहते हैं कि बालक की शिक्षा प्राकृतिक वातावरण में सम्पन्न होनी चाहिए। टैगोर का विश्वास है कि प्राकृतिक वातावरण में दी जानेवाली शिक्षा के द्वारा संसार से बालक का सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। प्रकृति के इस सामंजस्य तथा सम्पर्क से बालक उससे रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित कर सकता है। स्वच्छ आकाश, खुली वायु तथा फूल-पत्ते मानव के शरीर, मन और मस्तिष्क को उचित साँचे में ढालने तथा उन्हें शक्ति देने के लिए बड़े आवश्यक हैं। जीवन के संघर्ष में फँसने के पूर्व हमें प्रकृति से, जिसकी गोद में हम पैदा हुए हैं, खूब सम्पर्क स्थापित कर लेना चाहिए। माता के दूध की भाँति उसके अमृत-रस चूसकर उससे विशालता और अभय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने से ही हम सच्चे तथा पूर्ण मानव बन सकेंगे। टैगोर ने 'Religion of Man' में कहा है कि संसार के सम्पर्क में बालक अपनी इन्द्रियों की ताजगी ले आते हैं। यह उनके लिए प्रथम देन है। अतः हमें उन्हें ज्यों-का-त्यों ग्रहण करना चाहिए तथा उसमें अपना घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। यही कारण है कि टैगोर बालकों की इन्द्रियों को शहरी वातावरण से दूषित नहीं करना चाहते हैं। इसलिए उन्हें प्राचीन भारत की 'गुरुकुल प्रणाली' बड़ी प्रिय है। अपने प्रकृति-प्रेम के कारण वे 'राबिनसन क्रूसो' पुस्तक से बड़े प्रभावित हैं।

टैगोर को संस्था की अपेक्षा व्यक्ति में अधिक विश्वास है। इसीलिए वे शिक्षा में रूसो के समान व्यक्तिवाद को अच्छा समझते हैं। वे बालक को शिक्षण-विधि के बोझ से दूर ही रखना अच्छा समझते हैं। उन्हें शिक्षण-विधि पुस्तक तथा शिक्षक से व्यक्तिगत बालक अधिक प्रिय थे। उनका विश्वास था कि आत्म-प्रकाशन, आत्म-विकास, आत्म-मुक्ति (self-salvation) सभी व्यक्तिगत हैं तथा व्यक्ति अकेले अपने प्रयत्नों से इन्हें पा सकता है। इसलिए वे शिक्षा में व्यक्ति को सर्वोच्च तथा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

टैगोर के प्रकृतिवाद से सम्बन्धित उनका आध्यात्मवाद भी है। आध्यात्मवाद के विकास के लिए वे संगीत को उपयुक्त मानते थे। इसलिए वे जोरदार शब्दों में कहा करते थे कि प्राकृतिक वातावरण में बोलपुर में शाला स्थापित करते समय उनका उद्देश्य बालकों को आध्यात्मिक संस्कृति से परिचित कराना था।

मानवतावाद

टैगोर के लिए मानव ही सभी वस्तुओं के मूल्यांकन का माध्यम था। अपने जीवन में वे इसी सत्य को प्रतिपादित करते रहे। संसार के सम्बन्ध में उनकी कल्पना भी मानवतावादी है। उनका कथन था कि सभी गुण तथा मूल्य मानव के माध्यम से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। सत्य, शिव तथा सुन्दर को मानव ही अनुभव करता है। उनका कथन था कि जब हमारी दृष्टि मानव से, जो अनन्त है, जिसे हम सत्य के रूप में जानते हैं, सामंजस्य स्थापित करती है तभी सुन्दर की सृष्टि होती है। वे संसार को मानव संसार के रूप में मानते थे। टैगोर मानवता के सार्वलौकिक मन को भी मानते थे। यह सार्वलौकिक मन विभिन्न व्यक्तिगत मनों के परे है। टैगोर मानव को ईश्वर भी मानते थे। इसीलिए उनका कथन था कि ईश्वर अनन्त व्यक्ति है जो सभी मानवों में दिखाई देता है। उन्होंने कहा भी है कि ईश्वर वहीं है जहाँ मजदूर कड़ी भूमि गोड़ रहा है तथा रास्ता बनानेवाला पत्थर को गिट्टी तोड़ रहा है। टैगोर सभ्यता के विकास को वैज्ञानिक खोजों या आविष्कारों की अधिकता से न आँककर मानव को दिये जानेवाले मूल्य या महत्त्व से आँकना उपयुक्त समझते थे। मानव के प्रति इस प्रेम ने ही उन्हें बोलपुर में शाला स्थापित करने के लिए प्रेरित किया।

वे अपने जीवन-भर पूर्व तथा पश्चिम के वैषम्य को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहे। वह चाहते थे कि पूर्व की अच्छाई पश्चिम वालों को मिले तथा पूर्ववाले पश्चिम की अच्छाई को ग्रहण करें। उनका विश्वास था कि संसार की समस्याएँ विश्व के सभी भागों के मेल से ही सुलझाई जा सकती हैं। अपनी विश्वभारती में भी उन्होंने इस मेल के प्रयत्न किये। इसीलिए विश्वभारती में जाति, धर्म, रंग, लिंग आदि का कोई भेद-मात्र नहीं पाया जाता।

टैगोर आदर्शवादी

टैगोर का दर्शन तथा शिक्षा-सम्बन्धी विचार आदर्शवादी थे। वे सृष्टि की एकता की प्राप्ति ईश्वर के माध्यम से उपलब्ध करना चाहते थे। जब वे कहते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण सृष्टि से साम्य स्थापित करना है तब वे सच्चे आदर्शवादी बन जाते हैं। टैगोर के लिए शिक्षा प्रेम तथा सार्वलौकिकता-प्राप्ति के लिए सनातन खोज थी। इसीलिए उन्होंने अपनी संस्था का नाम 'विश्वभारती' रखा था।

पर टैगोर का आदर्शवाद शिक्षा तथा समाज को भुला देनेवाला नहीं था। वह चाहते थे कि शिक्षा का सम्बन्ध मानव-जीवन से अवश्य होना चाहिए।

शिक्षा जीवन से सम्बन्धित

इसीलिए उन्होंने कहा था कि 'हमारी संस्कृति का केन्द्र-बिन्दु केवल भारतीय बौद्धिक जीवन का केन्द्र ही नहीं होना चाहिए वरन् उसके आर्थिक जीवन का केन्द्र भी होना चाहिए।' यहाँ हम टैगोर के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों में प्रयोग-वादी दृष्टिकोण पाते हैं।

बालक पूर्ण जीवन व्यतीत करे

टैगोर का विश्वास था कि मानव का इस सृष्टि से सम्पर्क स्वाभाविक रूप से सरल रूप से सम्पर्क है। जन्म से ही उसे दूसरों की सहायता तथा सद्भावना प्राप्त होती है। बाद में ही वह दूसरों के साथ अपने सम्बन्धों में सन्देह करता है। पर अपने जीवन के सत्य की प्राप्ति के लिए उसे प्रेम से सृष्टि से साम्य स्थापित करना पड़ता है। इसीलिए टैगोर चाहते हैं कि बालक को अपने जीवन-काल में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए। उनका विश्वास भी था कि बालक

को अपने जीवन को पूर्णतः तथा स्वतंत्रता से व्यतीत करने की चाह भी रहती है। इसीलिए टैगोर ऐसी वर्तमान शालाओं के, जो बालक को प्राकृतिक वातावरण से दूर करके सभ्य समाज के अस्वाभाविक वातावरण में रख करके शिक्षा देती हैं, बड़े विरुद्ध थे। इससे बालक के व्यक्तित्व का हनन होता है तथा मशीन के समान एक-सी वस्तुएँ ही उत्पन्न होती हैं।

टैगोर को औसत बालक में विश्वास न था। वे प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व को भिन्न-भिन्न मानते थे तथा चाहते थे कि प्रत्येक बालक का अलग-अलग अवश्य ध्यान रखा जाये। उनका कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य

बालक विभिन्न तथा पूर्ण स्वतंत्र

केवल ज्ञान देना ही नहीं है क्योंकि ज्ञान मनुष्य को शक्तिशाली अवश्य बना देता है पर वह उसे पूर्ण मानव नहीं बना सकता। उनका विश्वास था कि आधुनिक शालाएँ बालकों को ज्ञान देने के उत्साह में यह भूल रही हैं कि उन्हें (बालकों को) पूर्ण व्यक्ति कैसे बनाया जाये। उनका विचार था कि सद्भावना के द्वारा ही बालक पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। टैगोर सम्पूर्ण सृष्टि से साम्य स्थापित करने को ही सद्भावना मानते थे। इसीलिए उनके अनुसार सच्ची शिक्षा वही है जो न केवल ज्ञान बढ़ाती है वरन् जो व्यक्ति का सम्पूर्ण सृष्टि से साम्य स्थापित करती है। इस दृष्टि से टैगोर सद्भावना की शिक्षा को आवश्यक मानते थे।

टैगोर बालक को पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। वे चाहते थे कि बालक को किसी बात को आदत ही न डाली जाये। उसे प्रकृति से दूर भी न किया जाये। बालक प्रकृति-प्रेम से ही ज्ञान की प्राप्ति करे। विलास की वस्तुएँ बालक के लिए बोझ हैं अतः शिक्षा में भी इनका कोई स्थान नहीं होना चाहिए। वे बालक की स्वतन्त्र स्वयं-क्रियाओं के पक्ष में थे, क्योंकि इनसे उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास होता है।

टैगोर का कथन था कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य का एकत्व प्रदान कराना है। यह एकत्व बौद्धिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक जीवन के सह-सम्बन्धों को प्रदर्शित करके प्राप्त कराया जा सकता है। टैगोर आध्या-

सत्य का एकत्व

त्मिक संसार में विश्वास रखते थे तथा उनका कहना था कि शालाओं में प्रारम्भ से ही इसको उत्तेजना दी

भुलाया जाता है। अतः बालक को आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करके तथा धार्मिक शिक्षक के द्वारा इसकी प्राप्ति करनी चाहिए। इस प्रकार टैगोर शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सम्पूर्ण विकास तथा आत्मा की स्वतंत्रता मानते थे। हमारे देश की आश्रम-पद्धति ने इस धर्म की पूर्ति की। देश में अभी भी यह विद्यमान है तथा इसकी प्राप्ति करना हमारी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

शिक्षा स्वाभाविक होनी चाहिए

टैगोर का विश्वास था कि बालक का अचेतन मन चेतन की अपेक्षा अधिक सक्रिय रहता है। बालक अचेतन मन से बहुत अधिक सीखते हैं। अतः बालकों को अचेतन मन से अच्छी बातें सीखने की प्रेरणा देने के लिए वातावरण अच्छा तथा शिक्षाप्रद होना चाहिए। उन्हें पुस्तकों से सीखने के लिए भी जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। उन्हें स्वाभाविक वातावरण में ही सीखने की प्रेरणा देनी चाहिए। रूसो के समान टैगोर भी विश्वास करते थे कि पुस्तकें बालक तथा सृष्टि के बीच में बाधक बनती हैं। अतः टैगोर चाहते थे कि बचपन में बालकों को सीधे व्यक्ति तथा वस्तुओं से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। वे इस पर इतना विश्वास करते थे कि उन्होंने अपनी शाला में विचारों का वातावरण ही तैयार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं शाला को अपना घर बनाया तथा वहाँ रहे। उनकी बाद की कविताएँ वहीं लिखी गईं तथा वहीं नाटक लिखे तथा खेले भी गए।

मन की स्वतंत्रता

टैगोर के अनुसार मन की स्वतंत्रता शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। यह मन की स्वतंत्रता स्वतंत्रता से ही प्राप्त हो सकती है। मन की स्वतंत्रता के लिए व्यक्तिगत प्रेम आवश्यक है। बालकों से प्रेम रखकर ही शिक्षक बालकों को मन की स्वतंत्रता प्राप्त करा सकता है।

शिक्षक कैसे हों ?

टैगोर का कथन था कि शिक्षक में जितनी योग्यता होगी उससे अधिक वह बालकों को न दे सकेगा। पर आज जिस योग्यता से शिक्षक कार्य कर रहा है उससे अधिक वेग तथा योग्यता से भी देश उससे काम ले सकता है। केवल आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक से उचित विधियों से काम लिया जाये तथा उसे उचित प्रेरणा

दी जाये। जैसे घड़े का लाभ प्रयोग करने की रीति के अनुसार कम या अधिक होता है, उसी प्रकार शिक्षक से लाभ भी कम या अधिक होना उसके उपयोग पर निर्भर है। आजकल शिक्षक का उपयोग इस प्रकार होता है कि उनके मन तथा मस्तिष्क का बहुत थोड़ा भाग कार्यान्वित होता है। आज शिक्षक कल या मशीन की तरह काम करते हैं। ग्रामोफोन मशीन के साथ यदि हम एक छड़ी तथा थोड़ा-सा मस्तिष्क और जोड़ दें तो यह शिक्षक का काम कर सकेगी। पर शिक्षक का काम केवल यहीं तक तो सीमित नहीं है। यदि उसे वास्तव में हमारी प्राचीन परम्परा के अनुसार गुरु बनना है तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा योग्यता को स्वाभाविक रूप से बालकों की ओर दौड़ाना आवश्यक है।

आजकल बात कुछ उल्टी हो रही है। बालक शिक्षक के पास न आकर शिक्षक ही बालक के पास जाते हैं। इस प्रकार शिक्षक एक व्यापारी बन गया है तथा शिक्षा देना और विद्या पढ़ाना उसका व्यवसाय बन गया है। फलस्वरूप गुरु और शिष्य का पहिले के समान सम्बन्ध नहीं रहा है। शिक्षकों को तो यह समझना चाहिए कि वे गुरु के आसन पर बैठे हैं तथा उन्हें अपने जीवन द्वारा अपने बच्चों में जीवात्मा फूँकनी है। अपने ज्ञान द्वारा उनके हृदय में ज्ञान और विद्या की ज्योति जगानी है—अपने प्रेम द्वारा बालकों का उद्धार करना है, उनके अमूल्य जीवन का सुधार करना है। ऐसा होने पर ही शिक्षक सच्चे रूप में स्वाभिमान के अधिकारी बन सकते हैं। तभी वे ऐसी वस्तुएँ बालकों को दे सकेंगे जो बेची तथा खरीदी नहीं जा सकती हैं—जो किसी भी मूल्य में प्राप्त नहीं की जा सकती हैं। ऐसी परिस्थिति में शिक्षक धर्म के विधान और प्राकृतिक नियमानुसार पूज्य तथा सम्मान के पात्र बन सकेंगे।

विनोबाजी का शिक्षा-दर्शन

विनोबाजी का जन्म महाराष्ट्र की वीरभूमि में गागोदा में ११ सितम्बर १८९५ को हुआ था। सन् १९०१ में कुल की परम्परा के अनुसार इनका यज्ञोपवीत हुआ। विनोबाजी पर उनकी माँ का प्रभाव बहुत अधिक था। विनोबाजी के जीवन में अच्छे-अच्छे संस्कार डालने का श्रेय उनकी माँ को ही है। उच्च संस्कारों का जीवन में बड़ा महत्त्व है। वे जितने अधिक होते हैं, जीवन उतना ही सतेज बनता है। विनोबाजी इसीलिए जीवन को 'संस्कार-संचय' ही मानते हैं। विनोबाजी को हरिजन-प्रेम, ब्रह्मचर्य का महत्त्व आदि उनकी माँ की प्रेरणा से ही प्राप्त हुए। ९ वर्ष की आयु में विनोबाजी पढ़ने के लिए बड़ौदा आये। वे बचपन से ही पढ़ने में तेज तथा गणित में बहुत होशियार थे। वे कक्षा में हमेशा प्रथम आते थे। बचपन से ही उन्हें घूमने तथा बोलने का बड़ा शौक रहा है। बुरी आदतों से तो उन्हें स्वभावतः बड़ी घृणा रही है। इनके घर का वातावरण राष्ट्रीय था। अध्ययन में उनकी बचपन से ही रुचि थी।

विनोबाजी का विद्यार्थी जीवन बड़ा कठोर तथा सती था। वे जमीन पर चटाई पर सोते, पैरों में जूते नहीं पहिनते और मीठी चीजें नहीं खाते थे। हाईस्कूल परीक्षा पास करके वे कालेज में भरती हुए। अब उनके विचारों में गहराई आने लगी थी, पर स्वभाव अभी भी बहुत तेज था। इस आयु में राष्ट्रीयता तथा आध्यात्मिक चेतना बड़ी तेजी से विकसित होने लगी। अपने साथियों में राष्ट्रीय चेतना भरने के लिए सन् १९१४ में उन्होंने 'विद्यार्थी मण्डल' स्थापित किया। इसमें प्रति सप्ताह किसी न किसी विद्यार्थी का भाषण होता था। इसके सभी सदस्य क्रान्तिकारी विचारों के थे। 'विद्यार्थी मण्डल' में विनोबाजी के भाषण गम्भीर, आवेश-सहित तथा उच्च कोटि के होते थे।

विनोबाजी को उनके राष्ट्र भक्ति के विचार देश भक्ति की ओर ले जा रहे

थे तथा उनका दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन वैराग्य की ओर। पर आध्यात्मिकता की ओर उनका झुकाव अधिक था। एक दिन जब वे इंटर में पढ़ रहे थे उन्होंने अपने सभी सार्टिफिकेट घर के चूल्हे में जला दिये। माँ ने पूछा तो कहा कि जब नौकरी करना ही नहीं है तब इनकी क्या जरूरत? इसी वर्ष जब वे इन्टर की परीक्षा देने बम्बई जा रहे थे तब रास्ते में ही उतर पड़े तथा सूरत से बनारस चले गये। घर उन्होंने पिताजी को पत्र लिखा कि मैं बम्बई परीक्षा देने न जाकर और कहीं जा रहा हूँ। आपको यह तो विश्वास है ही कि मैं चाहे कहीं जाऊँ, मेरे हाथ से कोई अनैतिक बात नहीं होगी। यह १९१६ की बात है। बनारस से इस प्रकार विनोबाजी की साधना का जीवन प्रारम्भ हुआ। इन्हीं दिनों वे हिमालय-दर्शन के लिए भी गये। उन्होंने दाढ़ी बढ़ा ली थी तथा वस्त्र भी कम-से-कम रखते थे। जब विनोबाजी काशी में थे तब हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्घाटन हुआ। इसी समय इन्होंने महात्मा गाँधी का ओजस्वी तथा प्रभावशाली भाषण सुना। इसका विनोबाजी पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी समय उन्होंने गाँधीजी को एक पत्र लिखा तथा कुछ शंकाओं का समाधान करने की प्रार्थना की। कुछ दिनों के बाद इन्हें गाँधीजी का पत्र मिला, जिसमें उन्हें आश्रम में आकर सन्तुष्टि करने की बात लिखी थी। विनोबाजी अहमदाबाद गाँधीजी के आश्रम में आ गए। यहाँ आकर उनके जीवन की दिशा पूर्ण रीति से स्पष्ट हो गई।

आश्रम में वे एक साधक, तपस्वी की भाँति रहते। उन्हें जो काम मिलता करते। विनोबाजी ने केवल कठोर परिश्रम ही नहीं किया बल्कि एक क्रान्तिकारी विचार भी दिया। वह है, कोई काम छोटा नहीं है। पाखाना उठाना भी पवित्र कार्य है। यह विचार विनोबाजी ने ही दिया।

आश्रम तथा छात्रावास में काम करते-करते उन्होंने अनुभव किया कि शिक्षकों को यह प्रतीति होनी चाहिए कि वे सजीव देवताओं की ही सेवा कर रहे हैं। उन्होंने शिक्षकों की डाँट-फटकार की प्रणाली की भूल का अनुभव किया। वे चाहते थे कि शिक्षकों को अपने हाथ से गन्दे बालकों के हाथ-पैर भी धोना चाहिए, फटे कपड़े सी देना चाहिए तथा उनसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। वह स्वयं ऐसा व्यवहार करने लगे। बालकों के विकास पर इसका

अच्छा प्रभाव पड़ा। शिक्षा के सम्बन्ध में ये विचार उनके मन में गूँजते रहे तथा आगे चलकर गाँधीजी की जब नई तालीम चली तो इन्होंने उसमें गाँधीजी की बड़ी सहायता की। आज तो विनोबाजी नई तालीम के सबसे बड़े आचार्य माने जाते हैं। इस प्रणाली में उन्होंने एक बड़ी भारी क्रान्ति कर दी है। 'सर्वोदय अर्थात् सभी का उदय' करना नई तालीम का ध्येय है। यह विचार विनोबाजी का ही दिया हुआ है।

बुनियादी शिक्षा या नई तालीम में रचनात्मक कार्यों का महत्वपूर्ण स्थान है। विनोबाजी ने अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा तथा स्वयं अध्यापन कार्य करके बुनियादी शिक्षा को मूर्त रूप देने में बड़ी सहायता की है। स्वयं गाँधीजी ने इनके सम्बन्ध में लिखा है 'स्वभाव से ही शिक्षक होने के कारण उन्होंने (विनोबाजी) श्रीमती आशादेवी को दस्तकारी के द्वारा बुनियादी तालीम की योजना का विकास करने में बहुत योग दिया है।' विनोबाजी ने कताई को बुनियादी दस्तकारी मानकर 'मूल उद्योग कताई' नामक मौलिक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसके सम्बन्ध में गाँधीजी ने लिखा है कि 'इस पुस्तक के द्वारा उन्होंने हँसी उड़ाने वालों को यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी दस्तकारी है जिसका उपयोग बुनियादी तालीम में बखूबी किया जा सकता है।' वास्तव में विनोबाजी ने बुनियादी शिक्षा के द्वारा बालकों की शिक्षा को सही दिशा दिखाई है।

जीवन ही शिक्षा

'जीवन और शिक्षण' तथा 'शिक्षण विचार' पुस्तकों में विनोबाजी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का संग्रह है। इनमें शिक्षा को जीवन ही माना है। वे जीवन और शिक्षा को अलग-अलग नहीं मानते। जीवन और शिक्षा के अलग-अलग होने से ही शिक्षा के बाद बालक गृहस्थी, घर और समाज की जिम्मेदारी ठीक से नहीं निभा पाते हैं। विनोबाजी का कथन है कि विचारों का जीवन से नाता टूट जाने पर विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य हो जाता है। मनुष्य घर में जीता है और मदरसे में विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचार का मेल नहीं बैठता। इसका उपाय सुझाते हुए उन्होंने कहा है कि एक ओर से घर में मदरसे का प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओर से मदरसे में घर घुसना चाहिए। इस प्रकार कौटुम्बिक पाठशाला स्थापित की जानी चाहिए।

शाला के कौटुम्बिक जीवन के उन्होंने निम्न कार्य माने हैं :

ईश्वर-निष्ठा सार वस्तु है अतः दोनों वक्त प्रार्थना, सात्विक आहार, स्वयं रसोई बनाकर खाना, छुआछूत न मानना तथा पाखाना स्वयं उठाना, अछूतों को भी शाला में प्रवेश देना, स्नानादि सुबह ठण्डे ही पानी से करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, 'साथ कर्म' करना, उद्योग को शिक्षा का आधार मानना, नियमित व्यायाम करना, नियमित कताई करना, खादी पहिनना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना, रात-जागरण केवल सेवा के लिए ही करना, रात्रि-भोजन का त्याग करना, आदि।

शिक्षक

विनोबाजी शिक्षक को आचार्य मानते हैं। आचार्य का अर्थ होता है आचार-वान अर्थात् स्वयं आदर्श जीवन का आचरण करते हुए राष्ट्र में उसका आचरण करानेवाला ही आचार्य है। ऐसे आचार्यों के पुरुषार्थ से ही राष्ट्र का निर्माण हुआ है। विनोबाजी का विचार है कि शिक्षकों में अग्नि में मानी जाने वाली दोनों शक्तियाँ 'स्वधा' तथा 'स्वाहा' होना चाहिए। 'स्वधा' का अर्थ होता है आत्म-धारण तथा 'स्वाहा' का अर्थ आत्म-आहुति या आत्माहुति या आत्मत्याग। विनोबाजी का विचार है कि बिना 'स्वधा' के अर्थात् आत्मा की शक्ति के अन्य त्याग सम्भव नहीं है। अतः शिक्षक को पवित्र आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाला स्वधा और स्वाहा की शक्तियों से पूर्ण होना चाहिए। तभी वह सच्चा आचार्य बनकर राष्ट्र-कल्याण कर सकेगा।

शिक्षा का आधार

विनोबाजी जीवन तथा उद्योग को शिक्षा का आधार मानते हैं। उनका कथन है कि सच्चा शिक्षण शाला के बाहर ही होता है। शिक्षा जीवन-पर्यन्त अर्थात् जन्म से लेकर मृत्यु तक चलनेवाली प्रक्रिया है। वह उद्योग + शिक्षा के पक्ष में नहीं हैं। वह तो उद्योग = शिक्षा को उपयुक्त समझते हैं। सच्ची शिक्षा से वह विनय, धैर्य तथा ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होने की अपेक्षा करते हैं।

शिक्षण-पद्धति

शिक्षण के लिए वह समवायी पद्धति को उपयोगी तथा प्रभावी मानते हैं। वह

उद्योग को शिक्षा का साधन ही नहीं वरन् अविभाज्य अंग मानते हैं। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में उनका विचार है कि इससे बालक के एक अंग—बुद्धि की ओर ही ध्यान दिया जाता है। यह उसका विकास न करके विलास करना है। उनका मिट्टी का प्रसिद्ध उदाहरण तो अद्वितीय है। उनका कथन है कि :

'घड़ा और मिट्टी एक है या दो ? अगर आप 'दो' कहेंगे तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए और अपना घड़ा ले जाइए। घड़ा और मिट्टी 'एक' है, ऐसा अगर आप कहेंगे, तो वह मिट्टी का ढेर पड़ा है, भरिए पानी। मिट्टी और घड़े को समवाय कहते हैं। वर्धा-पद्धति को मैंने समवाय पद्धति नाम दिया है, क्योंकि इस पद्धति में उद्योग और शिक्षण का इस तरह का समवाय गृहीत है।

'बच्चों के सारे शिक्षण की रचना किसी एक मूल-उद्योग पर खड़ी की जावे। उद्योग से शिक्षण को गरमाहट मिले और शिक्षण से उद्योग पर प्रकाश डाला जावे। इसका नाम है 'समवाय पद्धति'।'

छुट्टियाँ, दण्ड आदि

विनोबाजी शालाओं में आये दिन छुट्टियों के दिये जाने के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि छुट्टियों को रेवड़ी-सी बाँटी जाती है। यह ठीक नहीं। वह शिक्षकों के काम के घण्टे भी ठीक रखने के पक्ष में हैं। वह चाहते हैं कि शिक्षक कम-से-कम १८ घण्टे हफ्ते में पढ़ाय तथा ४० या ५० हफ्तों से अधिक लगातार शिक्षण न किया जाये। वह छुट्टियों को स्थानीय आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों के अनुसार रखने के पक्ष में हैं।

वह बालकों को दण्ड देने के बिल्कुल विरुद्ध हैं। वह उन्हें बड़े स्नेह से शिक्षा देना आवश्यक मानते हैं।

परीक्षा-पद्धति

वर्तमान परीक्षा-पद्धति को वे दूषित बतलाते हैं तथा परीक्षा में निरीक्षकों की कड़ी देख-रेख की व्यवस्था से बालकों को चोरों के समान देखना अनुपयुक्त समझते हैं। वे गुण विकास तथा मन का सुधार करके उचित मनोवृत्ति लाने के पक्ष में हैं। ऐसा करने से फिर देख-रेख तथा निगरानी आवश्यक न होगी। वे लेखा-रटन्त के भी बिल्कुल विरुद्ध हैं।

मूलोद्योग अभ्यास

'समवायी पद्धति' में उद्योग द्वारा ज्ञान दिया जाता है। अतः उद्योग का उचित अभ्यास, इतना कि जिससे शारीरिक विकास हो सके, आवश्यक है। कचरे का उचित उपयोग, सौन्दर्य भावना, सामूहिक भावना, साधर्म्य-वैधर्म्य प्रक्रिया, शास्त्रीय बुद्धि, परिश्रम, निष्ठा, सातत्य-योग का अभ्यास आदि की ओर भी उद्योग-शिक्षण में ध्यान दिया जाना चाहिए। मूलोद्योग के चुनाव के सम्बन्ध में उनका विचार है कि वह पूर्णतः हमारी संस्कृति से मेल खाता हुआ अहिंसाधिष्ठित होना चाहिए।

बुनियादी शिक्षा का तत्त्व तथा आदर्श

विनोबाजी का कथन है कि 'अगर कोई पूछे कि बच्चों की तालीम का तत्त्व क्या है, तो थोड़े में मैं यही कहूँगा कि तालीम देनेवाले शिक्षकों को बच्चे बनना है और तालीम लेनेवाले बच्चों को बड़े बनना है। शिक्षक अगर बच्चा नहीं बन सकता, तो वह तालीम नहीं दे रहा है और बच्चा अगर बड़ा नहीं बनता तो वह तालीम नहीं पा रहा है, यही समझना चाहिए।'

विनोबाजी का कथन है कि नई तालीम इतनी व्यापक है कि उसमें भारत की सेवा हरएक प्रकार आ जाती है। वे इसे स्वाश्रयी मानते हैं। वह शिक्षा में केवल थोड़े हेर-फेर को बुनियादी शिक्षा नहीं मानते। नई तालीम को वह 'सर्वोदयी समाज रचना करनेवाली, भूदान-यज्ञ-मूलक, ग्रामोद्योग-प्रधान अहिंसक क्रान्ति' मानते हैं। इसके लिए वह जन-सम्पर्क अति आवश्यक समझते हैं।

बुनियादी शाला

विनोबाजी का विचार है कि हमारी शालाएँ हमारे समाज तथा संस्कृति का प्रतीक होनी चाहिए। आज की शालाओं की स्थिति ठीक नहीं है। हमारे रसोईघरों का हमारी प्रयोगशालाएँ बन जाना चाहिए। बुनियादी शालाओं में मल-मूत्र की सफाई, उसका समुचित ज्ञान और उपयोग सिखाया जाना चाहिए। इन्हें आरोग्य-ज्ञान से पूर्ण, खादी-विद्या का केन्द्र, सच्ची ज्ञान-दृष्टि देनेवाली, उद्योग में विज्ञान, आसपास की वस्तुओं को परखने की विज्ञान-शक्ति तथा अध्यात्म ज्ञान या आत्म-ज्ञान देनेवाली होना चाहिए। हमारी शाला में होने-

वाला हर काम हमारे ज्ञान का साधन बनना आवश्यक है। इसके लिए शाला को अच्छी तरह सजाना तथा उसमें अच्छे साधन जुटाना आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा से सम्बन्धित प्रायः प्रत्येक बात के सम्बन्ध में उन्होंने अपने निश्चित व्यावहारिक मत दिये हैं। इन सुझावों के अनुसार ही हम अपनी बुनियादी शिक्षा को सर्वोदयी समाज की रचना करने योग्य बना सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आज विनोबा हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक सभी प्रकार के जीवन की बहुत बड़ी शक्ति हैं। गाँधीजी के समान वह जिस ओर पैर बढ़ा देते हैं, उधर करोड़ों पैर उनके पीछे चलने के लिए उठ खड़े होते हैं। उनकी जिस ओर दृष्टि पड़ती है, उधर करोड़ों आँखें देखने लगती हैं। उनकी ईश्वर पर अनन्त श्रद्धा, सामाजिक शान्ति के पूर्व मानव मन में शान्ति लाने की बलवती आकांक्षा, ज्ञान और तप का अपार वैभव, निष्पक्ष, निष्काम भाव से विचार करने की शक्ति अन्यत्र खोजने से भी नहीं मिल सकती है। इसीलिए उन्हें युगपुरुष कहा जाता है। वास्तव में उन्होंने गाँधीवादी क्षीण होती हुई आवाज को और बुलन्द बना दिया है। विनोबा हृदय-परिवर्तन चाहते हैं। वह लोक-मानस ही बदलना चाहते हैं। वह गरीब और अमीर दोनों के हृदय-परिवर्तन द्वारा सर्वोदयी समाज लाना चाहते हैं।